अर्चना और आलोक

प्रवचन

महासती उमराव कुंवर जी 'अर्चना'
'सिद्धान्ताचार्य'

सम्पादन

श्री कमला जैन 'जीजी' एम. ए.

प्रकाशक

श्री वर्धमान श्वे० स्थानकवासी जैन श्रावक संघ,
विजयनगर (अजमेर)

पुस्तक :

अर्चना और आलोक

पृष्ठ : ४०४

विषय :

अध्यात्म एव नीति-प्रेरक
जीवनस्पर्शी - प्रवचन

प्रवचनकर्त्री

महासती उमराव कुंवर जी 'अर्चना'

सम्पादिका

श्री कमला जैन 'जीजी' एम. ए

प्राप्ति स्थल

श्री अमरचन्द जी मोदी
पीपलिया बाजार,
व्यावर (राजस्थान)

*

केवलचन्दजी ज्ञानचन्दजी सोमावत
ढाबा की गली
व्यावर (राजस्थान)

मुद्रण व्यवस्था ·

निर्देशन श्रीचन्द सुराना 'सरस'

मुद्रक · राज प्रिण्टर्स,
राजामण्डी, आगरा-२

प्रथम प्रकाशन

१४ नवम्बर १९७०

(कार्तिक पूर्णिमा)

मूल्य पांच रुपए मात्र

समर्पण

जिनके मगलमय आशीर्वाद ने
मेरे जीवन-पथ मे
सदैव सफलता के पुष्प बिछाए,
जिनकी सद्‌शिक्षाओ ने
मेरे मानस-लोक को
नित-नूतन आलोक दिया,
उन
साधना-पथ के सजग पथिक
परम श्रद्धेय गुरुदेव
श्री व्रजलाल जी महाराज
के
पुनीत चरणो मे ;

—'अर्चना'

प्रास्ताविक



वचन और प्रवचन—पुराकाल से दो शब्द चले आ रहे हैं। वचन का अर्थ है—साधारण रूप मे कही हुई बात, उक्ति। और प्रवचन का अर्थ है - विशिष्ट प्रकार का कथन।

जिस वचन के पीछे लोकहित की भावना, जीवन निर्माण की प्रेरणा तथा उद्बोधन एव जागरण का उद्घोष रहता है, वह वचन प्रवचन की श्रेणी मे आ जाता है। भगवान् महावीर की पवित्र वाणी इन्ही उद्देश्यो से प्रेरित थी, इसलिये उस वाणी को 'प्रवचन' कहा गया—"**भगवया पावयण सु कहिय।**"

संसार के सतो, महापुरुषो एव मनीषियो की वाणी भी, जोकि जीवन-निर्माण, एवं लोक-कल्याण की पवित्र प्रेरणा लिए होती है, 'प्रवचन' कहलाती है। इस प्रकार के 'प्रवचन' मानवीयचिन्तन एवं आदर्शों की अपूर्व थाती होती है। उसका शब्द शरीर युग-सापेक्ष होते हुए भी आत्मा युगातीत होती है। वे चिरन्तन सत्य तरगित करते हैं, इसलिए शताब्दियाँ बीत जाने पर भी उनको पुरानापन या जडता नही घेर सकती। उन प्रवचनो मे चिरकालिक स्फूर्ति एवं ताजगी भरी होती है।

चर अतीत से वर्तमान तक प्रवचनो की परम्परा धारा प्रवाहित होती आ रही है। सत्य की शाश्वत आत्मा प्रवचनो के माध्यम से समय-समय पर युगीन परिवेशमे प्रस्फुरित होती रही है। अजर, अमर, अक्षर भाव ज्योति वर्तमान की भाषा, शैली और समस्याओ का रूप ग्रहण करती रहती है।

वर्तमान मे प्रवचन साहित्य का प्रकाशन काफी तीव्र गति से हो रहा है। किन्तु मैं देखता हूँ कि उन प्रवचनो मे जो अर्थ की गभीरता, चिन्तन की उर्वरता, दृष्टि की व्यापकता जितनी अपेक्षित है, वह नही आ रही है। इसके लिए आवश्यक है कि

प्रवचनकार स्वय गम्भीर अध्ययन करे। दृष्टि को व्यापक बनाएँ और चितनशील बने। प्रवचनों मे भाषा और कथावस्तु का जितना विस्तार किया जाता है, तदनुसार भावो की गहराई भी आनी चाहिए तभी प्रवचनो मे कुछ नवीनता, कुछ तेजस्विता और हृदय को छू जाने को चमत्कारिता पैदा हो सकती है।

प्रस्तुत पुस्तक 'अर्चना और आलोक' मे महासती उमराव कुँवर जी के प्रवचन सकलित किये गये हैं। महासती जी स्थानकवासी समाज की एक सुख्यात विदुषी विचारक साध्वी हैं। उनके विचारों मे उदारता, चितन मे नया उन्मेष एव शैली में सजीवता है। महासती जी ने राजस्थान, पजाव, हिमाचल प्रदेश एव काश्मीर तक के सुदूर प्रदेशों की पद यात्राएँ को है। इसलिये उनके विचारो मे विशालता के साथ-साथ युगानुकूल साहस और उत्साह की प्रखर गूँज सुनाई देती है। देश-काल के साहित्य की प्रतिध्वनि भी कही-कही उनकी वाणी मे मुखर हुई है। कुल मिलाकर उनके प्रवचन जीवन-स्पर्शी एव नव निर्माण के प्रेरणा-स्रोत है। आधुनिक युवक मानस को विचारो की निर्मलता और कर्मठता की नई लहर देने मे समर्थ हैं—ऐसा मुझे लगा है। प्रवचनो की भाषा प्रवाहमयी है, साथ ही विषय-वस्तु को स्पष्ट करने वाली भी। सपादन की दृष्टि से इन्हे और भी सुन्दर, स्पष्ट एंव विचारोत्तेजक बनाया जा सकता था। छोटे-छोटे उपशीर्षक एवं विषय-वर्गीकरण के द्वारा इन्हे अधिक उपयोगी व आकर्षक वनाने का प्रयत्न भी होना चाहिए था। फिर भी सम्पादन का श्रम स्तुत्य है, सुन्दर है, मन को छू लेता है।

मैं आशा करता हूँ कि जन-समाज इन प्रवचनो से जीवनोपयोगी प्रेरणा ग्रहण करेगा। और महासती जी भविष्य मे इससे भी प्रौढ एवं स्फूर्त विचार सामग्री प्रस्तुत कर प्रवचन साहित्य के क्षेत्र मे कुछ नया कृतित्व स्थापित करेगी।

जैन भवन, **—उपाध्याय अमरमुनि**
लोहामण्डी, आगरा
२०–११–७०

प्रकाशकीय

विजयनगर श्री सघ का परम सौभाग्य है कि इस वर्ष यहाँ पर काश्मीर-प्रचारक, परमविदुषी महासती जी श्री उमराव कुँवर जी महाराज 'अर्चना' सिद्धान्ताचार्य, श्री उम्मेदकुँवर जी महाराज, शास्त्री, श्री कचनकुँवर जी महाराज 'प्रभाकर' एव सेवाभावी श्री सेवावन्ती जी महाराज का चातुर्मास हुआ है। आप श्रमणसंघीय स्व० प्रवर्तक तपोनिष्ठ गुरुदेव श्री हजारीमल जी महाराज की आज्ञानुवर्तिनी सती शिरोमणि श्री सरदारकुँवर जी महाराज की सुशिष्या हैं।

चार माह तक महासती श्री 'अर्चना' जी महाराज के अगाध पाडित्यपूर्ण, ओजस्वी तथा मर्मस्पर्शीप्रवचनामृत के पान का सुअवसर विजयनगर के लिये अभूतपूर्व तथा अनुपम साबित हुआ है। आपकी मधुर, सारगर्भित एव अद्‌भुत प्रवचन शैली तथा प्राञ्जल भाषा को विजयनगर की जनता कभी नही भुला सकती।

इसीलिये वर्षावास के पश्चात् आपके यहाँ से पधार जाने पर भी आपके प्रवचनो का लाभ उठाने के लिये हमारे संघ ने 'अचना और आलोक' प्रवचन सग्रह् प्रकाशित करने का निर्णय किया तथा प्रकाशनार्थ आगरा श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' की सेवा मे भेजा। इस सग्रह मे महासती जी म० सा० के विभिन्न स्थानो पर दिये गए प्रवचन सग्रहीत हैं।

प्रवचनो का सम्पादन जैन समाज के गणमान्य विद्वान् श्री शोभाचन्द्र जी सा० भारिल्ल की सुपुत्री महिलारत्न विदुषी श्री कमला जैन 'जीजी' एम० ए० ने किया है। आपने अपना अमूल्य समय देकर जो श्रम किया

तथा सम्पादन द्वारा पुस्तक को सुन्दर रूप दिया वह अविस्मरणीय है। आपकी लेखनी मे विषय को व्यवस्थित करने की अनूठी क्षमता है। सम्पादन के अतिरिक्त भी आप उपन्यास, कहानियाँ तथा कविताएँ समय-समय पर लिखा करती हैं।

यद्यपि 'अर्चना और आलोक' के प्रकाशन मे कुछ विलम्ब अवश्य हुआ है, फिर भी सतोष है कि चातुर्मास की समाप्ति के समय तक इसका प्रकाशन सम्पूर्ण होने जा रहा है।

प्रवचनो के लेखन मे किशनगढ संघ तथा दादियानिवासी श्री कानमलजी कोठारी का एव इनके सम्पादन मे अजमेर सघ का तथा बोलारम के प्रतिष्ठित नागरिक श्री जंवरीलाल जी सा० का सहयोग रहा है।

हमारा अहोभाग्य है कि इसके प्रकाशन का सुअवसर यहाँ के सघ को प्राप्त हुआ है। यह हमारे लिये परम प्रसन्नता का विषय है।

स्थानकवासी जैन समाज मे विजयनगर श्रावक सघ का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ पर स्वर्गीय परमश्रद्धेय महास्थविर पूज्य गुरुदेव श्री पन्नालाल जी महाराज सा० करीव ग्यारह वर्ष स्थिरवास विराजे। उनकी इस क्षेत्र पर असीम कृपा रही। धार्मिक एव सामाजिक क्षेत्र मे हमारी जो भी प्रगति हुई, वह स्वामी जो महाराज की सद्-प्रेरणा का ही सुफल है।

अत मे केवल इतना ही, कि जीवन का सर्वाङ्गीण विश्लेषण करने वाले महासती जी महाराज सा० के इन प्रवचनो का पठन और मनन करके प्रत्येक मानव अपना आत्मोत्थान करे तभी हमारा प्रयास सार्थक माना जा सकेगा।

—गुलाबचन्द चोरड़िया
मत्री
श्री व० श्वे० स्था० जैन श्रावक संघ
विजयनगर

सम्पादकीय

अत्यन्त हर्ष की बात है कि प्रस्तुत पुस्तक 'अर्चना और आलोक' आपके कर-कमलो मे पहुँच रही है। प्रकाण्ड पंडिता महासती जी श्री उमरावकुँवर जी 'अर्चना' का यह द्वितीय प्रवचन संग्रह है।

प्रथम संग्रह 'आम्र-मंजरी' के नाम से 'मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन' ब्यावर से प्रकाशित हुआ है। इसमे सूक्ष्म-चिंतन, अगाध पाण्डित्य एव अनिर्वचनीय माधुर्य से ओत-प्रोत विभिन्न विषयो पर दिये गए प्रवचन हैं, जिनकी जैन और जैनेतर सभी पाठको ने भूरि-भूरि प्रशसा की है।

महासती 'अर्चना' जी के विषय मे अधिक लिखने की आवश्यकता नही है, जिन्हे भी आपके प्रवचन श्रवण का सुअवसर मिला है, वे भली-भाँति जानते हैं कि आपके प्रवचनो मे कितना गाम्भीर्य, ओज एव मर्म को छूने की शक्ति है। निगूढ विषय को भी सहज बनाकर समझा देने की आपकी अद्भुत क्षमता श्रोताओ को मत्र-मुग्ध कर देती है। हृदय की विराटता एव दृष्टिकोण की विशालता ने ही आपको अनेकानेक कठिन परीषह सहकर भी जन-कल्याणार्थ पजाब, काश्मीर तथा हिमाचल प्रदेश आदि के दुर्गम पथो पर बढने की प्रेरणा दी। परिणाम स्वरूप आपके अनुभव-ज्ञान का भंडार भरता गया और उसमे की अमूल्य निधि हमे आपके प्रवचनो के द्वारा प्राप्त होती रहती है।

आज का जन मानस जीवन की अनेकानेक जटिल समस्याओ से आक्रान्त है। परिवार मे, समाज मे और राष्ट्र मे, सर्वत्र विग्रह, विद्रोह और कलह की भीषण वह्नि प्रज्ज्वलित हो रही है। जगत् विनाश के कगार पर खडा है। इसका प्रमुख कारण यही है कि मानव की भौतिक उन्नति तथा आध्यात्मिक अवनति, दोनो ही चरम सीमा पर पहुँच गई हैं। ऐसे विषम समय मे महासती जी के सम्प्रदायवाद के विष से रहित उदात्त और क्रातिकारी विचार निश्चय ही नव-निर्माण का कार्य करेंगे तथा अज्ञानान्धकार मे भटकते हुए दिग्मूढ मानव के पथ को आलोकित करते हुए उसका मार्ग-दर्शन करने मे सक्षम बनेंगे।

अजमेर के कारागृह में भयकर अपराधियो के मध्य मे जाना तथा उन्हें सदुपदेश देना आपके हृदय की अगाध करुणा का परिचायक है। आपका अन्तर्मन पुकार-पुकार कर कहता है कि ससार मे एक भी वन्दीगृह निर्मित न हो, एक भी व्यक्ति अपराध मे प्रवृत्त होकर हथकडियों मे न जकडा जाय। साथ ही अजमेर की ही सैनिक छावनी मे रणबाकुरे बहादुरो को साहस, शौर्य, कर्त्तव्यपरायणता एव सजगतापूर्वक मातृभूमि की रक्षा के लिये अनुपम प्रेरणा देते समय देश के गौरव के प्रति आपकी भव्य-भावना दृष्टिगोचर होती है।

मेरा सौभाग्य है कि मुझे महासती जी महाराज सा० के निकट सम्पर्क में रहने का तथा उनके प्रभावोत्पादक प्रवचनों को सुनने का काफी समय मिला है। चद-प्रवचनों मे आपके विचार-सागर का समावेश नही हो सकता, किन्तु, उसकी जितनी भी तरंगें मानस को स्पर्श करेंगी मन को विशुद्ध और परिष्कृत करने मे समर्थ होंगी। मुझे अतीव खुशी है कि विजयनगर के श्रद्धालु बधुओं ने भी इस सत्य का अनुभव किया है।

आपके प्रथम प्रवचन सग्रह 'आम्र-मंजरी' का सम्पादन मेरे द्वारा ही हुआ है तथा प्रस्तुत सग्रह 'अर्चना और आलोक' आपके हाथो मे है। इस बीच मैंने पडित रत्न श्रद्धेय मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज 'मधुकर' के प्रवचनो का भी सम्पादन किया है, जो 'अन्तर की ओर' नाम से दो भागो में प्रकाशित हुए हैं।

मेरे गिने-चुने प्रयासों को पाठकों ने अत्यधिक पसद किया है, ऐसा समय-समय पर ज्ञात होने से मेरे उत्साह मे अभिवृद्धि होती रही है, और उसके परिणाम-स्वरूप आज 'अर्चना और आलोक' भी आपके समक्ष प्रस्तुत है। अपने इस कार्य मे मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय आप स्वयं करे तथा विषय को व्यवस्थित करने के प्रयत्न मे सत-भाषा के विपरीत कोई असगति बन गई हो तो उदारतापूर्वक क्षमा करते हुए प्रवचनो के मूल भाव को ग्रहण करें। किं बहुना ....?

—कमला जैन 'जीजी' एम० ए०

अनुक्रमणिका

अर्पण
और,
आलोक

१

अन्तर्दृष्टि की दीर्घता

मनुष्य अपनी दृष्टि 'दीर्घ' कैसे बनाए ? इस सबध मे आज किंचित् विचार करना है। दीर्घ-दृष्टि का अर्थ नेत्रो का विशाल होना अथवा उनमे अधिक दूर तक देखने की शक्ति का होना नही, वरन् अतर की दूरदर्शिता है। किसी भी कार्य की परिणाम-परम्परा का विचार करना और तत्पश्चात् उसका सूत्रपात करना दूरर्दाशता है।

मनुष्य दुनिया मे सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। उसकी आत्मा मे अनन्तशक्ति है। अपनी उस शक्ति का सदुपयोग कर वह अक्षय सुख को प्राप्त कर सकता है, और दुरुपयोग करके अनन्त दुख का भागी भी बना रह सकता है। पर आत्मा की इस अनन्तशक्ति का सदुपयोग वह तभी कर सकेगा, जब उसकी दृष्टि दीर्घ होगी। दीर्घ-दृष्टि वाला व्यक्ति अपने कार्य के परिणाम का विचार पहले करता है और तब उसके अनुसार सहायक साधनो की खोज करता है। इसके विपरीत सकुचित दृष्टिवाला व्यक्ति कार्य के परिणाम की ओर ध्यान दिये बिना ही मन को प्राप्त होने वाले क्षणिक सुखो के पीछे भागता है, और उसी के अनुरूप प्रयत्न करता रहता है।

दूरदर्शिता के अभाव मे व्यक्ति इहलौकिक सुखो का भोग करना ही अपने जीवन का लक्ष्य मान लेता हैं। किन्तु ऐहिक सुख प्राप्त कर लेना ही मानव जीवन की विशेषता नही है। जिस प्रकार हाथ होने से ही सभी व्यक्ति कार्य-कुशल नही होते, जीवधारी होने से ही सब सहृदय नही होते, ठीक इसी प्रकार मानव-शरीर पाने से ही सब वास्तविक अर्थों मे मनुष्य नही बनते। शरीर तो पशु को भी मिलता है, पर मनुष्य की विशेषता मनुष्यता प्राप्न करने मे है। मनुष्यता का सबध हृदय, अर्थात् आत्मा से है। आत्मा मे सद्गुणो की स्थापना करना ही अनंत सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करना है। महाकवि शेक्सपियर ने कहा है '—

"Virtue alone is happiness bellow"
केवल सद्गुण ही इस पृथ्वी पर सुख है।

ससार मे जितने भी प्राणी है, सबके हृदयो मे एक ही अभिलाषा तरगित होती है और वह है सुख-प्राप्ति की कामना। उसी के लिये वह नाना प्रयत्न करता है। किन्तु सच्चा सुख कहाँ हैं, यह वह नही जान पाता। सूफियो मे सबसे बडा दार्शनिक गज्जाली हुआ है। एक दिन उसने सोचा कि सारी सम्पत्ति का दान कर देना चाहिये, उसे तिलाजलि दे देना चाहिये। उसने ऐसा ही किया और विद्याध्ययन तथा विद्यादान मे जुट गया। कुछ समय बाद उसे लगा कि वह ऐसी विद्याओ को पढ रहा है जो मोक्ष की दृष्टि से सार-रहित है। और विद्यादान वह नामवरी और वाहवाही के लिये कर रहा है। यह समझ मे आते ही उसने धर्माचार्य का उच्च पद त्याग दिया और सीरिया चला गया।

सीरिया मे उसने दो वर्ष तक आत्मिकज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया। लेकिन उसे सतोष नही हुआ। फलस्वरूप उसने सूफियो का आश्रय लिया। उनके सम्पर्क से उसने जाना कि विषयों के कठोर बन्धन से मन को मुक्त करने और वासनाओ तथा संकल्प विकल्पो से मन को बचाने पर हृदय मे परमात्मा के वास और उसके आराधन के लिये स्थान हो सकता है। बची हुई जिन्दगी मे उसने वही किया और सतुष्ट होकर अपनी मृत्यु के समय उसने अपना कफन मगाया, उसको दोनो हाथो मे लेकर चूमा, आँखो से लगाया और लेट गया।

कहने का तात्पर्य यही है कि अगर मनुष्य दूरदर्शिता पूर्वक अनन्त सुख की प्राप्ति के सच्चे साधनो को समझ ले, उन्हे अपना ले और उनके अनुसार जीवन व्यतीत करे तो अन्त समय मे उसे व्याकुलता और पश्चात्ताप नही होता, मृत्यु से घबराहट नही होती। कहा भी है '—

Be of a good cheer about death, and know thi< of a truth, that no evil can happen to good man, either in life or afther death"

—सुकरात

मृत्यु के बारे मे सदैव प्रसन्न रहो और इसे सत्य समझो कि भले आदमी पर जीवन मे या मृत्यु के पश्चात् कोई बुराई नही आ सकती।

मनुष्य का शरीर मर जाता है, किन्तु उसके सद्गुण नही मरते। जिस व्यक्ति ने जीवन मे अपने सुकर्मों से पुन पुन होने वाले मरण से बचने का प्रयत्न किया है और पूर्वकृत कर्म-बन्धनो से अपनी आत्मा को मुक्त प्राय कर लिया है उस व्यक्ति के लिये मृत्यु का कोई भय नही रह जाता है। कवि किसनदास जी ने कहा है—पूर्वोपार्जित पुण्य कर्मों के परिणाम स्वरूप मनुष्य, मनुष्य जन्म पाता है, किन्तु जो इस जन्म मे पूर्वजन्म के पुण्य उपार्जन नही करता वह महाअज्ञानी है। वे इसीलिये मानव को चेतावनी देते हैं :—

मौसम समैं 'किसन' कीजिये असम श्रम,
बैठे क्रम-श्रम पूंजी गांठ की न खाइये।
काल-काल करत परत आवे काल पास,
काल की न आस कुछ आज ही बनाइये।
काया मे न आई काई तो लो करिले कमाई,
आग लगे मेरे भाई पानी कहाँ पाइये।

सीधी और सरल भाषा मे दी गई कवि की सीख अमूल्य है। मानव-जन्म ऐसा ही सुनहरा अवसर है, जबकि मनुष्य सिर्फ पुण्योपार्जन ही नही, वरन् चाहे तो पाप-पुण्य से भी ऊपर उठते हुए जन्म और मरण के चक्र से छूट सकता है। किन्तु प्रमादवश और भोगो मे आसक्त रहने के कारण वह धर्म-मय सुकृत्या को आने वाले कल पर टालता जाता है। ऐसे व्यक्ति को ही कवि ने चेताया है कि कल-कल करते हुए समय बीत जाएगा और काल आ घेरेगा। अत जो कुछ कर सके। आज ही क्यो नही कर लेता ?

जब तक शरीर मे बल है, इन्द्रियो मे शक्ति है तभी तक तू इसमे धर्म-कृत्य कर सकता है—

शरीरमाद्य खलु धर्म-साधनम्।

सभी धर्म कर्मों के लिये शरीर ही सबसे पहला साधन है।

अगर इसे पाकर व्यर्थ खो दिया, इसकी अनुपम शक्ति का सदुपयोग नही किया तो अन्त समय मे पश्चात्ताप के सिवाय और कोइ उपाय नही रह जाएगा। जिस प्रकार घर मे आग लग जाने के बाद पानी के लिये दौडना

वृथा है, उसी तरह वृद्धावस्था आ जाने पर इस शरीर से जप, तप-साधना आदि हो सकने की आशा करना वृथा है।

का वर्षा जव कृषि सुखाने,
समय चूक पुनि का पछताने ?

मनुष्य ससार का सर्व शक्तिमान् और इस सृष्टि का मवसे वडा चमत्कार माना जाता है। अव तक मनुष्य ने जो कुछ किया है, उसस यही प्रमाणित होता है कि उसमे अद्भुत और अनन्त शक्तियाँ हैं। उसके लिये कोई पद, कोई वैभव किसी भी प्रकार की सम्पदा दुर्लभ नही हैं। वह इतना विलक्षण और विचक्षण है कि इस लौकिक जीवन मे भी अलौकिक शक्तियो का उपार्जन करके असम्भव को भी सम्भव, अलभ्य को भी लभ्य वना सकता है। वह नर से नारायण वन सकता है, मर कर भी सर्वदा के लिये अमर हो सकता है। इसीलिये महर्षि वेदव्यास ने कहा है :—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि,
नहि मनुपात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित्।

व्यासजी ने यह वडी ही अर्थ पूर्ण वात ससार के समक्ष रखी है, कि मनुष्य से वढकर ससार मे अन्य कुछ नहीं है। उसमे वह शक्ति है कि चाहे तो विश्व-वद्य विश्वात्मा वन सकता है। अपनी आत्मा को परमात्मा पद पर प्रतिष्ठित कर सकता है। आवश्यकता सिर्फ इसी वात की है कि वह अपनी शक्ति को पहचाने, उस पर विश्वास करे। स्वेटमार्डेन का कथन है :—

"मनुष्य अपनी ठीक-ठीक शक्ति को तव तक नही प्राप्त कर सकता, जब तक कि वह इस वात को न समझ ले कि मैं विश्व के महान् तत्व का एक अश हूँ।

इसके विपरीत जिसे अपनी शक्ति पर विश्वास नही होता उसे तो भगवान भी शक्ति नही दे सकता। शक्ति आत्मा के अन्दर से आती है, वाहर से नहो वहुत से व्यक्ति यह सोचते है कि हमारे पुरखे ही वडे-वडे काम कर सकते थे, हम तो स्वप्न मे भी वैसे कार्य करने मे समर्थ नही हैं। यह उनकी अत्यन्त सकुचित दृष्टि और आत्महीनता का प्रमाण है। उन्हे जानना चाहिये कि दशरथ और वसुदेव ने जो नही किया, वह राम और कृष्ण ने किया। अत्रि ने चिकित्सा शास्त्र नही लिखा, पर उसे उनके पुत्र आत्रेय ने लिखा। रामायण की रचना महर्षि च्यवन ने नही, वाल्मीकि ने की। अष्टावक्र के पिता वेद-शास्त्र के ज्ञाता नही थे, पर अष्टावक्र केवल वारह वर्ष की वय मे ही वेद-शास्त्र मे पारगत

हो गए। ऐसे अनेक उदाहरणो से प्रमाणित होता है कि कोई काल या आयु श्रेष्ठ बनने के लिये प्रमाणभूत नही है। कहा भी गया है :—

तस्मात्प्रमाणं न वयो न कालः,
कश्चित्क्वचिच्छ्रैष्ठ्यमुपेति लोके।
राज्ञाम् ऋषीणा चरितानि तानि,
कृतानि पूर्वैरकृतानि पुत्रैः॥
—बुद्धचरित

कोई किसी काल मे श्रेष्ठ बन जाता है और कोई किसी मे। इसलिये आयु और काल श्रेष्ठता के लिये प्रमाण नहीं हैं। राजाओ और ऋषियो मे, जिन कार्यों को उनके पूर्वज नही कर सके, उन्हे उनके पुत्रो ने करके दिखाया है।

प्रत्येक मनुष्य को आत्म-शक्ति पर विश्वास रखते हुए दीर्घ-दृष्टि से आत्मिक गुणो का विकास करने वाले कार्यों को करना चाहिये। अपने विवेक से उन कार्यों से होने वाले परिणामो को कार्य करने से पूर्व ही समझ लेना आवश्यक है। उचित और अनुचित मे भिन्नता बताने वाला स्वविवेक से बढकर और कोई सहायक नही है। शेक्सपियर ने तो यहाँ तक कहा है —

Let your own discretion be your tutor, suit the action to the word, the word to the action

अपने विवेक को अपना शिक्षक बनाओ। शब्दो का कर्म से और कर्म का शब्दो से मेल कराओ।

दीर्घ दृष्टि पुरुष के हृदय मे विवेक सदा जागृत रहता है और वह ज्ञान को सही मार्ग पर चलाता है। किन्तु इसके विपरीत सकीर्ण दृष्टि वाले पुरुष के हृदय मे विवेक सुप्तावस्था मे रहता है और वह अपने ज्ञान का सही उपयोग नही कर पाता। ससार के पदार्थो का उपभोग दोनो ही करते है, किन्तु ज्ञानी व्यक्ति वास्तविकता को और अज्ञानी अवास्तविकता को देखता है। उदाहरण स्वरूप कही रामलीला होती है और उसे देखने वाले दर्शको मे दोनो ही प्रकार के व्यक्ति होते है। सकुचित दृष्टि वाला अज्ञानी पुरुष अभिनय को ही वास्तविक मानता है और 'केवट-प्रसग' जैसे अवसर पर राम का अभिनय करने वाले पुरुष का चरणोदक अपने मस्तक पर लगाकर या उसका आचमन करके अपने को धन्य मानता है। इसके विपरीत विवेकपूर्ण दीर्घ-दृष्टि रखने वाला ज्ञानी व्यक्ति राम के अभिनय को दिखावा मानता है। क्षणिक मनोरजन के अलावा वह राम का रूप धारण करने वाले उस व्यक्ति के दर्शन का अथवा

उसकी चरण रज लेकर अपने जन्म को सफल हुआ नही मानता। 'रामलीला' देखते समय वह मर्यादा पुरुषोत्तम राम के गुणो का स्मरण करता है और उनमे श्रद्धा रखते हुए अपने मे भी उन गुणा का आविर्भाव करने की कामना करता है, जिनके द्वारा वह अपना जीवन उन्नत बना सके और कालातर मे भव-भ्रमण से बच सके। यही दीर्घ-दृष्टि और सकीर्ण दृष्टि मे अन्तर है।

दीर्घ-दृष्टि रखने वाला व्यक्ति सदा श्रेयस्कर पदार्थों को ग्रहण करता है और सकीर्ण-दृष्टि वाला प्रेय पदार्थों को। श्रेय और प्रेय के रूप मे हम ससार के समस्त पदार्थों का दो भागो मे बाँट सकते है। कहा है—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्,
तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीर.।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते,
प्रेयो मंदो योग-क्षेमाद् वृणीते ॥

मनुष्य के समक्ष श्रेय और प्रेय दोनो आते है। दीर्घ-दृष्टि सम्पन्न मानव योग्य विचार कर श्रेय को श्रेष्ठ मानता है, और उसे ग्रहण करता है। किन्तु अदूरदृष्टि और मद बुद्धि वाला व्यक्ति श्रेय का त्याग कर प्रेय यानि भोग को ही पसद करता है।

श्रेय यानि मनुष्य का हित करने वाली वस्तुये, सत्य, ब्रह्मचर्य, न्याय, नीति, सदाचार, ज्ञान, प्रेम भक्ति आदि श्रेयस्कर तत्त्व हैं, और प्रेय है मनुष्य को प्रिय लगने वाले पदार्थ—स्त्री, पुत्र, धन, धरा, ऐश्वर्य, राज्य, महत् आदि। श्रेय और प्रेय दोनो हो पदार्थ मनुष्य को आकर्षित करते हैं, किन्तु जो श्रेय को स्वीकार करता है वह अपनी आत्मा को उन्नत बनाता है और जो प्रेय को ग्रहण करता है वह अवनति की ओर उन्मुख होता है।

प्रेय से पौद्गलिक सुख प्राप्त होता है और श्रेय मे आत्मिक सुख की प्राप्ति होती है। प्रेय से प्राप्त होने वाला सुख नश्वर होता है और श्रेय से प्राप्त होने वाला अनश्वर।

प्रेय की साधना मे अनेक दोष है। उनमे से पराधीनता उसका मुख्य और दुखदायी दोष है। धन, वैभव तथा ऐश्वर्य आदि प्रेय को प्राप्त करने मे मनुष्य स्वाधीन नही हैं। इनकी इच्छा करने वाला व्यक्ति इच्छा मात्र से ही इन्हें प्राप्त करने मे समर्थ नही हो सकता। अगर ये पराधीन न हो तो प्रत्येक इच्छुक को प्राप्त हो जाए और इनकी प्राप्ति के लिये उसे निरंतर श्रम, अन्याय और अत्याचार न करने पडें। भौतिक पदार्थों के लिये जो सघर्ष

हुए हैं उनका साक्षी इतिहास है। उसके द्वारा हम सहज ही इन प्रेय पदार्थों की प्राप्ति के निमित्त होने वाले लोमहर्षक काडो का ज्ञान कर सकते है।

रावण सीता को पाना चाहता था किन्तु उसे पाना रावण के आधीन नही था। इस कारण उसने जो प्रयत्न किया, लाखो प्राणो का तथा स्वय अपना नाश किया। इस घटना से आज कोई भी अनभिज्ञ नही है। दुर्योधन सुई की नोक के बराबर जमीन भी पाण्डवो को देना नही चाहता था, पर उसे अपने ही पास रख लेना उसके आधीन नही था। अत महाभारत युद्ध हुआ और उसके समस्त राज्य और कुल का नाश हो गया। प्राचीन काल के राजा महाराजाओ ने सदा दूसरे के साम्राज्यो को हथियाने के प्रयत्न किये। किन्तु इच्छा होते ही दूसरे राज्य उनके अधिकार मे नही आ जाते थे। फलस्वरूप उन्हें भयानक नरसहार करना पडता था। आज के युग मे भी यही होता है। हिन्दुस्तान की भूमि पर अधिकार करने के प्रयत्न मे चीन के द्वारा आरम्भ किया जाने वाला सघर्ष और पाकिस्तान बनाने के लिये मुसलमानो द्वारा किये जाने वाले लोमहर्षक हत्याकांड हम अभी भूले नही हैं। ये सब अनर्थ प्रेय पदार्थो को पाने के लिये ही होते रहे हैं। अतएव स्पष्ट है कि इन्हें पाना व्यक्ति के आधीन नही होता, अत उसे नाना प्रकार के कष्ट उठाने पडते हैं और घोर अन्याय व अत्याचार करना पडता है जो कर्म-बन्धनो का कारण बनता है। धन-धरा या स्त्री-पुत्र कोई भी उन बन्धनो को छुडाने मे सहायक नही बनता। अकेला जीव ही नाना योनियो मे भटकता हुआ उन्हे भोगता है। किसी विद्वान् ने सत्य कहा है—

धनञ्च भूमौ पशवश्च गोष्ठे,
कान्ता गृहद्वारि जना श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे,
कर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

अर्थात्—धन धरती मे ही गडा रह जाता है, हाथी, घोडे गाय भैंस आदि वाडे मे बधे रहते हैं, स्त्री घर के द्वार तक आकर रुक जाती है, स्वजन-परिजन श्मशान तक आते हैं और शरीर चिता तक साथ देता है किन्तु परलोक मे तो जीव को अकेले ही जाना पडता है।

तात्पर्य यही है कि भौतिक वस्तुओ की चाह मनुष्य को जितनी अधिक होगी उतने ही पाप-कर्म वह अधिक करेगा और कर्मो के बधन बढाता चला जाएगा। पाश्चात्य विद्वान् बेकन का भी यही कथन है—

As a man maketh his train longer, he makes his wings shorter

मनुष्य जितनी लम्बी ट्रेन बनाता है उतने ही पीछे उसके पख छोटे होते जाते है। भावार्थ यही है कि भौतिक वस्तुओ के निर्माण या उसकी प्राप्ति के लिये मानव जितना अधिक प्रयत्न करता है, जितनी अधिक शक्ति नष्ट करता है, उसकी आध्यात्मिक शक्ति उतनी ही क्षीण होती चली जाती है। ज्यो-ज्यो वह ससार की इन नश्वर और प्रेय वस्तुओ की इच्छा करता है। और उन्हे पाने के प्रयत्न मे कर्म बाँधता है, त्यो त्या उसका दुख बढता है। लेकिन मनुष्य की बुद्धि के लिये क्या कहा जाए ? कबीर कहते है—

कबिरा ओधी खोपरी, कबहू धापै नाहि।
तीन लोक की सम्पदा, कब आवे घर माँहि॥

उल्टी बुद्धि और अदूरदर्शिता रखने वाले व्यक्ति की तृष्णा कभी शांत नहीं होती। उनको जितना लाभ होता जाता है उतनी ही उनकी तृष्णा बढती जाती है। वे सोचते है, अगर तीन लोक की समस्त सम्पदा मिल जाय तो अच्छा।

एक बार पाइरस बादशाह इटली पर आक्रमण कर उसे जीतने के लिये तैयार हुआ। सीनिआस नामक एक तत्ववेता ने उससे पूछा—"आप कहाँ जा रहे है ?"

"इटली को अपने आधीन करने।" राजा ने गर्वपूर्वक उतर दिया।

सीनिआस से रहा नही गया, उसने फिर प्रश्न किया—"इटली को जीतने के बाद फिर ?"

"फिर अफ्रीका को जीतेगे ?"

"और उसके बाद—?"

"उसके बाद आनन्द से रहेगे।"

"तो अभी ही आनन्द से क्यो नही रहते महाराज ?" आपको किस बात की कमी है ?

पाइरस निरुत्तर हो गया।

उत्तराध्ययन सूत्र मे भी तृष्णा का बडा सुन्दर चित्र खीचा गया है। उसमे दिया है—

सुवण्ण रुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणतिया।

—उत्तरा० अ० ९

अर्थात्—लोभी मनुष्य को कोई केलाश पर्वत के बरावर-बरावर सोने और चाँदी के असख्य ढेर करके दे, तो भी उसकी तृष्णा किंचित् मात्र शात नही हो सकती, क्योंकि धन असख्यात है और तृष्णा आकाश की तरह अनत है। अनन्त तृष्णा कैसे बुझेगी ? यद्यपि धन बढता जाता है, किन्तु तृष्णा उससे भी आगे बढती जाती है।

इस प्रकार मनुष्य पराधीन रहने वाले प्रेय पदार्थों के पीछे दौडता है किन्तु वे पदार्थ उसके लिये मृग-मरीचिकावत् हो जाते है।

भौतिक पदार्थों मे दूसरा दोष विनाश का है। समस्त प्रेय पदार्थो से प्राप्त होने वाला सुख विनाश को प्राप्त होता है। क्योंकि पदार्थ ही जब विनाशी होते हैं, तो उनसे होने वाला सुख कैसे अविनाशी होगा ?

अगर प्रयत्न करने पर किसी तरह मनुष्य को धन-दौलत, स्त्री, पुत्र आदि सभी इच्छानुसार मिल भी गए तो वे क्या हमेशा बने रहेंगे ? नही, धन चोरो के द्वारा चुराया जा सकता है, स्त्री की मृत्यु हो सकती है और पुत्र कुपुत्र सावित होकर सुख के बदले दुख देने वाला बन सकता है। इसी प्रकार ससार की प्रत्येक वस्तु का कभी भी वियोग हो सकता है, विनाश हो सकता है। किसी पजावी कवि ने यह देखकर ही मनुष्य को सीख दी है—

एस जग नाल करके प्यार, कमलया का लैना ?
भोलया की लैना ?
जेडे बादशाह सी कल्ल, सूने छड्ड के महल्ल,
खाली हत्थ गये चल्ल, कोई दिसदा नही,
तू ता निमके वक्त गुजार, कमलया को लैना ?
मनो विषया तो कड्ड, झूठे धधया नूं छड्ड,
प्यारे प्रभु वल्ल लग, फेर समझ लई।
तेरा हो जाऊ बेडा पार, कमलया को लैना ?

कवि ने कहा है— भोले भाई! इस जग से प्यार करके तुझे क्या लेना है। बावरे देखता नही है कल जो बादशाह था वही आज सूना महल छोडकर खाली हाथ चल दिया। अतुल वैभव के अधिकारी राजा, महाराजा कोई भी तो दिखाई नही देते। इसलिये तू इस सबके प्रपच मे न पडकर और इनका अहकार न करके नम्र होकर अपना वक्त गुजार। समय का लाभ उठा।

अपने मन को विषय भोगों से हटा और ससार के इन झूठे धधो का परित्याग कर। एक बार अगर प्रभु की तरफ तेरी लौ लग जाए तो समझ लेना कि बेडा पार हो जाएगा।

जो मनुष्य ससार मे प्रिय पदार्थो के सयोग से सुखी और अप्रिय पदार्थों के सयोग से दुखी नही होता, वही दीर्घ दृष्टि पुरुष लोकोत्तर सुख प्राप्त कर सकता है। वह इस ससार मे पुण्यात्मा, सुकृती और देव-रूप माना जाता है। मानव-समाज मे छल, प्रपच और अधर्म से कृतकार्य होने वाला व्यक्ति प्रतिष्ठा प्राप्त नही कर सकता। यशस्वी वही है, जो नैतिक सिद्धान्तो के अनुसार अपनी इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करता है :—

मन और इन्द्रियाँ वश में हैं हो जाता,
जिनकी चेतन मे चित्तवृत्ति रम जाती।
धारा जिन सत्पुरुषो ने सुविरति बाना,
कर कर्म निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना।

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

जो सत्पुरुष अपने मन और इन्द्रियो को बहकने नही देते, अपनी इच्छानुसार चलाते हैं, तथा अपनी चित्त-वृत्ति को आत्मिक सुख प्रदान करने वाले साधनो मे लगाये रहते हैं वे ही कर्मो की निर्जरा करने मे सफल होते है। ससार के जिन-जिन महापुरुषो ने सच्चे वैराग्य और अनासक्ति का बाना पहना, उन सभी ने कर्म-बन्धना का नाश करके मोक्ष को अपना स्थायी निवास बनाया है।

इसके विपरीत, जो प्रेय पदार्थों के पीछे भागते रहते हैं उन्हे जीवन मे कभी शान्ति और सुख का अनुभव नही हो पाता। प्रत्येक स्थिति मे असतोष का ही अनुभव होता रहता है। क्योकि प्रेम अथवा प्रिय लगने वाले पदार्थों से मिलने वाला सुख कभी स्थायी नही होता।

एक योगी अपनी योग-साधना मे निरन्तर लीन रहा करता था। कभी-कभी इधर-उधर के व्यक्ति उससे वरदान माँगने आ जाया करते थे। योगी को कुछ सिद्धियाँ उपलब्ध हो गई थी अत वह लोगो की मनोकामना पूरी कर दिया करता था।

एक दिन योगीराज के पास चार व्यक्ति आए और अपने-अपने कष्ट का निवारण करने की प्रार्थना करने लगे। योगी ने उनसे पूछा—"आप लोग क्या-क्या चाहते है ?"

पहला व्यक्ति बोला—"मुझे यश की तीव्र आकाक्षा है।" दूसरे ने कहा—"मुझे पुत्र चाहिये।" तीसरे व्यक्ति ने धन की आवश्यकता बताई और चौथे

योगी ने चारो को इच्छा पूर्ति का आशीर्वाद दिया और वे प्रसन्नतापूर्वक वहाँ से चल दिये। सबकी इच्छाएँ फलीभूत हो गई और जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होने लगा।

किन्तु कुछ समय पश्चात् वे चारो व्यक्ति योगी के पास आए।

योगी ने आश्चर्य से पूछा—अब आप लोगो का आना कैसे हुआ ?

पहला व्यक्ति बोला—"योगीराज ! मुझे यश तो आपकी कृपा से मिल गया, किन्तु प्रतिस्पर्धा का दुख नही मिटता।" दूसरा व्यक्ति उदास होकर कहने लगा—"पुत्र तो बहुत हो गएँ भगवन् ! पर अब मेरी आज्ञा का पालन कोई नही करता।" तीसरे ने परेशानी के साथ कहा—"धन तो मेरे पास अतुल हो गया है, पर काम की अधिकता के कारण भोजन करने का भी समय नही मिलता।" अब चौथे व्यक्ति की बारी थी। वह आँखो मे आँसू भर कर कहने लगा—"आपकी कृपा से स्त्री तो बहुत सुन्दर मिल गई, परन्तु उसके अत्यन्त सहवास से विषम रोग से ग्रस्त हो गया हूँ।"

चारो ही व्यक्ति योगी से कहने लगे—"महाराज ! हम तो पहले से भी अधिक दुख का अनुभव कर रहे हैं।"

योगी हँसते हुए बोला—"भाइयो ! ससार के सुख कभी स्थायी नही रहते। भोगोपभोगो के द्वारा वास्तविक सुख और शान्ति की आशा करना वृथा है। वह तो सतोष धारण करने से ही प्राप्त हो सकते है —

"Contentment is natural wealth Luxuary is artificial Poverty"
—सुकरात

सतोष स्वाभाविक धन है, विलासिता कृत्रिम दरिद्रता है।

इसलिये दीर्घ दृष्टि वाले व्यक्ति को चाहिये कि वह ससार के पदार्थों की नश्वरता को भली भाँति समझे। वह सोचे कि छाया की तरह सर्वदा साथ रहने वाला शरीर भी इस लोक से प्रयाण करते समय साथ नही देता। जीव रूपी हस के बाहर निकलते ही इसे चिता पर रख कर भस्म कर दिया जाता है। मनुष्य का शरीर पशुओ के शरीर से भी गया बीता है। पशु जब तक जीते हैं, औरो का उपकार करते हैं और मरने के बाद भी अपने चमडे और हड्डियो से जगत् को लाभ पहुँचाते है। पर मानव-शरीर का कोई उपयोग नही होता। वह किसी भी काम मे नही आता। कवि सियाराम ने यही कहा है :—

हाथी दाँत के खिलौने जगत के आवें काम,
बाघो का बाघम्बर महेश चित लाएगा।
मृगन की छाल को बिछावत हैं योगिराज,
वृषभ का चर्म कछु अन्न निपजाएगा।
नेकी और बदी दो हीं संग चले मियाराम।
मनुष्य का चर्म कछु काम नहीं आएगा।

ऐसी स्थिति मे मनुष्य जीवन रहते ही शरीर का सदुपयोग करले, इसके द्वारा अधिक से अधिक लाभ उठाले तभी इसका मिलना सार्थक हो सकता है। मानव का सच्चा जीवन तब प्रारम्भ होता है जब वह यह अनुभव कर लेता है कि शरीर क्षणभगुर है, और किसी भी क्षण इसका नाश हो सकता है। हमारे आचार्य कहते हैं '—

'नित्यं सन्निहितो मृत्यु' कर्तव्यो धर्मसंग्रह ।

मृत्यु सदैव समीप ही खडी है, ऐसा समझ कर मनुष्य को धार्मिक प्रवृत्ति करते रहना चाहिये। क्योंकि ---

"न हि मृत्यु प्रतीक्षते कृत चास्य नवाकृतम् ।"

मृत्यु प्रतीक्षा नहीं करती कि इसने अपना कार्य कर लिया है अथवा नही।

मनुष्य चाहे सौ वर्ष जिये या पचास, अथवा उससे भी और कम आयु प्राप्त करे। उसका ध्येय होना चाहिये कि वह जीवन से अधिक से अधिक लाभ उठा सके। निष्काम कम और श्रेष्ठ आचरण ही इसमे सहायक बन सकते हैं। नाम कमाने के लिये दिखावटी दान-पुण्य करना अथवा पूजा-पाठ जप-तप आदि क्रियाएँ करने से आचरण की श्रेष्ठता नही मानी जा सकती। और ऐसे व्यक्ति दानी या पुण्यात्मा नही कहलाते वरन् धम-वैतसिक कहे जाते हैं। वे धर्म का व्यवसाय करते हैं, धर्म के नाम से कमाते हैं और पुण्य की आड लेकर पापो का उपार्जन करते हैं। प्रत्युपकार की आशा से किये जाने वाले कर्म सुकर्म नही होते। सुकर्म वे हैं जो निष्काम भाव से किये जाते हैं, अर्थात् जिन्हे करते हुए मनुष्य के हृदय मे किसी भी प्रकार के लाभ की लालसा नही होती।

जो व्यक्ति मन और इन्द्रियो को नियम मे रखकर अटल सत्य को अनुसरण करता है, आन्तरिक और बाह्य सभी प्रलोभनो का प्रतिरोध करता है और जिसके हृदय मे अनुकम्पा, उदारता तथा निस्वार्थता का स्थायी निवास रहता है, वही मानव, मानव-श्रेष्ठ कहलाता है और वह चाहे कितना भी कम

जीवन पाए, उसका जीवन सफल हुआ माना जाता है। पाश्चात्य विचारक शेरीडन ने कहा है—

"A life spent worthily should be measured by a nobler line, by deeds not years"

योग्यता से व्यतीत हुए जीवन को हमे वर्ष के नही, अपितु कर्म के अच्छे पैमाने से नापना चाहिये। क्योकि—

Our crowded hour of glorious life is worth an age without a name"

गौरवपूर्ण जीवन का एक व्यस्त घटा कीर्ति-रहित युगो से कही अधिक महत्वपूर्ण है।

दूरदर्शी पुरुष इस बात को भली भाँति समझ लेते है और उसके अनुसार अपने जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न करते हैं। उनकी दृष्टि प्रेय पदार्थो तक ही सीमित नही रहती, वरन् उससे ऊपर उठकर श्रेय की ओर जाती है।

सज्जनो, अभी-अभी मैंने आपको बताया है कि प्रेय पदार्थो मे पराधीनता और नश्वरता होती है। तीसरा अवगुण इनमे विषमता का होना भी है। प्रेय पदार्थो की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने वाला प्रेय-साधक ससार मे अशान्ति उत्पन्न करता है। जगत के समस्त प्रेय-पदार्थ पराधीन होते हैं अत उनकी प्राप्ति के लिये मनुष्य को औरो का हक छीनना पडता है। स्वार्थ मे लिप्त होकर वे अपने स्वभाव-धर्म को भूल जाते हैं और नाना प्रकार के पैशाचिक कर्म करने पर उतारू हो जाते है। अहकार, क्रोध, ईर्ष्या तथा द्वेष की प्रबलता के कारण वे शरीर से मनुष्य होकर भी स्वभाव और चरित्र से मनुष्य प्रतीत नहीं होते। पशु की भाँति निरकुश और पतित हो जाते हैं।

भौतिक वस्तुओ की प्राप्ति के प्रयत्न मे वे नैतिकता का बलिदान कर देते है। अपनी शक्ति के उन्माद मे औरो के हितो का नाश करने मे तनिक भी नही झिझकते। वे भूल जाते हैं कि सभी की आत्मा हमारे सदृश है, सभी का हृदय हमारे ही समान सुख और दुख का अनुभव करता है। अदूरदर्शी व्यक्तियो की दृष्टि अपने ही सुख और लाभ को देखती है। इस लोक स परे भी कुछ है जहाँ अपने कृत-कर्मो का फल मिलता है, इस बात पर उसका ध्यान नही जाता। कहते हैं —

चढी बरात देखकर पुलक उठा तो क्या हुआ ?
पडे मजार देखकर सुबक उठा तो क्या हुआ ?
हँसी-मिलन जनम-मरण पडाव हैं, न मंजिलें—
न इनमे सुख धरा हुआ, न उनमे दुख भरा हुआ।

अज्ञानी मानव कभी तो अपने पुत्र पौत्रो की अथवा स्नेहीजनो की बाराते देखकर असीम आनन्द का अनुभव करता है, अत्यन्त प्रफुल्ल होकर विवाहोत्सव मे भाग लेता है, और कभी, किसी स्नेही की मृत्यु हो जाने पर फूट-फूट कर रोता है। मरने वाले की लाश पर अश्रु बहाता है। पर वह नही समझता कि सुख और दुख तथा जन्म और मरण ही मनुष्य को आखिरी मजिल नही है। ये तो बीच-बीच मे आने वाले पडाव मात्र हैं। इन पडावो से गुजरते हुए उसे न जान कितने जन्म-मरण करने होंगे और कितनी बार हँसना और रोना पडेगा। उसे चाहिये कि वह सयोग मे सुख और वियोग मे दु ख न मानते हुए मनको समदर्शी बनाए तथा आत्मा को राग-द्वेप रहित बनाते हुए अनत सुख रूपी आखिरी मजिल को प्राप्त करे।

सासारिक सवध इस देह के साथ ही खत्म हो जाते हैं, अत. इनके लिये जीवन भर नाना प्रकार के पाप कर्म करना मनुष्य की महान भूल है। कर्मों का वन्धन तो वह अपने परिवार के लिये उनके साथ मिलकर कर लेता है किन्तु उनका फल उसे अकेले ही भोगना पडता है। उस समय परिवार का एक भी व्यक्ति उस दुख को वटाने नही आता। तभी तो कहा है—

पापो का फल एक ले, भोगा कितनी बार।
कौन सहायक था हुआ करले जरा विचार?

—भारिल्ल

मानव सवसे अधिक पाप धन-वैभव अथवा साम्राज्य के लिये करता है। समस्त प्रेय पदार्थों म धन सबसे निकृष्ट और विषम पदार्थ है, जिसके कारण समय-समय पर अमानुपिक घटनाएँ घटती रहती है। मुहम्मद गजनवी ने धन लूटने के लिये हिन्दुस्तान पर सोलह बार हमले किये और विपुल धन लूटकर ले गया। साथ ही लाखो व्यक्तियो का प्राण नाश किया। नगरकोट के एक मदिर से उसने बीस मन जेवर, दो सो मन सुवर्ण, दो हजार मन चाँदी और अनगिनत रुपये लूट मे प्राप्त किये तथा मदिर का भी विध्वस किया।

पर क्या वह धन उसके काम आया? नही, जब वह मरने लगा तो कहते है कि सारे धन को इकट्ठा करके उसके ढेर पर जा बैठा और बालक की तरह फूट-फूट कर रोते हुए बोला—"हाय! इस धन मे से क्या एक कौडी भी मेरे साथ नही चलेगी?"

कौन-सा पाप है जो मनुष्य धन के लिए नही करता? धन के लिये मानव ■, प्यास, शीत और उष्णता ही सहन नही करता, चोर और डाकू बनकर ■ जगलो मे भी भटकता फिरता है। धन के लोभ मे पडकर भाई-भाई का ना काट देता है, मित्र-मित्र के साथ विश्वासघात करता है, एक राजा दूसरे

गाजा पर आक्रमण करके लाखो बेगुनाह और गरीब व्यक्तियो का सहार करता है और तो और धर्मात्मा बनने का ढोग रचकर तथा ईश्वर के नाम का साकेतिक चिन्ह बनाकर भी औरो को ठगने से नही चूकता।

एक धूर्त सुनार ने जवाहिरात की दुकान खोल रखी थी। माथे पर तिलक, गले मे रुद्राक्ष की माला, हाथ मे सुमिरनी और राम-नामी चद्दर ओढे वह बडा धर्मात्मा दिखाई देता था। इसलिये लोग उसका बडा विश्वास करते थे कि वह कभी भी धोखा नही दे सकता। उसके कुछ सहायक भी उसी की तरह भगवान के सच्चे भक्त जैसा बाना पहने रहते थे।

किन्तु जब कभी ग्राहक उस सुनार की दुकान पर आता, उसकी सहायक मडली मे से एक कहता—'केशव! केशव!' कुछ देर बाद दूसरा कहता—'गोपाल! गोपाल!' तीसरा कहता—'हरि! हरि!' और अन्त मे सोच विचार कर चौथा बोलता—'हर! हर!'

ईश्वर के इन नामो का उच्चारण होने देखकर ग्राहको का सुनार की प्रामाणिकता पर विश्वास और भी दृढ हो जाता। लेकिन ईश्वर के ये सब नाम उस कपटी सुनार द्वारा साकेतिक शब्दो के तौर पर काम मे लाए जाते थे। जो आदमी 'केशव, केशव' कहता था उसका तात्पर्य होता था 'ये ग्राहक कैसे है?' दूसरा जो 'गोपाल, गोपाल' कहता था वह यह सूचित करता था कि 'ये महामूर्ख हैं।' ऐसा अनुमान वह उनसे थोडी देर बातचीत कर के लगा लेता था। तीसरा व्यक्ति 'हरि, हरि' कहकर यह पूछता था कि 'क्या हम इन्हे लूट ले?' तब 'हर हर' कहने वाला ग्राहको को यदि मूर्ख समझ लेता तो कह देता—"इन्हे लूट लो, लूट लो।"

प्रेय पदार्थों की विषमता का यह रूप है। कितना कपट और कैसी जालसाजी व्यक्ति इसके लिये करता है। धर्मात्मा का बाना पहन कर भी, और ईश्वर के नामो का उच्चारण करते हुए भी जो उसका सच्चा जाप नही करते ऐसे व्यक्तियो के लिये क्या कहा जाय? एक पजाबी कवि ने ऐसे मनुष्यो की भर्त्सना करते हुए कहा है :—

तैनूं मर जाना जग विचों जापदा न नइयो।
ताइयो नेकियो दे राग तू आलापदा नइयो।
ठगी पाप विच वक्त तूं गुजारदा रिहा,
एवें विषयों दे विच झख मारदा रिहा।
दस केडे कम्म बीबा तूं संवारदा रिहा,
न दिल तेरे खोफ् भगवान दा रिहा।
तैनूं लगदा पता अपने आपदा नइयो।

गल लाखा ही गरीबा दे तू कटदा रिहा,
लहुड़ू संकडो यतीमा दे तू चटदा रिहा।
जो कुछ खटदा रिहा सो ही घटदा रिहा,
रस्सा अपने ही हत्थो आप वटदा रिहा।
तेरे दिल शौक पिया दे मिलाप दा नइयो,
तैनू मर जाना जग विचो ......।

अर्थात—अज्ञानी पुरुष ! तू जानता है कि इस जगत मे आकर एक दिन मरना अवश्य है, तब भी तू ईश्वर का सच्चा जप नही करता। तेरे हृदय मे कभी नेकी का राग नही गूजता कि उससे प्रेरित होकर तू औरो की भलाई कर सके।

विषय, वासनाओं की पूर्ति के प्रयत्न मे तू अनेक प्रकार के पाप और ठगाई करने मे ही अपना समय गुजारता रहा और अपने स्वार्थ की सिद्धि करता चला गया, अन्यथा मुझे बता कि तूने कौन से नेक कृत्य किये हैं ? ऐसा लगता है कि तुझे ईश्वर का जरा भी डर नही है और न ही तू यह जानता है कि मेरी आत्मा किस प्रकार मलिन होती जा रहा है।

लाखो गरीबो और अनाथो के गले काट-काट कर धन के रूप मे तू उनका खून चूसता रहा और अपने पाप कर्मो का रस्सा अपने आप ही वँटता चला गया। क्या तेरे हृदय मे ईश्वर से मिलने की तमन्ना नही है ?

कवि स्पष्टवक्ता है कटु होने पर भी सत्य कहने से नही चूकता—

भरे माया दे खजाने कौडी दान न करें,
गो रोगी ते गरीबा दा सन्मान न करें।
ऐथे ओथे वाली गल दी पहचान न करें,
कहंदा भगत निगाही कोई ध्यान न करें।
अग्गे इन्साफ़ कोई तेरे बाप दा नइयो,
तैनू मर जाना जग विचो ......।

तूने धन-दौलत से अपने खजाने भर लिये हैं किन्तु दान मे एक कौडी भी नही देता, न ही अपाहिजो का, अनाथो का या मूक पशुओ का ही पालन-पोषण करता है। स्वय तो इस लोक और परलोक मे सुख प्रदान करने वाले सुकृत्यो को नही करता, किन्तु अगर कोई अन्य व्यक्ति भी तुझे भले और बुरे कार्यों की पहचान कराना चाहे तो ध्यान नही देता। समझ लेना कि इस लोक से प्रयाण करने के बाद तेरे कृत-कर्मो का इन्साफ़ करने के लिये तेरा बाप नही आएगा जो तेरी इच्छा के अनुसार निर्णय दे देगा।

[illegible] यही है कि ससार के समस्त प्रेय पदार्थ पराधीन, [illegible] नियम है और इन्हे प्राप्त करने मे व्यक्ति का सारा जीवन [illegible] है। अन्त समय मे एक भी सम्बन्धी या एक भी वस्तु साथ [illegible] जाती है तो सिर्फ उसके पापो की पोटली, जिसे वह जीवन [illegible] बांधता है।

[illegible] व्यक्ति अपने जीवन को इस प्रकार मिट्टी के मोल नहीं [illegible] श्रेय को श्रेष्ठ मानता है और उसे ग्रहण करता है। [illegible] बन्धनभूत है, जबकि श्रेय स्वाधीन, अविनाशी, [illegible] का निमित्तभूत है।

[illegible], भोग ऐश्वर्य प्राप्त करना मनुष्य के आधीन नही होता [illegible] शांति, प्रेम और उदारता आदि गुणो को प्राप्त करना अपने [illegible] है। कोई मनुष्य अगर चाहे कि मुझे आज ही सौ रुपये मिले, तो [illegible] उसे रुपये नही मिल जाते। परन्तु अगर वह यह चाहे कि [illegible] हिंसा नही करना और आठ घटे मौन रखना है, तो वह यह कर सकता है, क्योंकि यह उसके हाथ की बात है। हिंसा न करना और मौन रहना उसके [illegible] है। मनुष्य को अपनी शक्ति अपनी आत्मा से प्राप्त करनी चाहिये। [illegible] गुणों को वह श्रेयस्कर मानता है, वे उसकी आत्मा की ही विभूतियाँ हैं। [illegible] गुणो के उत्कर्ष से वह अपनी आत्मा को परमात्मा बना सकता है। [illegible] आत्मा को जानना ही अपने सत्य रूप को जानना है। यही मनुष्यता का [illegible] है।

मनुष्य से भूल तब होती है, जब वह अपने स्वात्मरूप [illegible] होने के कारण अपने मन और शरीर को अपना स्वरूप [illegible] है। ऐसा समय लेने पर उसकी मनुष्यता खोई रहती है और पशुता [illegible] है। पशु की यही तो पहचान है कि वह अपनी देह को [illegible] रक्षा म लगा रहता है। उसे आत्मा की कोई अनुभूति नहीं होती [illegible] भी जब तक स्वात्मानुभूति नहीं होती, तब तक वह पशुवत [illegible] है। आत्मा के ज्ञान के अभाव मे वह दिग्भ्रमित होकर [illegible] रहता है तथा शारीरिक सुख और वासनाओ की तृप्ति के [illegible] स्वभाव के विरुद्ध आचरण करने लगता है। यह [illegible] नैतिक पतन का कारण है। उसे समझना चाहिये कि—

"बंधमोचनकर्ता तु स्वस्मादन्यो न [illegible]!"

—[illegible]

कर्मों का बंधन करने वाला और कर्मो से मुक्ति दिलाने वाला अपनी आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई नही है। इसीलिये कहते हैं—

"उद्धरेदात्मानमात्मना, मग्नं ससारवारिधौ।"

—विवेक चूडामणि

विषय कषायरूप ससार-सागर मे डूबी हुई अपनी इस आत्मा को आत्म-शक्ति द्वारा ही विषय-कषाय तथा वासनाओ पर विजय प्राप्त करके चरम विकास की ओर ले जाओ।

आत्मा को उन्नत बनाना आत्मा के ही आधीन है। अन्य कोई भी इसमे सहायक नही बनता और न ही बाधा डाल सकता है। आत्मा प्रेय वस्तुओ की तरह पराधीन नही है। इसकी उन्नति स्वय आत्मा करती है। वह किसी अन्य पर निर्भर नही रहती—

"The basis of all progress is self-realiance."

—सी० हम्फ्रेज

अर्थात्—समस्त उन्नति का आधार आत्म-निर्भरता है।

आत्मशक्ति को बढाने के लिये मनुष्य को आत्म-विश्वास जगाना चाहिये। विषय-वासनाओ के प्रति आसक्ति और क्रोध के आवेश को वश मे कर लेने पर आत्मबल बढता है, और यही सफलता का रहस्य है। जब मनुष्य आत्म-विश्वास खो बैठता है तो उसके पतन का सिरा खोजने पर भी नही मिलता। वह शक्तिमान् होकर भी कायर और विद्वान् होकर भी अपने को मूर्ख साबित करता है। शक्ति के विश्वास मे ही शक्ति होती है। आत्म-विश्वास की मात्रा मनुष्य मे जितनी अधिक होगी उतना ही उसका सम्बन्ध अनन्त जीवन और शक्ति के साथ गहरा होता जाएगा। उसे कभी भी यह न भूलना चाहिये कि मेरी आत्मा मे अनन्त शक्ति है और अनन्त ज्ञान भरा हुआ है, आवश्यकता सिर्फ उसे जानने और समझने की है।

एक बार शुकदेव अपने पिता वेदव्यास जी की आज्ञा से आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिये राजा जनक के यहाँ गए। वे जनक की मनोहर मिथिला नगरी मे से गुजरे किन्तु किसी भी वस्तु को देखकर आकृष्ट नही हुए। महल के दरवाजे पर जब पहुँचे तो द्वारपालो ने उन्हे वही रोक दिया। तीन दिन तक वे बाहर खडे हुए धूप, शीत, भूख और प्यास सहन करते रहे। किसी ने उन्हे बैठने के लिये भी नही कहा। अन्त मे चौथे दिन उन्हे छाया मे बैठा दिया था। वहाँ बैठे हुए भी वे आत्म-चिंतन करते रहे।

उसके पश्चात् उन्हे सम्मानपूर्वक महल मे पहुँचाया और भोजन कराया गया। भोजन करते समय परम सुन्दरी युवतियाँ उनके सामने नाचती-गाती रहीं। रात्रि को शयन करने के लिये भी आलीशान पलग और मनोरजन के लिय सुन्दरियों की विनोद लीला का प्रबन्ध किया गया था। किन्तु शुकदेवजी किंचित भी विचलित नही हुए। उन्होंने युवतियो की ओर आँख उठाकर भी नही देखा और अपने ध्यान मे मग्न रहे। तत्पश्चात् कुछ समय के लिये सो गए।

प्रात काल राजा जनक ने उन्हे बुलाया और अत्यन्त सम्मानपूर्वक बातचीत की। अन्त मे जनक ने कहा—"महामना! आप दुख-सुख, मान-अपमान, राग-रग आदि से पूर्ण विरक्त परमज्ञानी महात्मा हैं। बस कमी इतनी ही है कि आपको अपनी आत्म शक्ति पर विश्वास नही हैं, आप अपने मे कमी मानते है।"

राजा जनक के इस बोध से शुकदेवजी को पूर्ण आत्म-साक्षात्कार हो गया।

इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्म-शक्ति पर पूर्ण विश्वास होना चाहिये। उसे भली-भाँति समझना और जानना चाहिये कि—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत.॥

—गीता

अर्थात्—इस आत्मा को शस्त्र काट नही सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल भिगो नही सकता और पवन इसे सुखा नही सकता। अत मनुष्य अपनी सम्पूर्ण शक्ति से इसे पहचाने। आचार्यों का कथन हैं—

"य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपास. सत्यकामः सत्यसकल्प' सोन्वेष्टव्य स विजिज्ञासितव्य।"

—छान्दोग्योपनिषद्

अर्थात्—जो आत्मा पाप रहित, जरा रहित, मृत्यु रहित शोक रहित, भूख रहित, प्यास रहित, सत्य काम और सत्य सकल्प है उसे खोजना चाहिये, उसे जानने की इच्छा करनी चाहिये।

ऐसा करने पर ही मनुष्य सच्चे आनन्द का अनुभव कर सकता है। सुख-दुख देने वाली बाहरी चीजों पर आनन्द आधारित नहीं है। आनन्द सुख से भिन्न वस्तु है। धन मिलने पर मनुष्य सुख माने यह आनन्द नहीं, वरन् मोह है। इसके विपरीत दीन-दरिद्र होने पर भी अगर व्यक्ति चोरी या अन्य

किसी दूसरे प्रलोभन मे न पडे तो उस आत्म-सयम से जो सन्तुष्टि प्राप्त होती है वह आनन्द है।

मैंने, अभी आपको बताया है कि श्रेय स्वाधीन है, साथ ही अनश्वर है। समस्त सासारिक पदार्थ नश्वर होने से मनुष्य के लिये श्रेय नही हैं। तो जब भौतिक पदार्थ नश्वर हैं और वे या तो मनुष्य के जीवन-काल मे ही नष्ट हो जाते है, छीन लिये जाते हैं अथवा मृत्यु के साथ-साथ विवश होकर छोड देने पडते है तो उनसे विरक्त होकर मनुष्य स्वय ही उन्हे छोडकर श्रेय के उपार्जन मे लग जाए तो कितना उत्तम हो। विनश्वर पदार्थो की सुरक्षा के लिये जीवन भर भयभीत और आशंकित रहना कहाँ की बुद्धिमानी है।

गोरखनाथ ने इस बात को भली-भाँति समझ लिया था। एक बार वे अपने गुरू मच्छिन्द्रनाथ के साथ कही जा रहे थे। रास्ते मे गुरुजी ने अपनी झोली उन्हे ले चलने के लिये दे दी। गोरखनाथ को झोली भारी-भारी महसूस हुई। चुपके से देखा तो उसमे सोने की ईंटे दिखाई दी। गुरूजी को बताए बिना ही उन्होने शात भाव से सोने की ईटे फेक दी और पूर्ववत् चलते रहे।

काफी दूर चल चुकने पर गुरु ने मुडकर शिष्य की ओर देखा तथा पूछ लिया—"बेटा! हमे इस निर्जन वन मे से होकर चलना है। रास्ते मे कुछ भय तो नही है?"

गोरखनाथ मद-मद मुस्कराते हुए बोले—"गुरुजी, भय को तो मैं कभी का रास्ते मे ही फेक आया हूँ, आप निश्चित होकर चलिये।"

सपत्ति के मूल मे महा अनर्थ ही होता है। ससार मे जितने अत्याचार अनाचार आदि कुकर्म होते हैं उन सबका मूल कारण सपत्ति ही होती है। इसी के कारण लोभ, विद्वेष, क्रोध तथा अभिमान वगैरह दुर्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। धर्म के मूल मे विश्व-प्रेम होने पर भी अर्थ के कारण धर्म विद्वेष और असहिष्णुता का प्रसार होने लगता है। लोग धर्म की आड लेकर अपने स्वार्थों का पोषण करते हैं, तथा ऐसे लोग धर्म के अग-प्रत्यग को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं। परिणाम यह होता है कि धार्मिकता के साथ-साथ विश्व-बधुत्व पर कुठाराघात हो जाता है और व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को ही नही लूटता, वरन् एक राज्य भी दूसरे राज्य को हथियाने पर उतारू हो जाता है और लाखो व्यक्तियो के प्राण नाश का कारण बनता हैं। इस अनर्थ से बचने के लिये सर्व प्रथम मनुष्य को अर्थ के प्रति रहने वाली अकल्याणकारी तृष्णा का त्याग करना चाहिये। दरिद्री वह नही होता, जिसके पास धन की कमी हो, वरन् वह होता है जिसके हृदय मे तृष्णा का सागर हिलोरें लेता है। कहा भी गया है :—

को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः,
श्रीमाश्च को यस्य समस्ततोषः।

ससार मे दरिद्री वही है जिसकी तृष्णा विशाल है, और श्रीमान वह है जिसके हृदय मे पूर्ण सतोष विद्यमान है।

मनुष्य धन-दौलत इकट्ठी करके ही अपने को सुखी माने तो यह उसकी बडी भूल है। खाने के लिए अन्न और पहनने के लिए कपडे न होने पर भी मनुष्य परम सुख का अनुभव कर सकता है। यह आप, एक लघुकथा से समझ सकेंगे।

विदर्भ देश का राजा बडा उदास और दुखी रहता था। उसे प्रसन्नचित्त बनाने के बडे-बडे उपाय किये गए पर सब व्यर्थ चले गए। आखिरकार एक दार्शनिक ने राजा को आश्वासन देते हुए कहा कि अगर वे किसी पूर्ण सुखी व्यक्ति का कमीज, कुरता या जो कुछ भी वह पहनता हो मगाकर पहन ले तो पूर्ण आनन्द का अनुभव कर सकते हैं।

राज्यकर्मचारी सब दिशाओ मे दौडाए गए। पर कही भी पूर्ण सुखी व्यक्ति नही मिला। बडी खोज और तलाश के बाद किसी जगल मे भेडे चराता हुआ एक गडरिया मिला, उसने बताया कि मुझे कोई भी दुख नही है, मैं परम सुखी हूँ।

राजा को जब यह समाचार मिले, वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और शीघ्रातिशीघ्र गडरिये को दरबार मे लाने के लिये आज्ञा दी। राजाज्ञानुसार गडरिया दरबार मे लाया गया। पर राजा ने उससे अपने पहनने को कमीज मांगी तो वह छूटते ही बोला—

"महाराज, मेरे पास कमीज कुरता कहाँ से आया? मैं तो कभी ये सब पहनता ही नही। क्यू गा किसलिये?"

राजा चकित होकर उस परम सुखी मनुष्य को देखने लगा। पर शीघ्र ही उसे आनन्द का रहस्य समझ मे आ गया कि सासारिक वस्तुओ का कम से कम होना ही आनन्द का कारण है।

यथार्थ मे ही अगर मनुष्य सच्चे आनन्द का अनुभव करना चाहता है तो अधिक से अधिक त्यागमय वृत्तियाँ अपनानी चाहिये। प्रेय पदार्थों की प्राप्ति के लिये दूसरो को दुखी करना पडता है, दूसरो का अधिकार छीनना पडता है, अत वे बहुत विषम हैं, किन्तु मैत्री, करुणा और त्यागवृत्तियो को अपनाने वाले श्रेयोमार्गी को किसी से कुछ छीनना नही पडता, अत वे अविषम हैं।

प्रेयपंथा अधिकाधिक बंध से ग्रथित होता जाता है जब कि श्रेयमार्गी अहर्निश मुक्ति के मार्ग पर बढता चला जाता है ।

श्रेय का तीसरा सुख निराबाधता है। प्रेय के सुख को विष मिश्रित मिष्टान्न की उपमा दी गई है । मनुष्य अधिक खा ले तो अजीर्ण हो जाता है, अधिक भोग भोगे तो रोगो का भय पैदा हो जाता है। यही सब प्रेय प्राप्ति मे बाधाएँ हैं । किन्तु श्रेय के सुख मे कही कोई बाधा नही हैं । अहिंसा, सत्य, सयम और त्याग आदि निराबाध हैं । किसी विद्वान् ने कहा है :—

"Pleasure's coach is virtue's grave"

प्रेय का अभिलाषी मनुष्य अपने गुणो के लिये स्वय ही कब्र खोद लेता है । श्रेयोमार्गी के मार्ग मे कही भी प्रेय आ गए तो उसे कटक समझ कर दूर फेंक देना चाहिये । प्रेय साधक ससार मे अशान्ति उत्पन्न करने के कारण शाप रूप माना जाता है, जबकि श्रेय-साधक ससार मे शान्ति स्थापित करने के कारण आशीर्वाद रूप साबित होता है । प्रेय की साधना अर्थ और काम को साधना है, किन्तु श्रेय की साधना धर्म और मोक्ष की है । दीर्घ-दृष्टि पुरुष धर्म और मोक्ष की साधना के लिये श्रेय का मार्ग हो चुनता है । वह समस्त प्रेय पदार्थों को, बडे-बडे साम्राज्यो को भी ठोकर मारकर अनासक्त भाव से श्रेय की साधना मे लग जाता है । इसमे उसे वर्ष, मास या महीने नही लगते । भव्य जीव जीवन की छोटी सी घटना से ही चेत जाता है । राजा मुंज का हृदय-परिवर्तन इसीप्रकार हुआ था ।

राजकुमार भोज पिता की मृत्यु के समय बालक था । अत: राज्य का शासन उसके चाचा मुंज के हाथ मे आया । एक दिन एक सामुद्रिक शास्त्र के ज्ञाता ने मुंजराज के समीप बैठे हुए बालक भोज का हाथ देखा, और चकित होकर कहा—"यह राजकुमार भारत का महान् सम्राट बनेगा ।"

मुंजराज ने यह सुनते ही विचार किया—भोज के हाथ मे सत्ता आते ही राज्य मे मेरा कोई अस्तित्व नहीं रहेगा । मुझे 'न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी' वाली कहावत ही चरितार्थ करनी होगी । अगर भोज को अभी ही मरवा दिया जाय तो मेरी सत्ता निष्कटक हो जायेगी ।

बिना विलम्ब किये, मुंज ने षड्यन्त्र रच डाला और अपने एक अन्तरग मित्र को राजकुमार की हत्या करने का भार सौंप दिया । मित्र अत्यन्त दुखी , किन्तु राजाज्ञा का पालन करना अनिवार्य समझकर भोज को एक जगल ले गया ।

जब वे जंगल में पहुँचे, मुंज के मित्र ने भोज को उसके चाचा का आदेश बताया और अपनी अन्तिम इच्छा व्यक्त करने के लिये कहा। होनहार राजकुमार ने सिर्फ एक संदेश अपने चाचा को दे देने की इच्छा जाहिर की और एक पत्ते पर अपने रक्त से लिखा—

मान्धाता च महीपतिः कृतयुगाऽलंकारभूतो गतः,
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वाऽसौ दशास्यान्तकः।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते,
नैकेनापि समं गता वसुमती, नूनं त्वया यास्यति।

कृतयुग का अलंकाररूप मान्धाता जैसा प्रतापी राजा चला गया। समुद्र पर सेतु बाँधकर लंका को विजय करने वाले राम भी चले गए। युधिष्ठिर जैसे अनेक सम्राट और शूरमाओं का भी आज कहीं पता नहीं है। इस पृथ्वी पर लाखों आए और चले गए, किन्तु यह पृथ्वी किसी के साथ नहीं गई। चाचाजी! लगता है, यह पृथ्वी अर्थात् साम्राज्य आपके साथ अवश्य जाएगा।"

उत्सुकतावश मुंज के मित्र ने नन्हें राजकुमार का संदेश पढ़ लिया। किन्तु पढ़ते ही उसका दिल दहल गया और तलवार हाथ से छूट कर गिर पड़ी। वह सोचने लगा—इस होनहार कुमार को मारने से मुझे कितने घोर पाप का भागी बनना होगा? तुरन्त ही वह भोज को लौटा ले गया और किसी गुप्त स्थान में छिपा दिया।

मुंज के पास पहुँचकर मित्र ने अपना कार्य कर चुकने की झूठी सूचना दे दी और राजकुमार का लिखा हुआ संदेश उन्हें थमा दिया।

ज्योंही मुंजराजा ने श्लोक पढ़ा, उनकी आँखें खुल गईं और पश्चात्ताप की आग में हृदय जल उठा। उसी क्षण मुंज ने जीवित जलकर, अपने घोर पाप का प्रायश्चित्त करने का निश्चय कर लिया।

अवसर अनुकूल देखकर मित्र ने सही बात बता दी और मुंज को प्राण नष्ट करने से रोक दिया।

कथा का सार यही है कि संसार में मनुष्य का अस्तित्व कुछ नहीं है। कल जिनके नाम का डंका बजता था, आज उसके पीछे कोई आँसू बहाने वाला भी नहीं दिखाई देता—

जिनके हंगामों से थे, आबाद वीराने कभी।
शहर उनके मिट गये, आबादियाँ बन हो गईं॥

बन्धुओ, आपने समझ लिया होगा कि सृष्टि के समस्त प्रेय पदार्थों का नाश अवश्यभावी है। इसलिये मेरा यही कथन है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी दृष्टि प्रेय पदार्थों तक ही सीमित न रखकर उसे दूरदर्शी बनाए। और इसके लिये आवश्यक है कि वह श्रेय क्या है, इसे प्रारम्भ मे ही भली-भाँति समझ ले और तब उस पर अमल करे। किसी विद्वान् ने इस विषय मे कितने सुन्दर विचार व्यक्त किये हैं—

'In life as in chess, fore thought wins.'

अर्थात्—जैसे शतरज के खेल मे पहले से विचार कर चलने वाला जीतता है, उसी प्रकार जीवन के खेल मे भी दीर्घ-दृष्टि रखने वाला विजयी होती है।



२

बन्धन के दो रूप

मेरे कैदी भाइयो !

आज मुझे अचानक ही इस बंदीगृह में आने का और आप लोगों से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ है। सुअवसर इसे मैं नहीं कह सकती, क्योंकि मेरा मन नहीं चाहता कि कष्ट, दुख, ग्लानि, पश्चात्ताप आदि न जाने कैसी-कैसी भावनाओं से भरे हुए, इस व्यथापूर्ण वातावरण में एक भी प्राणी रहे। ऊँची-ऊँची अनेक चहारदीवारियों को पार करते हुए तथा लौह-निर्मित इन भारी भरकम तालों के खुलते और बंद होते हुए अनेक द्वारों में प्रवेश कर आज मैं जिस स्थान पर पहुँची हूँ, यहाँ कोई भी प्राणी कैद रहे, यह मेरा मन नहीं चाहता। मन तो यह चाहता है कि यह जेलखाना वीरान रहे, एक भी अपराधी यहाँ प्रवेश न करे, किसी भी द्वार पर ताला लगाने की अथवा पहरा देने की आवश्यकता न हो।

मुझे आप लोगों से गहरी सहानुभूति है। आप सब के प्रति उत्पन्न

समवेदना का भाव है। क्योंकि मैं जानती हूँ, आपसे जो अपराध बन पड़े हैं और जिन्हे पाप कहा जाता है वे किन्ही ऐसे कारणो से हुए हैं, ऐसी परिस्थितियो से पैदा हुए है जिनका मुकाबला आप नही कर सके। मुझे उन कारणो के प्रति क्षोभ है आप लोगो के प्रति नही। हमारा धर्म यही कहता है—

"Hate the sin, but love the sinner."

अर्थात् —पाप से घृणा करो किन्तु पापियो से स्नेह रखो।

किसी भी पापी से नफरत करना अथवा उस पर क्रोध करना मेरी दृष्टि मे पाप है। मनुष्य पाप करता है, या कोई अपराध करता है, किन्तु यह उसकी आत्मा का निजी स्वभाव नही है, वरन् उसकी बीमारी है। उसे दूर करने के लिये घृणा की आवश्यकता नही, स्नेह रूपी औषधि की आवश्यकता है। संसार मे जितने भी पाप हैं, उन सबसे बढकर पाप है मनुष्य का मनुष्य से घृणा करना, चाहे कोई कितना भी पापी क्या न हो। किसी को निन्दनीय मानने की प्रतिक्रिया यह होती है कि मानने वाले मे भी अनेक दोषो का जन्म हो जाता है और स्वय उसका जीवन निन्दनीय बन जाता है। किसी भी प्राणी को बुरा समझना भी कम बुराई नही है, वरन् बडी भयकर बुराई है।

मेरे कथन का अभिप्राय यह नही है कि मनुष्य दोषी व्यक्ति को दोषी न मानकर श्रद्धास्पद बना ले, किन्तु यह है कि उसे सर्वांश मे दोषी न माने तथा उसकी वर्तमान निर्दोषिता पर अपनी दृष्टि रखे। किसी का भूतकाल सदोष और वर्तमान निर्दोष हो सकता है। प्राणी के भूतकाल की सदोषता के साथ सहानुभूति रखते हुए उसकी वर्तमान की निर्दोषिता मे आस्था रखना मनुष्य का कर्त्तव्य है। ऐसा करने से दोषी व्यक्ति मे अपनी वर्तमान की निर्दोषिता के प्रति स्वत. प्रियता जागृत हो जाती है और वह नवीन दोषो का जन्म नहीं होने देती। वर्तमान की निर्दोषिता पर विश्वास होने से निर्दोषिता स्थायी रह सकती है और उसके आधार पर उसक अपराधी भावो का बडी सुगमता से नाश हो सकता है और नए अपराधो का उत्पन्न होना बद किया जा सकता है।

समस्त अपराधो की उत्पत्ति अविवेक से होती है। इस प्रकार अपराधों का जन्म अविवेक सिद्ध है, स्वभाव सिद्ध नही। अविवेक मनुष्य के विवेक पर [illegible] हो जाता है और उसे धूमिल बना देता है, किन्तु जब वह अपने विवेक को [illegible] लेता है, या उसका आदर करने लगता है तो शीघ्र ही उसे अपने कर्त्तव्य [illegible] बोध हो जाता है और उसकी अपराधी भावना क्षीण होती हुई भाग खडी

होती है। इसलिये किसी को दोषी ठहराने की अपेक्षा यह प्रयास किया जाना उत्तम है कि वह अपने दोषों को समझने और प्रकट करने मे समर्थ हो जाय। इस नीति को अपनाने वाले व्यक्ति किसी भी अपराधी के हृदय को निर्दोष बना सकते हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति अपराधी को दण्ड देकर प्रसन्न होते हैं, उसे बंदीगृह मे बंद करके अपने कर्त्तव्यपालन की इति श्री मानते हैं, वे अपराधी को सदा के लिये दोषी बनाए रखने का कारण बनते हैं। किसी को कैदखाने मे बंद करके कड़ा परिश्रम करवाने अथवा नाना प्रकार की यातनाएँ देने से उसका सुधार नही हो सकता। इसीप्रकार किसी को प्राण-दंड दे देने से भी अन्य अपराधियो पर अच्छा प्रभाव नही पडता। एकमात्र भय ही उनके हृदयो मे व्याप्त हो जाता है और वह नाना प्रकार के अन्य दोषो की सृष्टि करने लगता है। कुछ व्यक्ति भय की अधिकता के कारण अपने दिमाग का सतुलन खो बैठते हैं, कुछ आत्म-हत्या करने के प्रयास मे लग जाते हैं और कुछ साहसहीन बनकर कैद से छूट जाने के पश्चात् भी अपने को किसी भी अच्छे कार्य के करने मे असमर्थ पाते हैं। इसलिये प्रसिद्ध दार्शनिक वॉल्टेयर ने कहा है —

The punishment of criminals should be of use, when a man is hanged, he is good for nothing

अर्थात्—अपराधी के दण्ड में उपयोगिता होनी चाहिये। जब एक मनुष्य को फाँसी दे दी गई तो इसमें कोई लाभ नहीं।

अपराधो के कारण और उनको सुधारने के उपाय :

मनुष्य अनेक कारणो से अपराध करता है। किन्तु उन सबमे बड़ा कारण है जीवन निर्वाह के अनिवार्य साधनो का अभाव। जीवन निर्वाह के लिये मनुष्य को तन ढकने के लिए वस्त्र और पेट भरने के लिये रोटी मिलना अनिवार्य है। जब उसे ये साधन भी सुलभ नहीं होते तब वह चोरी करता है, डाके डालता है और हत्याएँ करने पर भी उतारू हो जाता है। वस्त्रो का अभाव तो किसी हद तक वह सहन कर लेता है, किन्तु रोटी का अभाव वह अधिक समय तक सहन नहीं कर पाता। और उसे विवश होकर चौर्य कर्म की ओर प्रवृत्त होना पड़ता है।

प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि चोरी करना पाप है। धर्म-शास्त्रो में भी इसे पाप और अधर्म कहा गया है। बताया गया है कि चोरी करना एक नैतिक अपराध है, जीवन का नैतिक पतन है। चोर को न इस लोक मे सुख

मिलता है और न परलोक मे। यहाँ वह अपयश, तिरस्कार एव कानूनी सजा प्राप्त करता है और जन्मान्तर मे उसे नरक की यातना सहनी पडती है। किन्तु धर्म के भय और मस्तक पर शासन-दण्ड के घूमते रहने पर भी मनुष्य चोरी करने से नही चूक पाता। शताब्दियो से देश की शासन व्यवस्था चोरी को अपराध घोषित करती चली आ रही है। प्रत्येक युग के शासक ने चौर्य-कर्म करने के लिये कठोर से कठोर दण्ड की व्यवस्था की है। इसके बावजूद भी चोरियाँ होती रही हैं, डाके पड़ते रहे हैं। घोर अपयश, तिरस्कार और दण्ड का भागी बन कर भी मनुष्य इस कलकित कार्य का त्याग नही कर सका।

इससे साबित हो जाता है कि मनुष्य सब कुछ सहन कर लेता है, किन्तु भूख को सहन नही कर सकता। अत्यधिक गरीबी और दरिद्रता के कारण वह अपनी जठराग्नि किसी भी तरह शान्त नही कर पाता और अपराधो की ओर प्रवृत्त हो जाता है। दरिद्रता जीवन का ऐसा अभिशाप है जो मनुष्य को विवेकहीन बना देती है और मनुष्य धीरे-धीरे एक के बाद एक कुकर्म करता हुआ अपने समस्त सद्गुणो को त्याग बैठता है। किसी ने सत्य कहा है —

एको हि दोषो गुणसन्निपाते,
निमज्जतीन्दोरिव यो बभाषे।
नूनं न दृष्टं कविनापि तेन,
दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी ॥

अर्थात्—एक दोष गुणो के समूह मे इस प्रकार छिप जाता है जिस प्रकार चन्द्रमा का कलक उसके गुणो मे छिप जाता है। यह बात कवि (कालीदास) ने कही थी, वह भी यह न देख सका कि दरिद्रता एक ऐसा दोष है जो गुणो के समूह का विनाश कर देती है।

अव हमे यह देखना है कि इसमे व्यक्ति का दोष है या समाज का? देश का शासक वर्ग यह नियम वनाता है कि अपराध करने वाले को दड मिलना चाहिए, चोरी करने वाले को सजा होनी चाहिये। किन्तु इसके साथ ही क्या उसका कर्त्तव्य यह नहीं है कि वह प्रत्यक व्यक्ति को आवश्यकताओ को पूरा करने का उत्तरादायित्व वहन करे। वह यह क्यो नही सोचता कि प्रत्येक व्यक्ति को यथोचित काम मिलना चाहिये।

देश मे वढती जाने वाली गरीवी का मुख्य कारण वेकारी है। आज हम ...ते हैं कि ऊँची-ऊँची डिगरियाँ प्राप्त करने वाले शिक्षित व्यक्ति भी कार्य

न मिलने के कारण बेकार घूमते हैं। एक-एक पाई जुटा कर किसी तरह बी० ए० या एम० ए० पास करके भी 'सर्विस' प्राप्त न कर पाने के कारण साठ रुपये का चपरासी बनने को विवश हो जाते हैं। क्या करें? उनका अपना और परिवार के अन्य व्यक्तियों का पेट तो रोटी माँगता ही है। चौदह सितम्बर, सन् १९६२ के 'हिन्दुस्तान में एक समाचार प्रकाशित हुआ था जिसका शीर्षक था 'रोटी की चोरी'। उसमें बताया गया था कि कुछ बेकार नौजवान भूख से इतने दुखी और परेशान हैं कि वे घरों में घुसकर रोटियाँ चुरा लेते हैं।

जिस देश की शासन व्यवस्था में व्यक्ति को अपनी जठराग्नि शान्त करने के लिये रोटियाँ भी चुराकर खानी पड़ती हों, माँगने पर भी काम नहीं मिलता हो, और सम्मानपूर्वक जीविका उपार्जन करने की सुविधाएँ प्राप्त न होती हों उस देश में चोरी, डकैती जैसे अपराध क्यों नहीं होंगे? और ये बंदीगृह कैसे खाली रहेंगे?

हमारी भारतीय-संस्कृति के विचारकों ने तो उन सभी व्यक्तियों को चोर बताया है, जो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने योग्य धन से अधिक एक पैसा भी अपने पास रखते हैं —

यावद्भ्रियेत जठरं, तावत् सत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत, स स्तेनो दण्डमर्हति॥

—श्रीमद्भागवत

भावार्थ यही है कि अपनी पेट पूर्ति और देह का पोषण करने के लिये पर्याप्त हो उतने ही धन को मनुष्य आकांक्षा रखे, उससे अधिक अगर वह चाहता है तो एक चोर के समान दण्डित होने के योग्य है।

मनुष्य को उतना ही संग्रह करने का अधिकार है, जितने से वह स्वयं भूखा न रहे और दूसरे को भी भूखा न रहना पड़े। जो समाज या शासक-वर्ग देश के अन्य व्यक्तियों के अभाव की परवाह न करके केवल अपनी स्वार्थ-पूर्ति का ही प्रयत्न करता है, वह किसी चोर से कम नहीं है। वह भी उतने ही दंड का भागी है जितना दंड कोई चोर किसी व्यक्ति के घर में घुसकर चोरी करने के फलस्वरूप पाता है। ऐसे व्यक्तियों को उन महापुरुषों के जीवन से शिक्षा लेनी चाहिये, जिन्होंने शासक होते हुए भी अपने को प्रजा का सेवक समझा और राजकोष पर अधिकार होते हुए भी अपने को उस धन का ट्रस्टी माना।

मिलता है और न परलोक मे। यहाँ वह अपयश, तिरस्कार एव कानूनी सजा प्राप्त करता है और जन्मान्तर मे उसे नरक की यातना सहनी पडती है। किन्तु धर्म के भय और मस्तक पर शासन-दण्ड के घूमते रहने पर भी मनुष्य चोरी करने से नही चूक पाता। शताब्दियो से देश की शासन व्यवस्था चोरी को अपराध घोषित करती चली आ रही है। प्रत्येक युग के शासक ने चौर्य-कर्म करने के लिये कठोर से कठोर दण्ड की व्यवस्था की है। इसके बावजूद भी चोरियाँ होती रही हैं, डाके पडते रहे हैं। घोर अपयश, तिरस्कार और दण्ड का भागी बन कर भी मनुष्य इस कलकित कार्य का त्याग नही कर सका।

इससे साबित हो जाता है कि मनुष्य सब कुछ सहन कर लेता है, किन्तु भूख को सहन नही कर सकता। अत्यधिक गरीबी और दरिद्रता के कारण वह अपनी जठराग्नि किसी भी तरह शान्त नही कर पाता और अपराधो की ओर प्रवृत्त हो जाता है। दरिद्रता जीवन का ऐसा अभिशाप है जो मनुष्य को विवेकहीन बना देती है और मनुष्य धीरे-धीरे एक के बाद एक कुकर्म करता हुआ अपने समस्त सद्‌गुणो को त्याग बैठता है। किसी ने सत्य कहा है —

एको हि दोषो गुणसन्निपाते,
निमज्जतीन्दोरिव यो बभाषे।
नूनं न दृष्ट कविनापि तेन,
दारिद्रयदोषो गुणराशिनाशी॥

अर्थात्—एक दोष गुणो के समूह मे इस प्रकार छिप जाता है जिस प्रकार चन्द्रमा का कलक उसके गुणो मे छिप जाता है। यह बात कवि (कालीदास) ने कही थी, वह भी यह न देख सका कि दरिद्रता एक ऐसा दोष है जो गुणो के समूह का विनाश कर देती है।

अब हमे यह देखना है कि इसमे व्यक्ति का दोष है या समाज का ? देश का शासक वर्ग यह नियम बनाता है कि अपराध करने वाले को दड मिलना चाहिए, चोरी करने वाले को सजा होनी चाहिये। किन्तु इसके साथ ही क्या उसका कर्त्तव्य यह नही है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यकताओ को पूरा करने का उत्तरादायित्व वहन करे। वह यह क्यो नही सोचता कि प्रत्येक व्यक्ति को यथोचित काम मिलना चाहिये।

देश मे बढती जाने वाली गरीबी का मुख्य कारण बेकारी है। आज हम ते हैं कि ऊँची-ऊँची डिगरियाँ प्राप्त करने वाले शिक्षित व्यक्ति भी कार्य

न मिलने के कारण वेकार घूमते हैं। एक-एक पाई जुटा कर किसी तरह वी० ए० या एम० ए० पास करके भी 'सर्विस' प्राप्त न कर पाने के कारण साठ रुपये का चपरासी बनने को विवश हो जाते हैं। क्या करे ? उनका अपना और परिवार के अन्य व्यक्तियो का पेट तो रोटी मॉंगता ही है। चौदह सितम्बर, सन् १९६२ के 'हिन्दुस्तान मे एक समाचार प्रकाशित हुआ था जिसका शीर्षक था **'रोटी की चोरी'**। उसमे बताया गया था कि कुछ वेकार नौजवान भूख से इतने दुखी और परेशान हैं कि वे घरो मे घुसकर रोटियाँ चुरा लेते हैं।

जिस देश की शासन व्यवस्था मे व्यक्ति को अपनी जठराग्नि शान्त करने के लिये रोटियां भी चुराकर खानी पडती हो, मॉंगने पर भी काम नही मिलता हो, और सम्मानपूर्वक जीविका उपार्जन करने की सुविधाएँ प्राप्त न होती हो उस देश मे चोरी, डकैती जैसे अपराध क्यो नही होगे ? और ये वदीगृह कैसे खाली रहेगे ?

हमारी भारतीय-सस्कृति के विचारको ने तो उन सभी व्यक्तियो को चोर वताया है, जो अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करने योग्य धन से अधिक एक पैसा भी अपने पास रखते है —

यावद्भ्रियेत जठर, तावत् सत्व हि देहिनाम्।
अधिक योऽभिमन्येत, स· स्तेनो दण्डमर्हति ॥

—श्रीमद्भागवत

भावार्थ यही है कि अपनी पेट पूर्ति और देह का पोषण करने के लिये पर्याप्त हो उतने ही धन को मनुष्य आकाक्षा रखे, उससे अधिक अगर वह चाहता है तो एक चोर के समान दण्डित होने के योग्य है।

मनुष्य को उतना ही सग्रह करने का अधिकार है, जितने से वह स्वय भूखा न रहे और दूसरे को भी भूखा न रहना पडे। जो समाज या शासक-वर्ग देश के अन्य व्यक्तियो के अभाव का परवाह न करके केवल अपनी स्वार्थ-पूर्ति का ही प्रयत्न करता है, वह किसी चोर से कम नही है। वह भी उतने ही दड का भागी है जितना दड कोई चोर किसी व्यक्ति के घर मे घुसकर चोरी करने के फलस्वरूप पाता है। ऐसे व्यक्तियो को उन महापुरुषो के जीवन से शिक्षा लेनी चाहिये, जिन्होंने शासक होते हुए भी अपने को प्रजा का सेवक समझा और राज्यकोष पर अधिकार होते हुए भी अपने को उस धन का ट्रस्टी माना।

गुलामवश के नासिरुद्दीन बादशाह अत्यन्त सच्चरित्र और वृत्ति के शासक थे। बादशाह होने पर भी उन्होंने कभी एक पाई भी राज्यकोष से नही ली। अपना और अपने परिवार का जीवन-निर्वाह वे पुस्तके लिखकर किया करते थे। उनकी बेगम अपने हाथ से ही समस्त घरेलू कार्य किया करती थी।

एक बार भोजन बनाते समय बेगम का हाथ जल गया और वह भोजन बनाने मे असमर्थ हो गई। तब बादशाह से उसने प्रार्थना की कि जब तक हाथ ठीक न हो जाय, कुछ दिनो के लिये एक रसोइया रख दे। किन्तु बादशाह ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नही किया और ऐसा करने के इन्कार कर दिया।

बादशाह ने कहा—'बेगम! मेरा राज्यकोष पर कोई अधिकार नही है, वह तो प्रजा की धरोहर के रूप मे मेरे पास है। उसमे से तो एक पाई भी मैं खर्च नही कर सकता और मेरी आय से अपन परिवार का जीवन निर्वाह भी कठिनाई से हो पाता है। फिर बताओ, रसोइया कैसे रखूं?"

बेगम निरुत्तर हो गई और फिर कभी उसने नौकर रखने के लिये नही कहा।

आशय यही है कि समाज के किसी भी व्यक्ति को, यहाँ तक कि देश के शासक को भी, अपनी आवश्यकता के अतिरिक्त धन-सचय करके अपनी प्रजा के अभावो को नही बढाना चाहिये।

धन के अभाव की तरह ज्ञान के अभाव मे भी अपराधो की सृष्टि अधिक होती है। अत देश का शासक-वर्ग अगर चाहता है कि मनुष्य अपराध न करे और कानून का उल्लघन कर बदीगृहो की शोभा न बढाये तो उसे देश के प्रत्येक बालक के लिए प्रारम्भ से ही उचित शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिये।

शैशवावस्था से ही अगर बालक मे उचित सस्कार डाले जायँ, तो वह आगे चलकर अपने कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य को समझ सकता है। अपने विवेक को जगा सकता है। ज्ञान के द्वारा ही अविवेक का पलायन होता है और निर्मल भावनाओ का आगमन।

दीर्घदृष्टि से देखने पर हमे विश्व मे दो प्रकार के प्राणी ही दिखाई देते हैं—ज्ञानी और अज्ञानी। ज्ञानी पुरुष विचार और विवेक से युक्त होते हैं जो कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य के अन्तर को समझकर अपने कल्याण का मार्ग खोज लेते हैं और उस पर चलने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु अज्ञानी व्यक्ति विपरीत होते हैं। अपने अविवेक के कारण वे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य तथा

पुण्य और पाप मे अन्तर नही कर पाते, तथा उनके परिणामों मे विश्वास नही करते। फल यह होता है कि निरंतर अपराधों की सृष्टि करते रहने पर भी उन्हे कोई विशेष भय नही होता। तथा आत्मा और अनात्मा का विवेक न होने से अगले भव मे पापो के फलस्वरूप होने वाले दुखो पर विश्वास नही होता। किन्तु अगर मनुष्य के हृदय मे ज्ञान का आलोक भर जाय तो वह सहज ही पूर्वकृत पाप और पुण्य के परिणाम स्वरूप प्राप्त हुए फलों को समझ सकता है और भविष्य मे मिलने वाले पाप कर्मो के फलो से भयभीत होकर वर्तमान मे पापो से बच सकता है। हमारे धर्म ग्रन्थों मे हा कभी है —

ज्ञान तृतीयं पुरुषस्य नेत्रं।

—सुभाषित रत्न सदोह

मनुष्य अपने दोनो चर्म-चक्षुओं से तो केवल वर्तमान मे उपस्थित भौतिक पदार्थो को ही देख सकता है, किन्तु उसका एक ज्ञान-रूपी तीसरा नेत्र ऐसा है, जिसके द्वारा वह तीनो काल की घटनाओ को जान सकता है।

वास्तव मे, मनुष्य के अन्दर ज्ञान नामक जो चेतना-शील तत्त्व है उसकी तुलना संसार की किसी भी वस्तु से नही हो सकती। ज्ञान ही मन के समस्त विकारो का नाश करके बुद्धि को निर्मल और पवित्र बना सकता है। गीता मे भी बताया है —

"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।"

—भगवत्-गीता

इस विशाल विश्व मे ज्ञान के समान पवित्र पदार्थ दूसरा कोई भी नही है।

भाइयो! आशा है मेरी बातों को समझने मे आप लोगो को कोई कठिनाई नही होती होगी। मेरा तात्पर्य यही है कि मानव मात्र को ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। किन्तु ज्ञान प्राप्त करने का अर्थ आप लोग सिर्फ मोटी मोटी किताबे पढ लेना ही न समझ। भले ही कोई मनुष्य बडा पडित हो, तर्क कर सकता हो, व्याख्यान दे सकता हो और शास्त्रार्थ की कला मे कुशल हो, फिर भी यदि वह आत्मा की अनश्वरता मे विश्वास न करता हो, सत्यो मे श्रद्धा न रखता हो और विवेकपूर्वक कल्याण-मार्ग पर नही चलता हो, तो वह ज्ञानी नही। वह अज्ञानियों की श्रेणी मे ही गिना जाएगा।

इसके विपरीत, जो ज्ञानी है वह आत्मा को शाश्वत अर्थात् कभी नष्ट न होने वाली मानता है, पाप और पुण्य के फल पर विश्वास करता है और

उपर्युक्त पद्य से ज्ञान की महिमा भली-भाँति जानी जा सकती है। ज्ञान के द्वारा मनुष्य लौकिक तथा लोकोत्तर सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। ज्ञान के द्वारा ही वह कर्त्तव्य अकर्त्तव्य की पहचान कर सकता है और अविवेक का नाश करके अहिंसामय निर्मल चरित्र का पालन कर सकता है।

संसार में जो भी अपराध होता है, उसको करने वाले में हिंसा की भावना अदृश्य रूप से काम करती है। अतः अगर समाज और देश चाहता है कि अपराधों की संख्या कम हो जाए तो प्रत्येक देशवासी के हृदय में, और विशेषतः सजा प्राप्त अपराधी के हृदय में निहित अहिंसा की भावनाओं को जगा देना चाहिए।

सम्भवतः सजा पाने से पहले आप लोगों में से किसी ने चोरी की होगी, धोखेबाजी से किसी का धन हड़प लिया होगा, हो सकता है किसी ने मारपीट की हो या अत्यधिक आवेश में आकर किसी की हत्या कर डाली हो, इन सभी अपराधों का कारण हिंसा की भावना ही है। हिंसा सिर्फ किसी का वध कर देने को नहीं कहते वरन् किसी भी प्राणी के प्रति अशुभ भावना रखने को अथवा वाणी से भी किसी को दुर्वचन कहकर उसका हृदय दुखाना भी हिंसा है। संक्षेप में मन, वचन और शरीर इन तीनों के द्वारा किसी भी प्राणी का अशुभ करना हिंसा है।

जैन शास्त्रों में अहिंसा की जितनी गहन और सूक्ष्म विवेचना की गई है उतनी अन्य किसी धर्मग्रन्थ में नहीं मिलती। अन्य मतों ने अहिंसा को केवल साधारण रूप देकर ही समाप्त कर दिया है, किन्तु जैन-धर्म का अहिंसातत्त्व उनसे बहुत आगे बढ़ा हुआ है। वह शारीरिक से आगे वाचिक और मानसिक होता हुआ आत्मिक तक बन गया है। अन्य धर्मों ने अहिंसा की सीमा प्रायः मनुष्य जाति तक और अधिक हुआ तो पशु पक्षियों तक मानी है किन्तु जैन-धर्म की अहिंसा की कोई मर्यादा नहीं है। इसमें तो विश्व के समस्त चराचर जीवों का समावेश हो जाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि जैन-धर्म में अहिंसा की बड़ी भारी महिमा मानी गई है तथा इसे समस्त सद्गुणों का मूल माना है। कहा भी है —

"सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता।"

—शुभचन्द्राचार्य

सत्य, शीलव्रत, व्रत-नियम आदि सभी सात्त्विक प्रवृत्तियों की माता अहिंसा ही है।

प्रथम बार जेल जाकर अन्य कार्यों को पूरा करने में असमर्थ रहते हैं। इसका सबसे बड़ा कारण है, बंदीगृह में अप्रशिक्षित और हृदयहीन अधिकारियों की नियुक्ति। ऐसे अधिकारी अपराधियों से अमानुषिक और निर्दयतापूर्ण व्यवहार करते हैं। परिणाम यह होता है कि भय के कारण अपराधी की आत्मशक्ति क्षीण हो जाती है और वह अपने आपको भले लोगों की श्रेणी में देखने की कल्पना नहीं कर सकता। वह कैदखाने से बाहर आकर भी हीन लोगों की संगति में रहता हुआ पुनः अपराधों में प्रवृत्त हो जाता है।

बंदीगृहों की इस दोषपूर्ण व्यवस्था के कारण आज के युग में कुछ नवीन उपाय किये जा रहे हैं, जिनसे अपराधियों का हृदय परिवर्तन किया जा सके और वे पुनः अपराध करने में प्रवृत्त न हों। उन उपायों में से एक यह है कि न्यायालय द्वारा दंडित अपराधी जेलखाने में न भेजा जाकर कुछ शर्तों पर समाज में ही रहने दिया जाता है। इस विधि को 'प्रोबेशन' कहते हैं। प्रोबेशन का उद्देश्य यह है कि दोषी को कुछ समय तक अवसर दिया जाय जिसमें वह अपनी की हुई भूलों और अपराधों का प्रायश्चित्त करके अगले जीवन को निर्दोष बनाने का प्रयत्न करे।

इस काल में दोषी 'प्रोबेशन' व्यवस्था में नियुक्त एक जिम्मेदार व्यक्ति की देख-रेख में रखा जाता है। यह व्यक्ति अपने सौजन्य और कुशलता के द्वारा दोषी का सुधार करने का प्रयत्न करता है। हर संभव उपाय द्वारा वह अपराधी को समाज का एक भद्र नागरिक बनाने की कोशिश करता है तथा आवश्यकता होने पर उसे रोजगार दिलाने का प्रयत्न भी करता है। अपने संरक्षण में रखकर वह रक्षाकर्ता अपराधी को उसकी दोषपूर्ण प्रवृत्ति के उत्पन्न होने के कारण समझाता है और उनके निरोध के उपाय भी। उसका सर्वप्रथम कार्य होता है दोषी की आत्मग्लानि को मिटाना। अपने निष्कपट स्नेह द्वारा वह दोषी को भय मुक्त करता है और उसमें अच्छे संस्कार डालकर उसके हृदय को शुद्ध बनाता है। इस व्यवस्था का परिणाम काफी अच्छा रहा है। संसार की [illegible] सभी प्रगतिशील सरकारों ने इस प्रणाली को अपनाया है। भारतवर्ष में भी कई राज्यों में, विशेषकर बम्बई और उत्तर प्रदेश में यह प्रणाली सफलता पूर्वक लागू कर दी है।

प्रोबेशन-व्यवस्था के अतिरिक्त और देशों में नये प्रकार के बंदीगृह बनाये गये हैं। इन आदर्श बंदीगृहों में चहारदीवारी [illegible] नहीं होती, [illegible] के [illegible] हुई [illegible] भी होतीं और न [illegible]

लिये विशालकाय फाटक ही होते हैं, जैसे हम अभी देख आये हैं। इन बदीगृहो मे बदियो को विश्वास से जीता जाता है, विश्वास के द्वारा ही इनका सुधार किया जाता है।

नए तरीके के ऐसे प्राचीर विहीन बदीगृहो का प्रारम्भ इगलैण्ड मे सन् १९३३ मे हुआ था। वहाँ पर जिस बदीगृह का निर्माण किया गया था उसका नाम था 'न्यू हॉल कैम्प।' वेकफील्ड से बदी लारियो मे इस स्थान पर लाये जाते थे। धीरे-धीरे उस स्थान पर बदियो ने स्वय ही एक सडक का निर्माण किया और फिर झोपडियाँ तथा घर बनाए जिनमे वे रहने लगे। न वहाँ कैदियो को भागने से रोकने के लिये ऊँची दीवारे थी और न बन्दूकधारी पहरेदार। सिर्फ बदीगृह के पाँच अधिकारी उनके साथ रहते थे। बदीगृह की सीमा निर्धारित करने के लिये पेडो पर श्वेत निशान बना दिये गये थे। उस 'न्यू हॉल कैम्प' नामक बदीगृह से पन्द्रह वर्ष मे सिर्फ एक बदी भागा था। रूस, स्वीडन, टर्की आदि अनेक देशो मे ऐसे बदीगृह खोले गये हैं और उनसे लाभ उठाया जा रहा है। हमारे भारतवर्ष मे भी डॉक्टर सम्पूर्णानन्द के प्रयत्न से ऐसे अनेक शिविरो अर्थात् बंदीगृहो की स्थापना की गई है। बनारस जिले मे 'नवगढ' तथा उत्तर प्रदेश मे 'पीलीभीत' मे ऐसे बन्दीगृहो की स्थापना के प्रयत्न हुए हैं। 'लखनऊ' मे भी ऐसा ही एक आदर्श बदीगृह है, जहाँ बन्दी स्वतन्त्रता से रह सकते हैं। वहाँ उन्हे अनेक सुविधाएँ प्राप्त हैं। यहाँ तक कि मनोरजन करने के लिये नाटक आदि खेलने की भी व्यवस्था की जाती है। कभी-कभी बन्दियो को शहर मे भी जाने दिया जाता है।

बन्धुओ! यह सब बताने का तात्पर्य यही है कि आप लोग अपने जीवन से कदापि निराश न हो। यद्यपि यहाँ आप लोगो को आदर्श बन्दीगृहो के समान सुविधाये प्राप्त नही हैं और न उतना सुधार करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु कुछ नही किया जाता, यह भी नही कहा जा सकता है। यहाँ के अधिकारियो के हृदयो मे भी आप लोगो से पूर्ण सहानुभूति है तथा वे हृदय से चाहते हैं कि आपका भविष्य अच्छा बने। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मेरा यहाँ आना है। मुझे यहाँ आने का तथा आप लोगो से कुछ कहने का आग्रह इसीलिये किया गया है कि मेरे इस थोडे से कथन का भी आप लोग लाभ उठाएँ और आगामी क्षण से ही अपने जीवन को सुन्दरतम बनाने का प्रयत्न करे। यह कोई बडा कठिन और बडा समय लेने वाला कार्य नही है। अगर मनुष्य चाहे तो क्षण मात्र मे ही मन के समस्त दोषो और विकारो का त्याग कर सकता है। हमारे धर्मग्रन्थो मे भी स्पष्ट बताया गया है —

"य नरकमों क्षणार्धेन नयेद्वा मोक्षमेव च ।"

—योगशास्त्र

अर्थात्—मनोबल इतना प्रबल होता है कि जिस आधे क्षण में मानव नरक के योग्य कर्म का बन्ध कर सकता है, उसी आधे क्षण में कर्मों का सम्पूर्णतः नाश करके मोक्ष की प्राप्ति भी की जा सकती है।

इसलिए मेरे बंधुओ! आप लोगों के लिये निराश होने का कोई कारण नहीं है। अगर आप यह सोचते हैं कि अब हमारा जीवन बन नहीं सकता तो ऐसा सोचना भारी भूल है। आप यह निश्चय मानिये कि आत्मा जब भी जागे तभी उसके लिये सवेरा है। जिस क्षण भी आपको अपनी पूर्वकृत भूलों के लिये हृदय में पश्चात्ताप होने लगे, उसी क्षण से पूर्ण विश्वास पूर्वक आत्मा को पवित्र बनाने वाले मार्ग पर चल देना चाहिये। इतिहास हमें बताता है कि अनेकानेक क्रूर और पापी व्यक्तियों ने भी क्षणमात्र में ही अपने मन को कुकर्मों से मोड़कर उसे धर्म पथ पर चलाया और समस्त कर्म बन्धनों से मुक्त होकर अनन्त सुख की प्राप्ति की।

अर्जुनमाली नाम का एक ऐसा ही पापी व्यक्ति था, जो प्रतिदिन छह पुरुष और एक स्त्री की हत्या करके अपने पाप के घड़े को निरन्तर भरता चला जा रहा था। किन्तु भगवान महावीर के एक दिन के समागम से ही उसका हृदय-परिवर्तन हो गया और उसने क्षमावान साधु बनकर अपनी आत्मा का कल्याण कर लिया।

तात्पर्य यही है कि मनुष्य को धर्म-मार्ग पर चलने के लिये न समय की आवश्यकता है, न धन की और न ही प्रकाण्ड विद्वत्ता की। केवल उसे पवित्र होकर चलाने के लिए मन की आवश्यकता होती है। धन-सम्पत्ति के अम्बार पर बैठा हुआ व्यक्ति भी सातवें नरक, निगोद आदि चौरासी लाख योनियों में भटकता रह सकता है, जबकि एक पवित्रात्मा फकीर अपने कर्मों का क्षय करके क्षणमात्र में मुक्त हो जाता है। आत्मा की शुद्धि मुख्यतः भावों पर निर्भर होती है। सांसारिक वस्तुओं पर आसक्ति न होना और मन का प्रशान्त होना।

जब तक भौतिक वस्तुओं पर मनुष्य की आसक्ति बनी रहती है तब तक न तो अहिंसा और अचौर्य व्रत का पालन नहीं किया जा सकता। भोग-विलास के साधनों को इकट्ठा करने के लिये धन की आवश्यकता होती है और धन का अधिकाधिक संग्रह करने की प्रवृत्ति बेईमानी, अन्याय तथा अनैतिकता की ओर

प्रेरित करती है। परिणाम यह होता है कि आत्मा हलकी होकर मुक्त होने के वदले अनेक अवगुणो से उत्पन्न पापो के बोझ से भारी होती चली जाती है। किन्तु भव्य प्राणी जो होते हैं वे अर्थ को अनर्थ का कारण मानते हैं और उसके सचय को पाप समझते हैं।

प्राचीन काल मे ईरान मे शाहजूसा नामक एक अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। राजकुल से सम्बन्धित होने पर भी उनके विचार अत्यन्त पवित्र और उच्च थे। उन्ही के समान विचार रखने वाली उनके एक पुत्री थी। पुत्री के विवाह योग्य होने पर किसी राजा ने उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट की। किन्तु शाहजूसा ने उत्तर दिया—'मुझे अपनी कन्या के लिये राजा नही, त्यागी पुरुष चाहिये।' कुछ काल व्यतीत होने पर शाहजूसा ने एक फकीर को देखा और उससे पूछा—'क्या तुम अपना विवाह करना चाहते हो ?'

फकीर ने उत्तर दिया—' विवाह तो करना चाहता हूँ। पर मुझे लडकी देगा कौन ? मेरे पास दौलत के नाम पर सिर्फ तीन पैसे ही हैं।"

शाहजूसा ने कहा—"तुम तीन पैसो से कुंकुम और अगरबत्ती ले आओ, मैं अपनी पुत्री का विवाह तुम्हारे साथ कर दूँगा।"

फकीर सामग्री ले आया और शाहजूसा की कन्या से विवाह करके उसे अपने साथ ले चला। अपनी झोपडी के द्वार पर आकर उसने लडकी को अन्दर चलने के लिये कहा। किन्तु झोपडी के खुले दरवाजे पर दृष्टि डालते ही लडकी ने कहा—'मैं यहाँ नही रह सकती।'

फकीर बोला—'यह तो मैं पहले ही जानता था कि तुम राजघराने की होकर इस झोपडी मे कैसे रह सकोगी ?'

कन्या ने कहा—'मैं तुम्हारी झोपडी देखकर नही डरती, मुझे तो वह सामने पडी रोटी देखकर डर लग रहा है। क्या तुम्हे कल का भरोसा नही है, जिससे यह रोटी रख छोडी है ?'

फकीर ने कुछ चकित और मलिन होते हुए कहा—'यह रोटी तो कल बच गई थी इसलिये रख दी थी।'

सतेज कन्या ने तपाक से कहा—'बच गई थी तो किसी भूखे को दे देते।'

फकीर ने अपनी भूल महसूस की और उसी समय रोटी किसी जरूरतमंद को दे दी। कन्या यह देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुई और उसने सहर्ष झोपडी

में प्रवेश किया। धन के प्रति अनासक्त भाव था और दूसरे शब्दों में अपरिग्रह का कितना सुन्दर उदाहरण है। सन्त फ्रांसिस भी एक ऐसा ही अपरिग्रही व्यक्ति था। एक दिन उनके मठ में किसी दर्शनार्थी का एक पैसा जमीन पर गिर गया। सन्त फ्रांसिस के किसी शिष्य ने उसे उठाकर ऊपर रख दिया। यह देखकर फ्रांसिस ने नाराज होकर शिष्य से कहा—'इस पैसे को तुमने हाथों से उठाकर ऊपर रखा है पर अब अपने दाँतों से पकड़कर बाहर फेंको, छुओ मत!' वास्तव में पैसे या पूँजी को भी स्पर्श न करने वाले प्राणियों की संसार में कमी नहीं है। जो इन पर तनिक भी आसक्ति नहीं रखते, ऐसे व्यक्ति ही मन को पवित्र बना सकते हैं।

मन को शुद्ध बनाने का दूसरा उपाय है क्षमाभाव धारण करना। आप लोगों में से अनेक व्यक्ति ऐसे होंगे जिन्होंने क्रोधावेश में आकर अपराध किये होंगे। कितना अच्छा होता, अगर आपने अपने प्रति दुर्व्यवहार करने वाले को क्षमा कर दिया होता। तो फिर इस कचहरी में आकर अनेक तकलीफों को सहन करने की आवश्यकता ही न पड़ती। यदि मानव के पास क्षमा का शस्त्र हो तो फिर दूसरे हथियारों की आवश्यकता नहीं रहती। क्षमा के द्वारा ही वह अपने विरोधी पर विजय प्राप्त कर सकता है। कोई भी क्रोध के द्वारा क्रोध को नहीं जीत सकता। 'वैर से वैर नहीं जीता जा सकता' यह शाश्वत नियम है। क्रोध मन का बड़ा भारी विकार है, मन का कचरा है। हमें सदा यह प्रयत्न करना चाहिए कि यह कचरा मन से बाहर निकल जाय। कोई व्यक्ति अगर हमारे मन के अनुसार कार्य करता है तो हम अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। वही अगर कोई दूसरा व्यक्ति हम पर क्रोध करे और हमारे हृदय का क्रोध भी भड़क उठे तो यह हमें उचित नहीं होना चाहिए [illegible] हमारा अहंकार हमारे क्रोध को शान्त नहीं होने देता। अहंकार के वशीभूत होकर ही प्राणी नाना प्रकार के दुष्कर्म करता है। गालियों की बौछार, मारपीट, यहाँ तक कि हत्या भी कर डालता है। परिणाम यह होता है कि इस जीवन में तो वर्षों कैदखाने में दिन बिताने ही पड़ते हैं, आगामी जन्मों में भी [illegible]

[illegible] नारदजी [illegible] विद्या और बुद्धि— [illegible] नारदजी ने [illegible]

पूर्वक कहा—'मैं वर्षों से घोर तपस्या कर रहा हूँ। आप ब्रह्माजी से पूछियेगा कि मुझे मुक्ति कब मिलेगी ?'

'नारायण, नारायण' कहते हुए नारदजी ब्रह्मलोक मे पहुँचे। ब्रह्माजी से उन्होंने तपस्वी के प्रश्न का उत्तर माँगा। ब्रह्मा जी ने अपने वहीखातों की ओर इशारा करते हुए कहा—ये चौपडे पडे हैं। आप स्वय ही देख लीजिये। जहाँ उसका नाम होगा वही मुक्ति के विषय मे भी लिखा होगा।

नारदजी ने सारे वहीखाते छान डाले पर कही भी उस तपस्वी का नाम उन्हे दिखाई नही दिया। ब्रह्माजी से उन्होने इसका कारण पूछा तो उत्तर मिला— 'वह तपस्या तो करता है, पर उसका अहकार अभी नष्ट नही हुआ, अत. उसे मोक्ष नही मिल सकता।''

नारदजी क्षणभर का विलव किये विना ही ब्रह्मलोक से लौटे और तपस्वी से बोले—'मैंने ब्रह्माजी के सारे वहीखाते देख डाले पर उनमे कही भी तुम्हारा नाम नही मिला।' तपस्वी क्रोधित होकर बोला—'ब्रह्माजी के सारे वहीखाते गलत हैं। क्या मेरे जैसे महातपस्वी का नाम भी उनमे नही है ? आपने इसका कारण भी तो पूछा होगा ?'

नारदजी ने मुँह बनाते हुए कहा—'भाई! मैं क्या जानूँ, ब्रह्माजी इतना जरूर कह रहे थे कि वह तपस्या तो करता है पर उसका अहकार नष्ट नही हुआ।'

नारदजी के ये वचन सुनते ही तपस्वी की आँखे खुल गईं। उसे अपने अहकार के लिये पश्चात्ताप होने लगा। उसी क्षण एक विमान आकाश से उतरा और तपस्वी के पास आकर खडा हो गया। नारदजी ने आश्चर्य से पूछा—'यह किसके लिये आया है।' विमानचालक ने उत्तर दिया—'इन तपस्वी जी को ले जाने के लिये।'

सुनते ही नारदजी आँखे निकाल कर बोले—'अभी तो मैं ब्रह्मा जी से मिलकर और उनके सारे वहीखाते देखकर आया हूँ। कही भी इनका नाम नही मिला, और अभी-अभी विमान आ गया इन्हे ले जाने के लिये ? ब्रह्मा जी के राज्य मे यह कैसा अधेर है जी ?'

विमानचालक ने नम्रतापूर्वक कहा—'भगवन्! अव यह तपस्वी अहकार रहित हो गए हैं, इसलिये इन्हे स्वर्ग मे ले आने का हुक्म ब्रह्माजी ने दिया है।'

इस लघु कथा का अभिप्राय यही बताना है कि अहकार और क्रोध आदि

दुर्गुण ही आत्मा की मुक्ति को रोके रहते हैं। इनका नाश होते ही आत्मा ऊँची उठने लगती है। क्षमा के द्वारा क्रोध और वैर-विरोध का सहज ही नाश हो जाता है तथा द्वेष का जहर अमृत रूप बन जाता है। इसलिए प्रत्येक आत्मोन्नति के इच्छुक प्राणी को अपना विवेक जागृत करना चाहिये तथा उसके द्वारा सत्-असत् को समझकर जो आत्मा के लिये कल्याणकारी हो, उस मार्ग पर आगे बढ़ना चाहिये। विवेकी पुरुष ही संसार की समस्त विघ्न-बाधाओं को पार कर सकता है। कहा भी है —

"विवेकदृष्ट्या चरतां जनानां,
श्रियो न किञ्चिद् विपदो न किञ्चित् ॥"

— ब्रह्मानन्द

विवेक पूर्वक आचरण करने वालों के लिये न कोई सम्पत्ति है और न कोई विपत्ति। विवेक-दृष्टि से जीवन चलाने वाले पुरुषों के लिये सम्पत्ति हर्ष-दायक नहीं हुआ करती है और विपत्ति भी दुःखप्रद नहीं होती है। वे दोनों अवस्थाओं में तटस्थ भाव से रहते हैं।

विवेक के अभाव में मनुष्य का असाधारण ज्ञान अथवा अपार धन सम्पत्ति भी उसके लिये लाभ-प्रद नहीं हो सकती। विवेक में अद्भुत शक्ति होती है। इसके अनुसार ही मनुष्य के मानस-पटल पर विचारों का आविर्भाव होता है। विवेकपूर्वक कार्य करने वाला व्यक्ति कभी अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होता। संस्कृत के एक कवि का कथन है —

विवेकः परमो धर्मः, विवेकः परमं तपः।
विवेकः परमं ज्ञानं, विवेको मुक्ति साधनम् ॥

अर्थात् विवेक परम धर्म है, विवेक परम तप है, विवेक परम ज्ञान है और विवेक ही मुक्ति का साधन है।

हमें यह कदापि नहीं भूलना चाहिये कि मानव ही एक ऐसा प्राणी है जिसे अन्य समस्त प्राणियों की अपेक्षा अनेक गुनी विवेक बुद्धि प्राप्त होती है। ऐसे प्राणी भी अगर संसार [illegible] उद्धार न करे तो फिर आत्मा की शक्ति की [illegible] के लिए [illegible] का पूरा [illegible]। अनेक जन्मों के संचित पुण्यों के प्रभाव से जीव मनुष्य शरीर प्राप्त करता है। किन्तु यदि एक बार [illegible] अर्थात् [illegible] को [illegible] कर [illegible] दिया और [illegible] धर्म का [illegible] न किया तो [illegible] [illegible]

गति की असह्य यातनाएँ भुगतनी पडेंगी। जो पुण्यशील पुरुष होते हैं वे अपने भविष्य को कल्याणमय बनाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु अविवेकी और अदूरदर्शी व्यक्ति पापाचारी बनकर उलटा पापो का भार बढा लेते हैं और अधोगतियो मे भटकते रहते हैं।

भाइयो ! अन्त मे मुझे आप लोगो से सिर्फ यही कहना है कि आप अपने विवेक को जागृत करके विचार करें कि आपकी आत्मा का भला किसमे है। अपने को अपराधी और कैदी मानकर कदापि निराश न हो। साहस को न त्यागे। धर्म हृदय मे होता है अन्यत्र कही नही। धर्म का पालन करने मे कैदखाना बाधक नही बन सकता। मनुष्य चाहे जहाँ रहे, चाहे जैसी अवस्था मे रहे, धर्म का पालन कर सकता है। आप लोग यह भी अच्छी तरह समझ ले कि धर्म का पालन करने के लिये किसी प्रकार का बाह्य अडम्बर, क्रियाकाड अथवा पूजा-पाठ आवश्यक नही है। हृदय की सरलता ही सबसे बडा धर्म है। क्रोध, कषाय, ईर्ष्या, मत्सर, द्वेष और वैर-विरोध आदि की भावनाओं को हृदय से निकालना तथा उनके स्थान पर प्राणीमात्र के प्रति स्नेह, सहनशीलता, क्षमा, दया तथा करुणा से पूर्ण विचारो को प्रतिष्ठित करना ही धर्म है। क्या इन कल्याणकारी भावनाओ को अपनाने मे बदीगृह बाधक बन सकता है ? नही, महात्मा गाँधी ने भी कहा है —

"धर्म जिन्दगी की हर एक सास के साथ अमल मे लाने की चीज है।"

धर्म पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही होता। प्रत्येक स्थिति मे और प्रत्येक समय मे उसे अपनाया जा सकता है। मनुष्य चाहे सुखी हो या दुखी हो, युवा हो या वृद्ध हो, जिस क्षण से भी धर्माराधन करना चाहे कर सकता है। आप लोगो को भी यह सोचने की आवश्यकता नही है कि हमने इतने पाप या अपराध किये हैं तो अब कैसे धर्म कर सकते हैं ? या इतनी उम्र व्यतीत हो गई अब क्या धर्माराधन हो सकता है ? आपको समझना चाहिये, कि जिस प्रकार मनुष्य कुए से पानी निकालते समय लोटे के साथ सारी रस्सी कुए मे डाल देता है किन्तु अगर चार अगुल रस्सी भी उसके हाथ मे बच रहती है तो उससे वह पुन लोटा रस्सी समेत खीच लेता है। यही बात जीवन मे धर्म को अपनाने के विषय मे भी है। भले ही मनुष्य अपने जीवन का अधिकाश भाग पाप और अपराध करने मे व्यतीत कर दे, किन्तु जीवन के बचे हुए थोडे मे क्षणो मे भी अगर उसे की हुई गलतियो के लिये हार्दिक पश्चात्ताप हो जाए और उसका हृदय शुद्ध हो जाए तो वह अपने सम्पूर्ण जीवन का लाभ उन बचे हुए थोडे मे क्षणो मे भी उठा लेता है।

एक बात और आप लोगों को ध्यान में रखना है। वह यही कि एक बार शुद्ध मन और शुद्ध आचरण पूर्वक अपने नवीन जीवन का प्रारम्भ कर फिर लोकापवाद से भयभीत होकर मन को पुनः कमजोर न बनाएं। संसार के लोगों का स्वभाव होता है कि वे अच्छे कामों का प्रारम्भ करने वालों के कार्यों की आलोचना करने में नहीं चूकते। किसी अपराधी को अगर उत्तम आचरण पूर्वक जीवन व्यतीत करते देखें, तब तो फिर पूछना ही क्या है? [illegible] तथा बदमाश कहकर उसका उपहास और तिरस्कार करते रहते हैं। अतः मैं [illegible] अपमान को सहन करने की क्षमता होनी चाहिये। वही व्यक्ति महान् है जो इस सब का सहन करते हुए अविचल भाव से कल्याणकारी पथ पर चलता रहे। कहा भी गया है —

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

—भर्तृहरि

अर्थात्—नीति-निपुण लोग चाहे निन्दा करें या स्तुति, धन उनके पास आवे या जाय, चाहे मृत्यु आज ही आ जाय या वे युगों तक जियें, किसी भी अवस्था में वे धर्म और न्याय के पथ से विचलित नहीं होते।

संसार में वही व्यक्ति महान् होता है जो किसी भी कारण से विचलित न होकर अपने विवेक द्वारा निर्णीत किये हुए मार्ग पर चलता जाता है। लोकापवाद तो अच्छे या बुरे दोनों तरह के कामों को करने पर होता है, उससे घबराकर मनुष्य को सत्पथ से कभी हटना नहीं चाहिये।

[illegible] थे। उनके पास एक आदमी आया और बोला— "आप [illegible] की तो लोग बहुत निन्दा करते हैं, फिर तुम उन्हें जवाब क्यों नहीं देते ?"

[illegible] ने अपने सिर पर हाथ फेरते हुए उत्तर दिया— "भाई [illegible]

[illegible]

कहने का अभिप्राय यही है कि औरो की अवज्ञा, उपेक्षा या निंदा से भयभीत होकर मनुष्य को साहस नही छोडना चाहिये और न ही अपने निश्चय का त्याग करना चाहिये। हाँ, निन्दा करने वाले मे अगर सत्यता हो, अर्थात् हमारे आचरण मे वास्तव मे ही कही त्रुटियाँ हो तो अवश्य ही उन्हे सुधार लेना चाहिये। कबीरदास जी ने यही बात ध्यान मे रखते हुए बडे सुन्दर ढग से कहा है —

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाय ॥

जो व्यक्ति अपनी निन्दा करने वाले को भी अपना उपकारी मानता है वही आत्मा को निर्मल बनाता हुआ उसे कर्म-बन्धनो से छुटकारा दिला सकता है। अतएव लोकापवाद, निन्दा, अपमान, तिरस्कार या उपहास आदि की परवाह किये बिना ही आपको अपने नये और निर्मल जीवन का प्रारम्भ करना है। अब तक के जीवन मे की हुई भूलो के लिये अगर आप सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करेंगे तो आपकी आत्मा का समस्त कलुष नष्ट हो जाएगा और वह शुद्ध तथा पवित्र बन जाएगी।

पश्चात्ताप हृदय मे प्रज्वलित की हुई वह अग्नि है, जिसमे भूतकाल के पाप भस्म हो जाते है और भविष्य मे अपराध न करने की प्रेरणा मिलती है। आवश्यक यह है कि निरर्थक उदासीनता या पश्चात्ताप करके समय न गँवाया जाय भूतकाल पर मनुष्य का वश नही है, किन्तु भविष्य को बनाना उसी के हाथ मे है। पर ऐसी स्थिति मे भी अपने अन्तिम समय को सुधार लेने के भरोसे बैठे रहना भी विवेकशील मनुष्य का कर्त्तव्य नही है। यह किसे मालूम है कि कब किसका अन्तिम समय आ जाएगा। समय किसी की प्रतीक्षा नही करता। भक्ति-पूजा आदि के द्वारा भगवान को तो बुलाया जा सकता है किन्तु कोटि प्रयत्न करने पर भी बीता हुआ समय नही बुलाया जा सकता। वे प्राणी अत्यन्त अज्ञानी हैं जो यह सोचते हैं कि वृद्धावस्था मे धर्माचरण कर लेगे। अरे, वृद्धावस्था आएगी ही, इसका भी किसको निश्चय से पता है ? हमारे हाथ मे वही क्षण हैं जो वर्तमान मे हैं। इसलिये इनमे से एक क्षण भी खोना भारी मूर्खता है।

भाइयो ! आपका शरीर जिस प्रकार ईट चूने से बने इस कारागृह मे कैद है, उसी प्रकार आपकी आत्मा कर्म-बन्धनो के कारागृह मे बदी है। इस स्थिति मे जिस प्रकार आप अपने शरीर को इस कारावास मे मुक्त देखने के लिये विकल हैं, वैसी ही विकलता आपको आत्मा की मुक्ति के लिये भी होनी चाहिये। यद्यपि आप अपनी देह को इस बदीगृह से मुक्त करने का प्रयत्न नही

पर करने किन्तु आत्मा की मुक्ति का प्रयत्न इसी क्षण से आरम्भ कर सकते हैं। आत्मा में अनन्त शक्ति छिपी हुई है। उसका उपयोग करने में संसार की कोई भी शक्ति बाधक नहीं बन सकती। मुझे आशा है कि मेरे इन शब्दों के श्रवण से आपका अपनी आत्म-शक्ति पर विश्वास हुआ होगा अथवा उसको पुष्ट किया होगा। ऐसा करते हुए आपको किसी से हीन नहीं मानना चाहिये। हीन वही प्राणी है जो सदा ही अपने को हीन मानता है और अपनी आत्मा की शक्ति पर विश्वास नहीं करता। आप यह मानकर चलें कि जिस प्रकार कसौटी पर कसा जाकर स्वर्ण निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार इस कष्टकर कारागार की कसौटी पर कसी जाकर आपकी आत्मा पवित्र और सशक्त बन कर ही, इससे बाहर निकलेगी।

समय हो गया है और अब मुझे यहाँ से जाना है। आप लोगों में से अनेक की आँखों में छिपे हुए आँसुओं को देखकर मुझे बड़ी व्यथा हो रही है। आप इस कारागार में अपना दुःख का अनुभव करते हैं, पर यह क्यों भूल जाते हैं कि इसके बाहर रहने वाले व्यक्तियों को भी तो अनेक दुःख हैं। कोई अपनी दरिद्रता के कारण, कोई प्राणघातक बीमारी के कारण और कोई किसी स्वजन की मृत्यु के कारण दुःखी है। संसार में दुःख ही दुःख तो है। आपके इस कारागार में जैसा दुःख है, वैसा ही इसके बाहर है। अर्थात् कारागार के अन्दर भी कारागार है और कारागार के बाहर भी कारागार है। इस छोटे कारागार में आप लोग थोड़े प्राणी हैं और इसके बाहर बड़े कारागार में अधिक प्राणी हैं और कोई अन्तर नहीं है। इसलिये मेरा आपसे निवेदन यही रहता है कि इस कारागार के दुःख को दुःख न मानकर आप आत्मा के कारागार के दुःख को समझें और उससे आत्मा को मुक्त करने के लिये आज से ही नहीं, परन्तु इसी क्षण से प्रयत्न आरम्भ कर दें। सुख तो न आपको इस छोटे कारागार में मिल सकता है और न इसके बाहर के बड़े कारागार में ही प्राप्त हो सकता है। इसलिये भगवान की [illegible] मुक्ति की कामना करनी है। मनुष्य [illegible] मुसीबत में भी मुस्कराता हुआ अपने मार्ग पर चलता रहे। किसी कवि ने ठीक ही कहा है —

कभी इन्सान तूफानों से, घबराया नहीं करते।
[illegible] मुश्किल से, जो घबराया नहीं करते?
[illegible] सिर से, या गिरि ही [illegible],
[illegible] शेर भी [illegible], [illegible] नहीं करते।

कठिनाइयो से भयभीत हो जाना कायरता है और कायर व्यक्ति कभी ससार की विघ्न-बाधाओ का सामना नही कर सकता। आप लोगो को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिये कि इस लघु कारावास मे रहकर भी आप इसमे बाहर की अनेक कठिनाइयो से बचे हुए हैं। यहाँ आपको चिंतन-मनन के लिये अधिक समय मिल सकता है। आप सहज ही अपने आपको ईश-स्मरण तथा प्रार्थना मे लगा सकते हैं। आत्मा को सुन्दर और निर्मल बनाने के लिये प्रार्थना से बढकर और कोई उपाय नही है। महर्षि सुकरात के उद्गार हैं :—

"I prey thee, O God, I may be beautiful within"

अर्थात्—मेरी प्रार्थना है कि, हे ईश्वर, मैं अन्दर से सुन्दर बनूँ।

अन्दर की सुन्दरता से तात्पर्य है आत्मा का सुन्दर होना। अर्थात् आत्मा का विकार रहित निर्मल बन जाना। यह प्रार्थना से ही सभव है। हमारे युग पुरुष महात्मा गाँधी प्रार्थना को आत्मा की अनिवार्य खुराक मानते थे। उनका कथन था :—

"प्रार्थना के विना मैं कब का पागल हो गया होता। प्रार्थना का आमत्रण निश्चय ही आत्मा की व्याकुलता का द्योतक है, आत्म शुद्धि का आह्वान है तथा कृतपापो के पश्चात्ताप का चिह्न है। प्रार्थना हमारे अधिक अच्छे और अधिक शुद्ध होने की आतुरता को सूचित करती है।"

वास्तव मे ही प्रार्थना मे अद्भुत शक्ति है। यही एक मात्र ऐसा मार्ग है, जिस पर चलकर मनुष्य अन्त मे अनन्त और अव्याबाध सुख की प्राप्ति कर सकता है। पर होनी चाहिये उसमे सत्यता। प्रार्थना आत्मा की पुकार है जो प्रतिक्षण जारी रहनी चाहिये। ज्यो-ज्यो प्रार्थना सशक्त बनती जाएगी त्यो-त्यो आत्मा कर्म-बन्धनो के भार से हलकी होती जाएगी। प्रयत्न करने पर मुश्किल भी नही है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है —

कोई काम दुनिया मे मुश्किल नहीं है।
जो करते रहोगे यतन धीरे-धीरे।
तू ! कर बंदगी और भजन धीरे-धीरे।

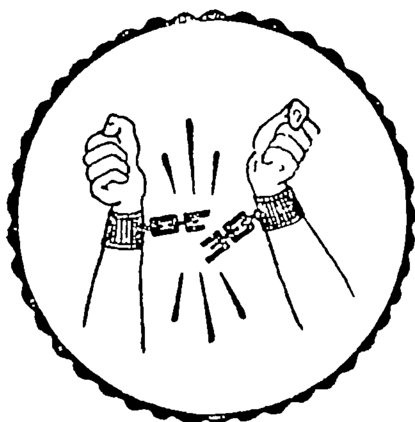
जिस प्रकार एक-एक बूँद पानी गिरता रहे तो पत्थर मे गड्ढा पड जाता है और एक-एक प्रहार से महाकाय वृक्ष काटकर गिराया जा सकता है, उसी प्रकार जन्म जन्मान्तरो का संचित कर्म-मल भी ईश्वर की बदगी अर्थात्

प्रार्थना के द्वारा धीरे-धीरे नष्ट किया जा सकता है, इसमें सन्देह नहीं है कि प्रार्थना जारी रखना चाहिये।

हाँ, यह ठीक है कि यह बात नहीं थी कि [illegible] के [illegible] की परवाह न करते हुए आप अपनी आत्मा को निर्भय बनाने का प्रयत्न करें तथा इसकी शक्ति का परिचय देकर उसका लाभ उठावें। यहाँ पर [illegible] आपकी [illegible] है आत्मा नहीं। शरीर की शक्ति का उपयोग आप यहाँ नहीं कर सकते किन्तु आत्मा की शक्ति का उपयोग जितना चाहें कर सकते हैं। और यही शक्ति आपकी असली शक्ति है जो सदा के लिये जन्म और मरण के दुखों को मिटा सकती है।

मैंने आज आपका बहुत समय लिया है, किन्तु इसके लिये मुझे जरा भी पश्चाताप नहीं है। परन्तु यह देखकर अतीव प्रसन्नता है कि आप लोगों ने मेरे भाषण को ध्यानपूर्वक सुना है। यह प्रसन्नता और भी बढ़ जायगी यदि आप मेरे कथन को अंशों में भी ग्रहण कर सकें और अपने हृदय को [illegible] से बचाकर [illegible] बनायें। [illegible] के [illegible] के प्रति भी मैं बहुत कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मुझे आप लोगों के बीच आने का [illegible] किया और [illegible] के प्रति अपने [illegible] का प्रमाण देते हुए नवीन [illegible] स्थापित किया। देश के समस्त राजा-महाराजाओं में [illegible] सहृदय [illegible] विचारों [illegible] शासनकाल [illegible] के समान [illegible] होंगे और प्रत्येक [illegible] नव-जीवन के निर्माण की प्रेरणा लेकर बाहर निकलेगा।





राग-द्वेष, ममता औ माया,
हीनभावनाएँ मन की।
अविवेक, अज्ञान, रूढियाँ,
हथकडियाँ हैं जोवन की।

* * *

वाहर के ये कृत्रिम वधन,
स्वत. टूट जायेंगे मित्र!
जव भीतर की अमित शक्ति का,
देख सकोगे सुन्दर चित्र!

—सरस

३

देश के सजग प्रहरी।

[illegible]

और सुव्यवस्था रखने की मशीन का मूल केन्द्र है। कल इस समय जहाँ कृश देह और व्यथा से सूखे हुए बन्दियो के चेहरे देखकर मेरा मन अपार दुख का अनुभव कर रहा था वहाँ आज उत्साह, आनन्द, स्फूर्ति और शौर्य-दीप्त आनन वाले सैनिको को देखकर हृदय अतीव प्रफुल्लता का अनुभव कर रहा है।

यद्यपि मैं जानती हूँ कि आपके सैनिक-जीवन का अभी प्रभात ही है, किन्तु प्रभात के बाल-रवि मे ही तो नेत्रो को चमत्कृत कर देने वाला प्रखर तेजस्वी सूर्य छिपा रहता है। उपाध्याय कवि श्री अमरचन्द जी महाराज ने कहा है :—

बीज-बीज ही नहीं, बीज मे तरुवर भी है।
मनुज-मनुज ही नही, मनुज मे ईश्वर भी है।

कवि की दो पक्तियो मे अत्यन्त सुन्दर और गूढ भावार्थ है। जिस प्रकार एक छोटे से बीज मे महाकाय वृक्ष निहित होता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य की आत्मा मे परमात्मा छिपा रहता है। आत्मा मे परमात्मा छिपे होने से, तात्पर्य है, आत्मा बनने की शक्ति मौजूद होना। आत्मा से अलग परमात्मा का कोई अस्तित्व नही है। जब तक आत्मा कर्मो के भार से बोझिल रहती है तब तक अनेकानेक योनियो मे परिभ्रमण करती रहती है, किन्तु जब कर्म-बधनो के भार से वह छूट जाती है, अर्थात् कर्म-बधनो से मुक्त हो जाती है तब वही परमात्म-पद ग्रहण कर लेती है। दूसरे शब्दो मे, परमात्मा कहलाने लगती है।

तो मैं कह यह रही थी कि जिसप्रकार एक लघु बीज मे विशाल वृक्ष समाया हुआ होता है, आत्मा मे परमात्मा का निवास होता है और प्रभात काल के कोमल रवि मे प्रचड तेजोमय सूर्य छिपा हुआ होता है, उसी प्रकार आपके इन प्रारम्भिक जीवन मे भी वह ज्वलन्त शक्ति छिपी हुई है, जो समय पड़ने पर देश के लिये अपने प्राणो की आहुति देने को भी तत्पर हो जाती है।

हमारा देश आध्यात्म प्रधान देश है। इस देश की सस्कृति धार्मिक क्षेत्र मे जिस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र का सदेश देती है, उसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र मे शौर्य वीरत्व और प्रेम का सदेश भी देती है। हमारा धर्म अहिंसा प्रधान है। अहिसा चरित्र का सबसे पहला मुख्य अग है। पापो मे जिस प्रकार हिंसा सबसे बुरी मानी गई है, उसीप्रकार धर्म मे अहिसा सबसे अच्छी मानी गई है। अहिंसा जैन-धर्म का प्राण है, दूसरे शब्दो मे अहिसा धर्म का नाम ही जैन-धर्म है। किन्तु जैन-धर्म के अलावा भी हम जब वैदिक, बौद्ध,

और सुव्यवस्था रखने की मशीन का मूल केन्द्र है। कल इस समय जहाँ कृश देह और व्यथा से मूखे हुए बन्दियो के चेहरे देखकर मेरा मन अपार दुख का अनुभव कर रहा था वहाँ आज उत्साह, आनन्द, स्फूर्ति और शौर्य-दीप्त आनन वाले सैनिको को देखकर हृदय अतीव प्रफुल्लता का अनुभव कर रहा है।

यद्यपि मैं जानती हूँ कि आपके सैनिक-जीवन का अभी प्रभात ही है, किन्तु प्रभात के बाल-रवि मे ही तो नेत्रो को चमत्कृत कर देने वाला प्रखर तेजस्वी सूर्य छिपा रहता है। उपाध्याय कवि श्री अमरचन्द जी महाराज ने कहा है —

बीज-बीज ही नहीं, बीज मे तरुवर भी है।
मनुज-मनुज ही नही, मनुज मे ईश्वर भी है।

कवि की दो पक्तियो मे अत्यन्त सुन्दर और गूढ भावार्थ है। जिस प्रकार एक छोटे से बीज मे महाकाय वृक्ष निहित होता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य की आत्मा मे परमात्मा छिपा रहता है। आत्मा मे परमात्मा छिपे होने से, तात्पर्य है, आत्मा बनने की शक्ति मौजूद होना। आत्मा से अलग परमात्मा का कोई अस्तित्व नही है। जब तक आत्मा कर्मो के भार से बोझिल रहती है तब तक अनेकानेक योनियो मे परिभ्रमण करती रहती है, किन्तु जब कर्म-बधनो के भार से वह छूट जाती है, अर्थात् कर्म-बधनो से मुक्त हो जाती है तब वही परमात्म-पद ग्रहण कर लेती है। दूसरे शब्दो मे, परमात्मा कहलाने लगती है।

तो मैं कह यह रही थी कि जिसप्रकार एक लघु बीज मे विशाल वृक्ष समाया हुआ होता है, आत्मा मे परमात्मा का निवास होता है और प्रभात काल के कोमल रवि मे प्रचड तेजोमय सूर्य छिपा हुआ होता है, उसी प्रकार आपके इस प्रारम्भिक जीवन मे भी वह ज्वलत शक्ति छिपी हुई है, जो समय पडने पर देश के लिये अपने प्राणो की आहुति देने को भी तत्पर हो जाती है।

हमारा देश आध्यात्म प्रधान देश है। इस देश की सस्कृति धार्मिक क्षेत्र मे जिस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र का सदेश देती है, उसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र मे शौर्य वीरत्व और प्रेम का सदेश भी देती है। हमारा धर्म अहिंसा प्रधान है। अहिंसा चरित्र का सबसे पहला मुख्य अग है। पापो मे जिस प्रकार हिंसा सबसे बुरी मानी गई है, उसीप्रकार धर्म मे अहिंसा सबसे अच्छी मानी गई है। अहिंसा जैन-धर्म का प्राण है, दूसरे शब्दो मे अहिंसा धर्म का नाम ही जैन-धर्म है। किन्तु जैन-धर्म के अलावा भी हम जब वैदिक, बौद्ध,

सिक्ख, मुसलमान और ईसाई धर्म ग्रन्थो को देखते हैं तो स्पष्ट रूप से पता चल जाता है कि इन सभी धर्मों के प्रतिपादक ग्रन्थो और धर्म-नेताओं ने अहिंसा की मुक्त कठ से सराहना की है। क्योकि हम देखते और अनुभव भी करते हैं —

सव्वे जीवा वि इच्छति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवह घोरं, निग्गथा वज्जयंति णं ॥
—दशवैकालिक सूत्र

ससार के सभी जीव, चाहे दरिद्र हो, रोगी हो, दुखी हो या किसी भी अवस्था मे हो, जीवित ही रहना चाहते हैं। मरना कोई नही चाहता। इसी लिये निर्ग्रन्थ मुनि हिंसा का सर्वथा त्याग करते हैं।

आप लोग सैनिक हैं। मेरी यह बात सुनकर कि हिंसा का त्याग करना चाहिये, आप उलझन मे पड गए होगे। क्योकि आपको तो पिस्तौल या बन्दूक चलाना, बम वर्षा करना अथवा ऐसी ही अन्य कलाओ का प्रशिक्षण ही दिया जाता है। गोलियाँ किसी के गले मे फूलमाला बनकर नही गिरती, प्राण नाश का कारण ही बनती हैं। अतएव आप मेरी बात को तनिक समझने का प्रयत्न करें।

कोई भी पाप जो मनुष्य के द्वारा किया जाता है उसका दुष्फल मनुष्य की हीन भावनाओ पर अधिक निर्भर होता है। किसी भी निरपराध प्राणी को क्रोध, वैर-विरोध, कौतुकवशात् अथवा मास भक्षण आदि की भावनाओ से मारना महापाप है। ऐसे पाप करने वाला व्यक्ति अन्य कितनी भी धर्म क्रियाएँ क्यो न करे हिंसा के पाप को नही धो सकता। कबीर ने जीव-हत्या और मास भक्षण को जघन्य पाप मानकर उनका निषेध करते हुए कहा है —

तिल भर मछली खाय के, करोड़ गऊ करे दान।
काशी करवत ले मरें तो भी नरक निदान ॥

तात्पर्य यही है कि व्यक्ति कितना भी दान-पुण्य अथवा पाठ-पूजा क्यो न करे, अगर वह जीव हत्या करता है तो वह निश्चय ही नरक का भागी बनता है। जीव दया की तो सभी धर्म-ग्रन्थ सराहना करते हैं। मुस्लिम धर्म नेता शेखसादी ने एक स्थान पर लिखा है—'एक बार शेख शिवली किसी वणिक की दुकान से आटा खरीद कर लाए। घर आकर उन्होने देखा कि आटे के अन्दर एक चीटी बडी व्याकुलता से दौड रही है। शेख शिवली ने रात को सोना हराम समझा और उसी समय बनिये की दुकान पर जाकर उस चीटी

को छोड दिया और कहा—मेरे कारण इस बेचारी का घर नही छूटना चाहिये।'

इसी प्रकार जैनाचार के प्रवर्तको ने अहिंसा की सिर्फ मीमासा ही नहीं की है वरन् उसको स्वयं आचरण मे लाकर उसकी व्यवहार्यता भी प्रमाणित कर दी है। किन्तु खेद की बात है कि जैन-धर्म के इस महान् तत्व के यथार्थ रहस्य को समझने का प्रयास बहुत कम व्यक्ति कर पाते हैं। सिर्फ साधारण जनता ही नही, कभी-कभी तो प्रतिष्ठित विद्वान भी इसे अनाचरणीय और कायरता की जननी कह बैठते हैं।

किन्तु यह आक्षेप गलत हैं। यह समझना कि अहिंसा की भावना रखने से मनुष्य कायर बन जाता है, सर्वथा भ्रम है। जब हम अपने इतिहास को उठा कर देखते हैं तो सहज ही मालूम पड़ जाता है कि सम्राट अशोक और चन्द्रगुप्त जैसे अहिसा के उपासक अनेक राजा महाराजा हो चुके हैं, जो अपने जीवन काल मे अहिंसा का पालन भी करते थे और बडे-बडे साम्राज्यो का संचालन भी करते थे। इसका कारण यही था कि वे अहिसा की मर्यादाओ को जानते थे—सकल्पजा हिंसा अर्थात् किसी निरपराध को मार डालने वाली वृत्ति से की जाने वाली हिंसा के त्यागी थे। आरभजा और विरोधी हिंसा अर्थात् अपराधी को दंड देने का उन्होने त्याग नही किया था। अभी-अभी मैंने आपको बताया भी था कि किसी निरपराध को मारने का संकल्प करना ही हिंसा है। महात्मा गाँधी अहिसा के सच्चे उपासक थे। इसी दिव्यास्त्र से उन्होने देश का शासन बदल दिया और सैकडो वर्षो की दासता का अंत कर दिया। किन्तु क्या कोई कह सकता है कि उनमे कायरता थी ? उनका दृढ कथन था :—

"अहिंसा प्रचण्ड शस्त्र है। उसमे परम पुरुषार्थ है, वह भीरु से दूर भागती है। वह वीर पुरुष की शोभा है, उसका सवस्व है, शुष्क नीरस, जड पदार्थ नही है। जहाँ सिर्फ कायरता और हिंसा के बीच किसी एक के चुनाव की बात हो, वहाँ मैं हिंसा के पक्ष मे ही अपनी राय दूँगा।"

गाँधीजी के इन शब्दो से स्पष्ट हो जाता है कि वे अहिंसक होने पर भी शूरवीर थे, कायर नही। वास्तव मे, अहिसा वीरो का ही भूषण है। बंधुओ! आप लोगो को भी शूरवीर बनना है, और इसी की ट्रेनिंग आपको मिल रही है। किन्तु आपकी शूरवीरता आपके अहंकार को पुष्ट करने के लिये नही होनी चाहिये। बन्दूक हाथ मे होने का मतलब यह नही है कि मनुष्य अन्याय

और अत्याचार करने पर उतारू हो जाय। उसकी शूरवीरता अन्याय का प्रतीकार करने मे, देश का गौरव कायम रखने मे तथा शरणागत की रक्षा करने मे व्यवहृत होनी चाहिए। किसी अन्यायी के अन्याय का शिकार अथवा किसी अत्याचारी के अत्याचार से आक्रात प्राणी की रक्षा करना मनुष्य का सबसे बडा धर्म है। कहा भी है :—

एकत काञ्चनो मेरुर्बहुरत्ना वसुन्धरा।
एकतो भयभीतस्य, प्राणिन प्राणरक्षणम्॥

अर्थात् एक तरफ सुवर्णमय सुमेरु और बहुत से रत्नो से परिपूर्ण पृथ्वी का दान तथा दूसरी तरफ भयग्रस्त प्राणी के प्राणो की रक्षा करना, दोनो का फल समान है।

सच्चा शूरवीर जिस प्रकार शरणागत और संकटग्रस्त प्राणी की रक्षा करता है, उसी प्रकार अपने समाज और राष्ट्र की रक्षा के लिये भी कटिवद्ध रहता है। जिस समय चीन ने भारत पर आक्रमण करके देश के गौरव हिमालय को रौंदने का प्रयत्न किया था, उस समय हमारे एक-एक सैनिक ने गिरिराज को पुकार-पुकार कर कहा था—

ओ गिरिराज हिमालय तुम मत घवराना,
कोटि-कोटि पहरुये तुम्हारे सजग हुए।
शाति-कपोत उडाए हमने अम्बर मे,
इसका मतलव नहीं, कि हम भयभीत हुए।

यही आध्यात्म प्रधान देश भारत, जो सदा शाति की कामना करता है और ससार को अहिंसा का सदेश देता है, अन्याय के आगे मस्तक नही झुकाता। अपने देशवासियो को और सैनिको को कायरता का पाठ नही पढाता। उसी का परिणाम था कि इस पर सकट आते ही यहाँ का एक-एक सैनिक देश के मुकुटमणि हिमालय का एक-एक सजग पहरेदार बन गया। यही सच्ची शूरवीरता का लक्षण है। जो सदा और सर्वत्र पाया जाता है।

सन् १९०५ मे जापान और रूस मे भयकर संग्राम छिडा था। उसी समय एक वार पचास जापानियो की टुकडी को करीव अढाई सौ रूसियो ने एक जंगल मे घेर लिया। दोनो मे घोर सग्राम हुआ और अडतालीस जापानी लडते-लडते मारे गए। सिर्फ दो वचे, जिनके नाम थे ओक और युत्स।

दोनो सैनिक किसी प्रकार वच निकले किन्तु कुछ आगे जाने पर ओक को भी रूसियो ने कैद कर लिया। बदी वनने से पूर्व उसने युत्स को एक रसियन

झंडा दिया और कहा—"मित्र, मेरी जिन्दगी का अब कुछ भरोसा नही है, लेकिन मेरी पत्नी को तुम यह झंडा मेरी ओर से ले जाकर दे देना।' युत्स झडा लिये हुए बडी कठिनाई से अपने सेनानायक के पास पहुँचा और उसे ओक के बारे मे बताते हुए कहा—'यह झंडा, ओक ने अपनी पत्नी को भेजने के लिये आग्रह किया है।'

सेनापति ओक की बहादुरी को जानता था। उसने वह झंडा बडे समारोह के साथ उसकी पत्नी के पास पहुँचा दिया। उधर ओक को कैद करके रूसी सेनाध्यक्ष के समक्ष उपस्थित किया गया। उस समय ओक के हाथो मे उसके देश का ध्वज था। रूसी सेनापति ने उससे कहा—'अब तुम हमारे बंदी हो, अपना झंडा फेक दो।' बहादुर ओक ने उत्तर दिया—'मेरे जीतेजी यह झंडा मेरे हाथ से नही छूट सकता।'

रूस के सेनानायक ने ओक को तोप से उडा देने का डर बताया किन्तु ओक ने रचमात्र भी परवाह नही की। वह दृढता से हाथ मे झंडा लिये रहा। आखिरकार उसे तोप के सन्मुख उडा करके गोले से उडा दिया गया। ओक के शरीर के साथ-साथ उसका झंडा आकाश मे उडा और कहते हैं कि रूसी सेना-पति के मस्तक पर आ गिरा। ओक की बहादुरी देखकर उसके शत्रुओं ने भी दाँतोतले अंगुलि दबाई। बहादुर सैनिक ने तोप से उड जाना कबूल किया किन्तु प्राण रहते अपने देश के झडे का अपमान नही होने दिया।

प्रत्येक सैनिक मे देश भक्ति कूट-कूट कर भरी हुई होनी चाहिये। उसके कंधे पर ही देश-रक्षा की भारी और महत्वपूर्ण जिम्मेदारी टिकी रहती है। एक सैनिक की गद्दारी भी देश की स्वतंत्रता को नष्ट कर सकती है। भारत मे ऐसे आस्तीन के साँपो की भी कमी नही रही हैं। इतिहास बताता है कि अनेक राजाओ के राज्य ऐसे ही गद्दारो के कारण छिन्न-भिन्न हो गए जोकि चंद चाँदी के टुकडो के लोभ मे आकर किलो के फाटक आक्रामको के लिये खोल देते थे। वे विशाल दरवाजे जो, मनुष्य की तो बिसात ही क्या शक्ति-शाली हाथियो की टक्करो से भी नही टूट सकते थे उनके पहरेदारो के हाथो से थोडे से सिक्के छूते ही विना आवाज किये दुश्मनो को रास्ता दे देते थे।

आज न वैसे राजा हैं, न किले और न ही महाकाय वज्रसदृश दरवाजे। देश मे एक ही अखंड शासन है, एक ही संचालन सूत्र है। किन्तु उसे चलाने के लिये असंख्य वफादारो की आवश्यकता है। देश की विशाल सीमा की रक्षा के लिये अगणित सजग पहरेदारो की जरूरत है। आप सब वे ही सजग

पहरुए हैं, जिन्होने अभी ही कुछ दिन पहले उस सीमा पर चीन के कदम पडते ही सारे देश को सावधान करते हुए कहा था —

क्या पता कि दुश्मनो को किसतरह हुआ वहम,
लहू की एक बूँद तक चीन से लडेंगे हम।
सुनो किसान भाइयो! जमीन बैल की कसम,
हल कुदाल की कसम, रसद न होने पाए कम॥

वर्फ पर चलेंगे हम, कवच पहन के शान से,
हर्फ जीत के लिखेंगे लड्के अग्निवाण से।
भामाशाह की कसम है रोजगारियो! सुनो,
अस्त्र-शस्त्र दो हमे खरीद कर दुकान से॥

शत्रुओ का सैन्यदल अपार हो, हुआ करे,
हिन्द के सुसैनिको की शक्ति वेशुमार है।

इतना ही नही, सिर पर कफन लपेटे हुए उन मतवाले वहादुरो ने सिर्फ देश के एक-एक व्यक्ति को ही नही जगाया, वरन् मातृभूमि की रक्षा के लिये जाने को तैयार होकर क्षण मात्र मे ही अपने माता-पिता पत्नी और वहन सभी से स्नेह ववनो को तोडकर विदा ले ली। पल भर की भी देर उन्हे सह्य नही हुई। उनके ओजस्वी शव्दो का स्मरण कर आज भी हमारे नेत्रो मे आनन्दाश्रु छलक उठते है —

वहन! लगा न रोचना कि देर हो रही हमे,
शीघ्र दे अशीष माँ! कि देर हो रही हमे।
पिता! खतामुआफ करो देर हो रही हमे,
भाइयो! न हो खिलाफ देर हो रही हमे।

परम्परा से प्राप्त हैं वडी-वडी निशानियाँ,
रक्त से सनी हुई शहीदो की कहानियाँ।
हमे शरीर के लिये न मोह है न शोक है,
चल पडी हैं जोश मे कफन पहन जवानियाँ॥

मातृ-भूमि से मिली यह जिन्दगी उधार है,
देह से उतारने दो कर्ज जो सवार है।

वधुओ! मातृभूमि का कर्ज उतारने मे कितने माँ के लाल और वहनो के भाई शहीद हुए हमे पता नही और कितनी नवोढाओ के सिदूर धुले इसका

अन्दाज नहीं है। किन्तु उन दिवंगत शूरमाओं के बलिदान पर आज भी हमारा भरा हुआ हृदय गर्व से फूल उठता है। उन्ही देशभक्तो के पदचिन्हों पर चलने के लिये आप, तैयार हो रहे हैं, इस पर मुझे नाज़ है। सैनिक अपने प्राण हथेली पर लिये घूमते हैं। कभी भी और कही भी उन्हें प्राणो से हाथ धो बैठने की संभावना रहती है। किन्तु याद रखने की बात है कि मृत्यु तो एक न एक दिन आनी ही है। उस समय चाहे युद्धभूमि हो, चाहे घर मे बिछी हुई पुष्प शय्या, आत्मा इस देह को छोड कर जाएगी ही। मनुष्य अपने को संकटों से दूर रखने का कितना भी प्रयत्न करे, अच्छे से अच्छे सुरक्षित स्थान पर जाकर निवास करे, किन्तु यमराज की दृष्टि से वह नही बच सकता। कहा भी है —

वज्र विनिर्मित गढ में या अन्यत्र कहीं छिप जाना,
पर भाई यम के फंदे में अन्त पड़ेगा आना।

इसीलिये ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि जब मृत्यु अवश्यंभावी है तो फिर अपने कर्त्तव्य का पालन करके यश उपार्जन करके ही मनुष्य क्यों न इस लोक से विदा ले ? सुकर्म मनुष्य के मर जाने के पश्चात् भी जीवित रहते हैं। धन तो काल पाकर क्षीण हो जाता है, पर यश रूपी धन अक्षय है। इसको काल भी नष्ट नही कर सकता। एक पाश्चात्य विद्वान् के कितने मर्मस्पर्शी शब्द हैं ?—

"The tample of fame stands upon the grave, the flame upon its altars is kindled the ashes of the dead."

—हैजलिट

अर्थात्—कब्र पर यश का मन्दिर खडा होता है और मृतक की राख से उस पर चिराग जलता है।

सच्चा देश भक्त मरकर भी अमर हो जाता है। सरदार भगतसिंह जैसे शहीदो को भारतवासी आज भी अपार श्रद्धा और भक्ति से स्मरण करते हैं और सर्वदा करते रहेगे। यह उनकी देशभक्ति और आत्म-बलिदान का ही फल है। अन्यथा मरते तो प्रतिदिन ही अनेकों प्राणी हैं। पर कौन उन्हे स्मरण करता है ? किसी ने देशभक्त की गरिमा के विषय मे कहा है :—

देश भक्त के चरणस्पर्श से मातृभूमि धन्य हो जाती है, कारागार स्वर्ग बन जाता है, इन्द्रासन उसे देखकर काँप उठता है, देवता नदन-कानन से पुष्पवृष्टि करते हैं तथा कलकल करती हुई सुर-सरिता और ताण्डव-नृत्य मे लीन रुद्र उसका जय जयकार करते हैं।

हमारे देश मे एक ही नही, अनेक भगतसिह हुए हैं जिन्होंने अपना सर्वस्व त्यागकर सैंकडो वर्षो से परतन्त्र भारत को स्वतन्त्र किया। उनका वलिदान व्यर्थ नही गया। देशभक्तो के उस लहू ने जनसाधारण मे चेतना जगाई और नए इतिहास का निर्माण किया। आजादी को लाने वाले वे सच्चे सैनिक थे। अब आपका काम है आजादी को कायम रखना और देश मे अमन-चैन बना रहे, ऐसा प्रयत्न करना। आप लोग यह न समझ लें कि भारत को स्वतन्त्र करने का काम ही महत्त्वपूर्ण था जो पूर्ववर्त्ती वीरो ने कर लिया और अब आपके लिये कुछ भी कार्य वाकी नही रहा। घर मे हाथी लाकर बाँधना जितना महत्त्वपूर्ण है, उसकी खुराक जुटाना उससे कम महत्त्वपूर्ण नही वरन् अनेक गुना अधिक है। यही हाल देश की आजादी का भी है। देश को आजाद करना जितना कठिन था, उससे भी अधिक कठिन है आजादी को कायम रखना। और वह तभी कायम रह सकती है, जब आपकी रग-रग मे देश-प्रेम और देशभक्ति समाई हो।

आज हम देखते हैं कि यद्यपि भारत स्वतन्त्र हो गया है किन्तु भारतवासी सुखी नही हैं। अनेको प्रकार की कठिनाइयाँ और परेशानियाँ उनके जीवन को दु खमय वनाये हुए हैं। इसका सवसे वडा कारण है जनमानस मे अनैतिकता का प्रसार। जिन लोगो के हाथो मे सत्ता है वे शासन के वहाने अपने अनेक स्वार्थों की पूर्ति मे लगे रहते हैं और स्वार्थ भावना मनुष्य को अनैतिकता की ओर प्रेरित करती है। कहा भी है —

"Power gradually extripates from the mind every humane and gentle virtue"

—वर्क

सत्ता धीरे-धीरे समस्त मानवीय और अच्छे गुणो का नाश कर देती है।

स्वार्थ के वश मे होकर अनेक वार तो सत्ताधीश व्यक्ति कानून तक मे परिवर्तन करने से नही चूकते। ऐसे व्यक्तियो से देश का लाभ होने के बदले उलटी हानि होने लगती है। और राजनैतिक भ्रष्टाचार देश को उन्नत बनाने के बदले रसातल को ले जाता है। पुलिस विभाग मे भी बहुत अनैतिकता और कौशलहीनता पाई जाती है। प्रथम तो अपनी कौशलहीनता के कारण वे सच्चे अपराधियो को पकड नही पाते और जिन्हे पकड लेते हैं उन्हे स्वतन्त्रता देकर प्रोत्साहित करते हैं। उन्हे बचाने के लिये स्वय घूस लेते हैं और अपराध का फंदा किसी निर्दोष के गले मे डालकर उसे क्रूरतापूर्वक मारते-पीटते या जेल मे डाल देते हैं। इस सवका प्रभाव साधारण जनता पर वडा अनैतिक होता है। न्यायालयो की शरण लेने पर भी लोगो को सच्चा न्याय नही मिलता। वकील झूठा सच्चा प्रत्येक मुकदमा ले लेते हैं और गवाहो को झूठ

बोलने मे परिणत कर देते हैं। अपराधी व्यक्ति के पास पैसा होता है तो उसे कोई चिन्ता नही होती। वह सोचता है कि अच्छा वकील कर लिया तो जघन्य से जघन्य अपराध करके भी बरी हो जाएँगे। धन से बडे-बडे पापो पर पर्दा पड़ जाता है। इसका प्रभाव बताते हुए कहा जाता है —

पूज्यते यद पूज्योऽपि, यदगम्योऽपि गम्यते।
वन्द्यते यदवन्द्योऽपि, स प्रभावो धनस्य च॥

—पञ्चतन्त्र

धन के प्रभाव से अपूजनीय भी पूजनीय, अगमनीय भी गमनीय और अवन्दनीय भी वन्दनीय हो जाता है।

बहादुर सैनिको! आपने सैनिक जीवन अपनाकर देश के लिये अपना सर्वस्व त्याग देने का महान् व्रत लिया है किसी भी प्रकार के स्वार्थ अथवा लोभ के वशीभूत होकर उसे खडित करना पाप है। देश-सेवा की जो जिम्मेदारी अपने-अपने कंधो पर उठाई है उसके सन्मुख धन-वैभव अत्यन्त तुच्छ चीज है। आपको ईमानदारी पूर्वक अपना कर्त्तव्य करना है। ससार मे जितने भी महापुरुष हो गये हैं और जिनकी कीर्ति से मनुष्य जाति का इतिहास प्रकाशित है वह सब उनकी अखड कर्त्तव्य निष्ठा का ही फल है। जिस कार्य-भार को आपने उठाया है उसे निष्कपट भाव से करना ही आपका कर्त्तव्य है। ज्यो-ज्यो आप अपने कर्त्तव्य को करते जायेगे त्यो-त्यो आपकी कर्तृत्व शक्ति बढती जाएगी। पाश्चात्य भाषा मे कहा गया है—

The reward of one duty done is the power to fulfil another —जाज इलियट

एक कर्त्तव्यपूर्ति का पुरस्कार है दूसरे कर्त्तव्य को पूर्ण करने की योग्यता।

कर्त्तव्य-निष्ठा ही मनुष्य को अपने ध्येय मे सफलता प्रदान कराती है। सामाजिक, राजनीतिक अथवा धार्मिक किसी भी क्षेत्र मे मनुष्य बढे, सर्वप्रथम उसे निश्छल कर्त्तव्य-निष्ठा को अपनाना पडेगा। हमारा भारत धर्म प्रधान देश है। यहाँ पर मनुष्य को प्रत्येक कर्म-धर्मपूर्वक करने का विधान है। हमारा प्रत्येक कदम धर्म और नीतिपूर्वक उठना चाहिये। चाहे वह अर्थ-उपार्जन करे, समाज-सेवा करे या देश की रक्षा करने जाए उसके प्रत्येक कार्य मे धर्म सन्निहित हो। इस बात को हमारे महापुरुषो ने सिर्फ कहा ही नही, वरन् करके भी दिखाया है। उदाहरण स्वरूप देश को स्वतन्त्र करने का कार्य ही हम ले सकते हैं। पाश्चात्य इतिहास को जब हम देखते हैं तो स्पष्ट मालूम पड़ता है कि अन्य पराधीन राष्ट्रो ने रुधिर की धाराएँ बहाकर और युद्ध

के साधनो मे वृद्धि करके हिंसात्मक तरीकों से स्वाधीनता प्राप्त की। रूस मे जब जार का निरकुश शासन था, उनके अन्यायो तथा अत्याचारो से अत्यत पीडित होकर वहाँ की जनता ने अवसर पाते ही क्राँति करदी और भारी रक्त-पात के द्वारा जारशाही को समाप्त किया। इसी प्रकार फ्रास का इतिहास भी खून-खच्चर की अत्यन्त मर्मस्पर्शी कथा है जिसे सभी जानते हैं।—

किन्तु भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति का इतिहास इससे सर्वथा भिन्न है। हमारी स्वतन्त्रता की बुनियाद हिंसा नही, अहिसा है। जिस समय सारा ससार हिंसा विनाश और रक्तपात के मार्ग पर वढ रहा था, गाँधी जी ने विना रक्त-पात के खून की एक बूँद बहाए बिना अहिंसा के द्वरा सदियो से पराधीन इस विशाल देश को स्वतन्त्रता दिलाई। ऐसी अभूतपूर्व और चमत्कारिक घटना को देखकर कौन कह सकता है कि धर्म से प्रत्येक समस्या हल नही हो सकती ? देश का शासन भी जव धर्म का पालन करते हुए वदला जा सकता है तव फिर और कौन सा कार्य ऐसा है जो धर्म का पालन करते हुए नही किया जा सकता ? मैंने आपसे पहले भी कहा था कि अहिंसा धर्म का प्राण है। यही सव धर्मों का मौलिक आश्रयभूत तत्व है और आत्मा के विकास का आधार है। जो व्यक्ति अहिंसा धर्म का पालन करे, उसके लिये और उससे महान् किसी भी धम का पालने करने की या धर्म क्रिया करने की आवश्यकता नही है।

मेरे इस कथन का तात्पर्य आप गलत न समझ ले कि मनुष्य अहिंमा के अलावा स्नेह, दया, करुणा, परोपकार या दान आदि समस्त भावनाओ को तिलाञ्जलि दे दे। मेरे कहने का अर्थ यही है कि अगर मनुष्य अहिंसा धर्म को अंगीकार कर लेता है तो उसका हृदय स्वय ही दया दानादि समस्त शुभ क्रियाओ की ओर प्रेरित हो जाता है। जव मनुष्य की दूसरे किसी प्राणी के प्रति हिंसात्मक भावना नही रहेगी तो स्वय ही सद्भावना और मैत्री का जन्म हो जाएगा। कोई व्यक्ति अहिंसा की कसौटी पर खरा उतर जाता है तो दूसरे व्यक्ति उसके पास आकर स्वयं वैर-भाव भूल जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो मनुष्य अहिंसा का पालन करता है वह सच्चे धर्म का पालन करता है। और उसे वह अपने जीवन की प्रत्येक क्रिया मे और प्रत्येक क्षेत्र मे अपना प्रेरणास्रोत मानता है। धर्म हृदय की चीज है और हृदय को अथवा अन्तरात्मा को दबाया नही जा सकता। अत धर्म को भी रोका नही जा सकता। जीवन का प्रत्येक व्यापार धर्ममय होना चाहिये। धर्म किसी कर्त्तव्य का विरोधी नही होता, चाहे सामाजिक कर्त्तव्य हो अथवा राजनैतिक, धर्म प्रत्येक को सफलता पूर्वक सम्पन्न करने मे सहायक होता है। गाँधी जी को तो धर्म रहित जीवन की कल्पना भी सह्य नही थी। उनका कथन है —

"जो धर्म शुद्ध अर्थ का विरोधी है वह धर्म नही है। जो धर्म राजनीति का विरोधी है वह धर्म नही है। धर्म रहित अर्थ त्याज्य है। धर्म रहित सत्ता राक्षसी है।"

कहने का तात्पर्य यही है कि धर्म जीवन के किसी भी व्यवहार का विरोधी नही है। इसलिये मनुष्य की प्रवृत्ति, बोलना, चलना, खाना, पीना व्यापार करना, देश सेवा करना आदि धर्म से ओतप्रोत होनी चाहिये। धर्म जीवन के किसी भी व्यवहार मे जुदा नही है, पर जीवन-व्यवहार की शुद्धता और निर्मलता का नाम ही धर्म है। धर्म के दो अर्थ हैं—स्वभाव और कर्त्तव्य। मनुष्य के अलावा संसार मे जो भी इतर प्राणी हैं उनके स्वभाव और कर्त्तव्य एक ही होते हैं किन्तु मनुष्य के लिये ये दोनो अपना-अपना अलग महत्त्व रखते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्थिति और स्थान पर रहकर अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये। वह कर्त्तव्य-पालन ही उसका धर्म है। डॉक्टर अपने रोगी का निस्वार्थ भाव से इलाज करे, वकील मुवक्किल को सच्चाई का महत्त्व समझाकर न्याय-मार्ग पर चलाये, शिक्षक छात्र को कल्याणकारी शिक्षा दे, दुकानदार ग्राहक को लिये जाने वाले मूल्य के अनुसार उत्तम वस्तु दे और इसी प्रकार सिपाही देश-भक्ति की भावना रखता हुआ अहर्निश देश की सेवा करे। यहा तक कि समय आने पर अपने बलिदान से भी पीछे नही हटे। जब देश का प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का सच्चे हृदय से पालन करेगा, धर्म का शुद्ध स्वरूप सामने आयेगा और उसकी रक्षा होगी। मनुस्मृति मे कहा गया है :—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

जो मनुष्य धर्म का नाश करता है उसका नाश हो जाता है और जो मनुष्य धर्म की रक्षा करता है धर्म उसकी रक्षा करता है।

शुद्ध धर्म ही मानव-समाज का कल्याण कर सकता है। धर्म के अलावा और कोई भी श्रेयस्कर उपाय मानव समाज की भलाई के लिये नही है। जो देश, जो राष्ट्र और जो समाज धर्म को भूल जाता है, वह अपने नाश को स्वयं ही निमंत्रित करता है। अपनी रक्षा करने के लिये हमे धर्म की रक्षा करनी होगी। अगर हमने धर्म का नाश कर दिया तो हमारा विनाश अवश्यंभावी है। धर्म समाज के विविध प्रकार के संतापो को दूर करने के लिये तथा अशाति को दूर करके शाति का प्रसार करने के लिये है। भीषण महायुद्धो मे त्रस्त और क्लान्त जगत् आज शाति की कामना कर रहा है और वह शाति हिंसा मे नही, परम धर्म अहिंसा मे ही प्राप्त की जा सकती है।

बंधुओ ! ऐसा लगता है कि धर्म को समझने मे अभी आपको उलझन महसूस हो रही है। आपकी परेशान निगाहे इस बात की साक्षी दे रही है। इस विषय मे आपसे मेरा यही कथन है कि धर्म के नाम से आप डरे नही और घबराहट महसूस न करें। धर्म का पालन करना आपके लिये तनिक भी कठिन नही है। सिर्फ उसे समझ लेना आवश्यक है। धर्म वही है, जो हमे गुणवान, नीतिवान, नम्र और सहृदय बनाता है। धर्म वही है जो हमारे हृदय मे जगत के समस्त प्राणियो के प्रति स्नेह, करुणा और दया का भाव जगाता है। धर्म वही है जो हमे अन्याय और अत्याचार का प्रतीकार करने की प्रेरणा देता है। हमारे राष्ट्रकवि ने कहा है —

अन्याय सह कर बैठना,
यह महा दुष्कर्म है।
न्यायार्थ अपने बंधु को भी,
दण्ड देना धर्म है।

—मैथिलीशरण गुप्त

तात्पर्य यही है कि अगर आप अन्याय के विरुद्ध लड रहे हैं, अत्याचारी को दण्ड दे रहे हैं तो भले ही आप युद्धभूमि मे क्यो न हो, धर्म का पालन कर रहे हैं। महाभारत युद्ध मे कौरव तथा पांडव दोनो ही एक दूसरे से लडे थे, दुर्योधन को जगत आज भी अधर्मी कहता है और युधिष्ठिर को धर्मराज कहकर स्मरण करता है। धर्म का अर्थ यही है, कि ससार के किसी भी प्राणी का अहित चितन न करना, सबसे मैत्रीभाव रखना तथा सभी का हित हो इसका प्रयत्न करना। आपकी आत्म-शक्ति इतनी प्रबल होनी चाहिये कि उसके कारण आप चाहे जिस स्थिति मे क्यो न हो, अपने कर्त्तव्य का ईमानदारी पूर्वक पालन कर सकें। जिसका आत्मबल दृढ होगा वह किसी भी प्रकार का प्रलोभन सामने आने पर भी डिगेगा नही। किसी भी प्रकार की विरोधी परिस्थिति सामने आने पर भी भयभीत नही होगा। जिस व्यक्ति मे आत्मबल या आत्म-विश्वास नही होता वह शक्तिमान होकर भी कायरो की श्रेणी मे गिना जाता है। शक्ति के विश्वास मे ही शक्ति होती है, और इसका अभाव अनेकानेक असफलताओ का कारण बन जाता है। कहा जाता है :—

Self trust is the first secret of succes. —एमर्सन

आत्म-विश्वास सफलता का मुख्य रहस्य है।

हम देखते हैं कि मृत्यु महान दुखदायी है, किन्तु वह मनुष्य को जीवन मे एक बार ही दुख देती है। इसके विपरीत आत्म-शक्ति का अभाव या आत्म-

हीनता ऐसी मृत्यु है, जो मनुष्य को जीवन मे असख्य वार दु ख देती है। प्रत्येक मनुष्य को अपने आत्म-बल पर विश्वास होना चाहिये और सैनिक का जीवन तो आत्म-विश्वास से ओत-प्रोत रहना ही चाहिये। अन्यथा वह कभी अपने उद्देश्य मे सफल नही हो सकता। भले ही उसके पास हथियार हो, शरीर मे अतुल बल हो और मस्तिष्क मे बुद्धि हो, किन्तु हृदय मे साहस नही होगा उसे अपने ऊपर भरोसा नही होगा तो अन्य समस्त साधनो के होते हुए भी वह विजय प्राप्त नही कर सकेगा। आत्म-विश्वास सैनिक का सबसे बडा हथियार है।

आप लोगो ने जो सैनिक-जीवन अपनाया है, सेवा का कठिन व्रत लिया है उसका पालन तभी हो सकेगा जब आपका हृदय आत्म-विश्वास से सदा सुसज्जित रहेगा। आत्म-बल ही आपको जीवन सग्राम मे विजयी बना सकेगा। लेकिन विजयी बनाने की कामना करने से पहले आपको यह जान लेना आवश्यक है कि सच्ची जय किसे कहते हैं ? जय एक ऐसा रुचिकर शब्द है, जिसे ससार का प्रत्येक मनुष्य पसद करता है। प्रत्येक व्यक्ति विजयी बनना चाहता है कोई कभी अपने को पराजित होना नही चाहता। मानव-जीवन एक सग्राम है। यह दो प्रकार का होता है, आतरिक और वाह्य। आतरिक सग्राम वह है जो मनुष्य अपने अन्दर करता है। वह मन के अन्दर छिपी हुई विषय-वासनाओ को तथा वैर, विरोध, ईर्ष्या, द्वेष और क्रोध आदि विकारो पर काबू पाने का प्रयत्न करता है। यह आन्तरिक सघर्ष बाह्य सघर्ष से कठिन है। भगवद्-गीता मे कहा भी है —

चञ्चलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्जुन कृष्ण से कहते हैं—यह मन बडा चचल और प्रमथन स्वभाव वाला है। बडा ही बलवान और दृढ है। मुझे तो ऐसा लगता है कि उसको वश मे करना वायु को वश मे करने के समान अत्यन्त दुष्कर है।

हमारे तीर्थंकरो ने इन्द्रियो से तथा उनके नायक मन से ही घोर सग्राम करके कर्मों का नाश किया है। यद्यपि मन रूपी दुर्दमनीय शत्रु पर विजय पाना अत्यन्त कठिन है किन्तु जो उस पर विजय प्राप्त कर लेता है, उसे पुनः इस संसार मे आने की जरूरत नही रहती। अर्थात् उसकी आत्मा कर्म बधनो से मुक्त हो जाती है। कहा गया है—

मनोयोगो बलीयाश्च, भाषितो भगवन्मते।
यः सप्तमीं क्षणार्धेन, नयेद् वा मोक्षमेव च॥

वीताराग प्रभु के मत मे मनोयोग को इतना बलशाली बतलाया गया है कि वह आधे क्षण मे सातवें नरक मे, और आधे क्षण मे मोक्ष मे पहुँचा देता है।

तात्पर्य यही है कि जीता हुआ मन आत्मा को मोक्ष मे पहुँचा देता है तथा जिस पर काबू न किया जा सका हो, ऐसा स्वतन्त्र मन आत्मा को नरक-गामी बना कर छोडता है। इसलिये साधुजन आत्म-सघर्ष ही करते हैं तथा कालान्तर मे अपनी आत्मा को ससार से मुक्त करके अव्याबाध शान्ति को प्राप्त कर लेते हैं।

दूसरे प्रकार का सग्राम बाह्य होता है। आज की दुनिया मे एक मनुष्य अपने स्वार्थ की खातिर दूसरे का सर्वस्व छीन कर उसमे अपनी जय मानता है। एक शक्तिशाली राष्ट्र अपनी समृद्धि बढाने के लिये छोटे राष्ट्रो पर आक्रमण करके लाखो निर्दोषो की लाशो पर अपनी जीत का झंडा गाडता है। किन्तु क्या यह सच्ची विजय है ? कभी नही। हिटलर ने असख्य प्राणियो का संहार करके युरोप की भूमि को रक्तरजित कर दिया था और अपने को विजेता घोषित किया था, किन्तु उस विजय का उसे क्या मूल्य मिला ? जगत के एक-एक व्यक्ति का घृणापूर्ण तिरस्कार ही तो। लाखो की जान लेने वाले हिटलर को ससार सच्चा विजयी नही कहेगा, वह विजयी कहेगा लाखो के लिये बलिदान होने वाले गाँधी को। हिंसा से मिली हुई सत्ता और शोषण से प्राप्त किया हुआ धन दोनो ही जीत नही है, वह तो पूर्ण रूप से हार रही है।

भाइयो ! मेरे कथन का अभिप्राय आपने समझ लिया होगा। वह यही है कि आपके हथियार कभी भी अन्याय व अत्याचार को प्रश्रय देने मे नही उठने चाहिये। आपका शौर्य अन्याय का प्रतीकार करे, आपका शौर्य निर्दोषो की सहायता करे और आपका शौर्य शरणागत की रक्षा करे वही आपकी सच्ची विजय मानी जा सकती है। जीत सदा सत्य, न्याय नीति, परोपकार और सेवा मे छिपी हुई होती है। असत्य, अन्याय, अनीति और शोषण मे उसका शताश भी नही होता। सक्षेप मे, लाखो व्यक्तियो का खून बहाकर सत्ता जमा लेने वाला व्यक्ति पराजित है और एक रुदन करते हुए व्यक्ति के आँसू पोछने वाला विजयी। आपको रावण और कस नही बनना है, बनना है राम और कृष्ण, जिन्होंने अपनी सम्पूर्ण शक्ति अन्याय और अनीति को नष्ट करने मे लगाई। सिर्फ इतना ही नही, उन्होंने बाह्य सघर्ष के साथ-साथ आतरिक सघर्ष भी जारी रखा।

आपको स्मरण रखना चाहिये कि यद्यपि ससार मे रहते हुए आपको

बाह्य संघर्ष करने हैं। यह आपके इहलौकिक कर्त्तव्य हैं। और इनसे आपको प्रशंसा तथा ख्याति प्राप्त हो सकेगी, किन्तु ये सब इहलौकिक कर्त्तव्य आत्मा को पुन पुन जन्म-मरण के चक्र से नही छुडा सकेंगे। आत्मा को संसार से मुक्त करने के लिये तो एक दिन आपको आतरिक संघर्ष करना ही होगा। अगर बाह्य सघर्ष के साथ-साथ आपका आतरिक संघर्ष चलता रहेगा अर्थात् आपकी आत्मा बाह्य शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने के साथ-साथ आतरिक शत्रुओ पर विजय पाने का प्रयास करती रहेगी तो एक समय ऐसा अवश्य आएगा, जब आप बाह्य सघर्ष मे विजयी होकर आतरिक सघर्ष मे जुट जाएँगे तथा भगवान महावीर और बुद्ध के समान समस्त कर्म-शत्रुओ पर विजय प्राप्त करके मुक्ति लाभ करेंगे। यही मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य है और प्रत्येक मानव को इस लक्ष्य की ओर पहुँचने मे सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। कहा भी है :—

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात, विषयान् विषवत् त्यज।
क्षमार्जवदया - शौच-सत्यं, पीयूषवत् पिब ॥

अर्थात् —यदि तुझे मुक्ति की इच्छा है तो विषयो को विष के समान त्याग दे तथा क्षमा सरलता, दया, पवित्रता और सत्य को अमृत के समान ग्रहणकर।

क्षमा दया आदि समस्त गुण मुक्ति महल पर चढने के लिये सोपानवत् है, इसलिये इनको ग्रहण करना मुमुक्षु प्राणी के लिये अनिवार्य है। मानव-जन्म के अलावा और किसी योनि मे जन्म लेने पर इन गुणो को ग्रहण नही किया जा सकता। क्योकि सृष्टि के अन्य समस्त प्राणियो की अपेक्षा एक मनुष्य मे ही बुद्धि और ज्ञान का चरम प्रकाश होता है। जीव मनुष्य-तन के द्वारा ही अपने कल्याण की साधना कर सकता है। इसलिये देवो को भी जो दुर्लभ है, ऐसी नर देह को पाकर के भी, जो अपना परलोक नही सुधारता वह अन्तिम समय मे सिर धुन-धुन कर पछताता है। तथा कभी काल को, कभी अपने कर्मों को तथा कभी ईश्वर को मिथ्या दोष देता है। एक पजाबी कवि ने ऐसे ही किसी व्यक्ति के भावो को कागज पर अंकित किया है। काल के आ जाने पर पश्चाताप करता हुआ व्यक्ति सोचता है :—

"मेरे मन दियाँ मन बिच रहूयां कीतियाँ काल चढ़ाइयाँ ने।
कीते सारे काम निराले, प्रभु दी छुड़ावन वाले।
खोले कौण बंधन दे ताले, चाबियाँ आप गवाइयाँ ने।
चारी सफर करन दी आई, तन बिच जोर न पल्ले पाई।
पिछली बीती चेते आई, रो-रो देन दुहाइयाँ ने।

अर्थात्— मेरे मन की मन ही मे रह गई। आज काल ने मुझ पर चढाई कर दी है। मैंने सारे ही काम ऐसे किये है जिनमे प्रभु के प्रति भक्ति का लेशमात्र भी नही था। और अब जब कि मैंने कुंजी स्वय ही खो दी है, अब मेरे इन कर्म-बधनो के दृढ तालों को कौन खोलेगा ?

आज, जब कि, अनन्तयात्रा करने का समय आ गया है, इस शरीर मे तनिक भी शक्ति नही है। सिर्फ व्यर्थ बिताया हुआ अतीत ही याद आ रहा है पर अब मेरे रो-रो कर दुहाई देने से भी क्या हो सकता है ?

वीर सैनिको! आपने समझ लिया होगा कि मानव शरीर पाकर भी जीवन व्यर्थ गँवा देने वाले व्यक्ति को अत मे कितना पश्चाताप होता है ? पर उस समय पश्चाताप करने से कोई लाभ नहीं होता, अवसर सदा के लिये चला जाता है। मैं जानती हूँ कि आप जैसे सैनिकों को आत्मा के कल्याण का उपदेश देना संभवत आपकी दृष्टि मे बेवक्त की शहनाई होगी। किन्तु आप यह न भूलें कि एक सैनिक होने के बावजूद भी आप नर-देहधारी प्राणी हैं और यह देह बार-बार नही मिलती। अन्य मनुष्यो की अपेक्षा आपका कार्य भिन्न प्रकार का है और उसे करते हुए आपको धर्मानुसार चलना कठिन है किन्तु इस स्थिति मे ही तो आपको अधिक शिक्षा देने की आवश्यकता है। घोडे पर चलने वाले व्यक्ति को ही सम्हल कर बैठने के लिये कहा जाता है और पानी मे उतरने वाले व्यक्ति को डूब न जाने के तरीके सिखाये जाते जाते हैं। कँटीले मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को जिस प्रकार सावधानी रखनी पडती है उसी प्रकार आपको भी अपने जीवन मे अत्यन्त सावधानी रखनी पडेगी। आप सैनिक हैं और इसके अनुसार आपको अनेक कर्त्तव्य पूरे करने हैं, किन्तु साथ ही यह नहीं भूलना है कि इस देह मे आत्मा भी है और उसके प्रति भी आपके महत्वपूर्ण कर्त्तव्य हैं। इस देह के द्वारा ही वे सब कर्त्तव्य भी करने हैं जो आत्मा के लिये कल्याणकारी है।

आत्मा का शुभ करने वाले कर्त्तव्यो के विषय मे मैं अभी आपको बहुत कुछ बता चुकी हूँ अत- उन्हे दुहराने की आवश्यकता नही है। इतना ही कहना है कि वे आपके इन लौकिक कर्त्तव्यो मे बाधक नही होगे वरन् इन्हे और भी प्रशसनीय तथा स्मरणीय बना देंगे। जिस व्यक्ति के हृदय मे उच्च और पवित्र विचार होते हैं उसके समस्त कार्य उच्च और महान होते हैं। एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा भी है —

"Great thoughts reduced to practice be come great acts."

—हैजलिट

महान् विचार कार्य रूप में परिणत होने पर महान कर्म बन जाते हैं।

हैजलिट का कथन अक्षरश सत्य है। जिस व्यक्ति के विचार शुद्ध और संसार के अन्य प्राणियों के प्रति सद् भावना युक्त हैं, उसके द्वारा कभी जघन्य कार्य नही हो सकते। चाहे वह व्यक्ति साधारण नागरिक हो, व्यापारी हो, वकील और मजिस्ट्रेट हो, सैनिक तथा उच्च पदस्थ सैनाधिकारी हो। मैं तो समझती हूँ कि आप लोगो की तरह सेना में रहने वाला व्यक्ति चाहे वह सेनापति हो या साधारण सैनिक, अन्य किसी भी नागरिक की अपेक्षा अधिक उत्तम कर्म कर सकता है उसे अपनी नैतिकता, दयालुता और एक ही शब्द मे मानवता को उपयोग मे लेने के अधिक अवसर मिलते हैं। एक सामान्य नागरिक किसी एक प्राणी के प्राण बचाने में भी समर्थ नही हो पाता वहाँ एक सैनिक चाहे तो जीवन मे अनेकानेक निर्दोष प्राणियो की रक्षा कर सकता है। अनधिकारी द्वारा छीने गए किसी के सर्वस्व को पुन. लौटा सकता है और चोरी, डकैती, भ्रष्टाचार आदि अनैतिक कार्यों को भरसक कम कर सकता है।

समय बहुत हो गया है बंधुओ! अब मुझे चलना चाहिये। आशा है आपने मेरे कथन को हृदयगम किया होगा। आप अपने जीवन को निर्दोष, समुज्ज्वल तथा आत्म-कल्याणकारी बनाएँ। मुझे विश्वास है कि जिस प्रकार आप देश के शत्रुओं से देश की रक्षा करेंगे, उसी प्रकार आत्मा के शत्रुओ से अपनी आत्मा की भी रक्षा करते हुए मनुष्य जन्म को सार्थक करेंगे।



४

मति और गति

बंधुओ !

आजके प्रवचन का विषय है "मति और गति।" मति का अर्थ है बुद्धि, और गति का अर्थ है चाल अथवा हलन-चलन आदि क्रिया। ससार का प्रत्येक प्राणी अपनी मति के अनुसार गति करता है। प्रत्येक प्राणी की मति भी एक दूसरे से भिन्न होती है। बुद्धि की तीव्रता और मदता के अनेक उदाहरण हमारे समक्ष नित्य आते है।

मनुष्य के अलावा संसार मे जितने भी प्राणी हैं, उनकी मति अथवा बुद्धि अत्यन्त सीमित होती है। पशु, पक्षी तथा अन्य नाना प्रकार के जीव-जन्तु इस पृथ्वी पर रहते हैं। किन्तु मति की विशालता न होने के कारण उनकी मति चलने, फिरने, उठने बैठने, बोलने अथवा खाने-पाने तक ही सीमित रहती है। भूख लगने पर पेट भर लेने तथा नीद आने पर सो जाने के अलावा उनकी मति अधिक गति नही कर पाती।

किन्तु मनुष्य एक ऐसा भाग्यशाली प्राणी है, जिसे विशिष्ट मति प्राप्त है। उसके पास असाधारण मस्तिष्क, असाधारण विवेक और असाधारण हृदय है,

महान् विचार कार्य रूप में परिणत होने पर महान कर्म बन जाते हैं।

हैजलिट का कथन अक्षरश सत्य है। जिस व्यक्ति के विचार शुद्ध और संसार के अन्य प्राणियों के प्रति मद् भावना युक्त हैं, उसके द्वारा कभी जघन्य कार्य नही हो सकते। चाहे वह व्यक्ति साधारण नागरिक हो, व्यापारी हो, वकील और मजिस्ट्रेट हो, सैनिक तथा उच्च पदस्थ सैनाधिकारी हो। मै तो समझती हूँ कि आप लोगो की तरह सेना मे रहने वाला व्यक्ति चाहे वह सेनापति हो या साधारण सैनिक, अन्य किसी भी नागरिक की अपेक्षा अधिक उत्तम कर्म कर सकता है उसे अपनी नैतिकता, दयालुता और एक ही शब्द मे मानवता को उपयोग मे लेने के अधिक अवसर मिलते है। एक सामान्य नागरिक किसी एक प्राणी के प्राण बचाने में भी समर्थ नही हो पाता वहाँ एक सैनिक चाहे तो जीवन मे अनेकानेक निर्दोष प्राणियो की रक्षा कर सकता है। अनधिकारी द्वारा छीने गए किसी के सर्वस्व को पुन. लौटा सकता है और चोरी, डकैती, भ्रष्टाचार आदि अनैतिक कार्यों को भरसक कम कर सकता है।

समय बहुत हो गया है बंधुओ ! अब मुझे चलना चाहिये। आशा है आपने मेरे कथन को हृदयंगम किया होगा। आप अपने जीवन को निर्दोष, समुज्ज्वल तथा आत्म-कल्याणकारी बनाएँ। मुझे विश्वास है कि जिस प्रकार आप देश के शत्रुओं से देश की रक्षा करेंगे, उसी प्रकार आत्मा के शत्रुओ से अपनी आत्मा की भी रक्षा करते हुए मनुष्य जन्म को सार्थक करेंगे।



४

मति और गति

बंधुओ !

आजके प्रवचन का विषय है "मति और गति।" मति का अर्थ है बुद्धि, और गति का अर्थ है चाल अथवा हलन-चलन आदि क्रिया। संसार का प्रत्येक प्राणी अपनी मति के अनुसार गति करता है। प्रत्येक प्राणी की मति भी एक दूसरे से भिन्न होती है। बुद्धि की तीव्रता और मंदता के अनेक उदाहरण हमारे समक्ष नित्य आते है।

मनुष्य के अलावा संसार मे जितने भी प्राणी हैं, उनकी मति अथवा बुद्धि अत्यन्त सीमित होती है। पशु, पक्षी तथा अन्य नाना प्रकार के जीव-जन्तु इस पृथ्वी पर रहते हैं। किन्तु मति की विशालता न होने के कारण उनकी मति चलने, फिरने, उठने बैठने, बोलने अथवा खाने-पाने तक ही सीमित रहती है। भूख लगने पर पेट भर लेने तथा नींद आने पर सो जाने के अलावा उनकी मति अधिक गति नहीं कर पाती।

किन्तु मनुष्य एक ऐसा भाग्यशाली प्राणी है, जिसे विशिष्ट मति प्राप्त है। उसके पास असाधारण मस्तिष्क, असाधारण विवेक और असाधारण हृदय है,

जिनके द्वारा वह अपनी अर्थात् अपनी आत्मा की गति को इतनी सशक्त और और तीव्र बना सकता है कि वह असंख्य योजन दूर लोक के अग्रभाग पर स्थित सिद्ध स्थान तक भी एक समय मात्र मे पहुँच सकती है। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि वह अपनी 'मति और गति' मे सामञ्जस्य बनाए रखे।

सृष्टि का क्रम निरतर चलते रहना है। प्रकृति सदा प्रगतिशील रहती है। उसकी प्रेरणा यही रहती है कि सब चलते रहे, बढते रहे, कोई रुककर अथवा अकर्मण्य बनकर न रहे। अपनी गति मे बाधा डालने वाले पर प्रकृति कुपित होती है। और उसका अस्तित्व मिटा देती है। हम सदा देखते है, कोई भी पेड, पौधा या वृक्ष जब तक प्रकृति से मेल करता हुआ बढता है, तब तक तो प्रकृति के समस्त तत्त्व उसका पोषण करते है किन्तु जिस दिन भी उसका विकास रुक जाता है, प्रकृति क्षुब्ध होकर उसे नष्ट कर देती है। यही हाल मनुष्य के जीवन का है। जब तक मनुष्य अपनी प्राकृतिक शक्तियो का सदुपयोग करता हुआ अपना विकास करता है, प्रकृति उसे स्वस्थ्य, सबल और चुस्त बने रहने मे सहायक होती है किन्तु जिस दिन से वह देखती है कि मानव आलसी, अकर्मण्य और निष्क्रिय हो गया है, उसी दिन से वह उसका अस्तित्व मिटाने के लिये तुल जाती है। कहते भी है —

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः।

अर्थात्—आलस्य ही मनुष्य के शरीर मे रहने वाला उसका सबसे बडा शत्रु है।

जब आलस्य मनुष्य के शरीर मे घर कर जाता है तो उसकी मति कुंठित हो जाती है और मति के निष्क्रिय होते ही गति अपनी सक्रियता छोड देती है। इसलिए मनुष्य को चाहिये कि वह आलस्य अथवा अकर्मण्यता को अपनाकर प्रकृति से विद्रोह न करे। जीवन के लिये प्रगतिशीलता आवश्यक है और प्रगतिशील बनने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य निरन्तर सत्पुरुषार्थ करता रहे।

इस अस्थिर और परिवर्तनशील संसार मे मानव अत्यंत अल्पकाल के लिये आता है। और उसके बाद चल देता है। वह एक ऐसा यात्री है जो स्वेच्छा से कही रुक नही सकता। या तो उसे आगे बढना होता है या पीछे हटना। इस विराट विश्व मे उसके विश्राम करने के लिये कोई स्थान नही है, कही पडाव नही है। अपनी इहलौकिक यात्रा को क्षण भर के लिये भी स्थगित करने का उसे अधिकार नही है। इच्छा हो या अनिच्छा, चलना उसे अवश्य

पडगा। और जब चलना ही है तो अपनी सुमति के द्वारा सही मार्ग को पहचान कर उस पर ही चलना श्रेयस्कर होगा।

चलना कैसा ?

मनुष्य के लिये चलने का अर्थ केवल घूमना-फिरना अथवा बिना सोचे विचारे दौडना-भागना नही है। चलने को तो प्रत्येक प्राणी चलता है, गाय, बैल, भैस घोडे आदि पशु भी चलते रहते हैं। पक्षी आकाश मे उडते-फिरते हैं। किन्तु उस चलने का कोई महत्त्व नही है। मनुष्य के लिये चलने का अर्थ है, निरतर विकासोन्मुख होना। उसे जो असाधारण शक्तियाँ प्राप्त हैं उनका सही उपयोग करते हुए आत्मा की मुक्ति के लिये प्रयत्नशील रहना। मनुष्य को शरीर के बदले विचारो से तथा पैरो की बजाय आचरण से चलने का अभ्यास करना चाहिये। दुर्लभ मानव जीवन की प्राप्ति जब हुई है तो उसका सम्पूर्ण लाभ उठाने के लिये तत्पर रहना चाहिए। पर यह तभी हो सकता है, जब वह अपने सही लक्ष्य को समझ ले और उस ओर गतिशील रहे। लक्ष्यहीन जीवन निर्जन वन मे भटकने के समान होता है, जिससे कभी कोई लाभ नही हो सकता।

अपने जीवन का एक लक्ष्य बनाओ, और उसके बाद अपना सारा शारीरिक और मानसिक बल उसमे लगा दो।

मानव की मगलमयी लक्ष्योन्मुख गति को प्रगति कहते हैं। अपनी सम्पूर्ण शक्ति से लक्ष्य की ओर बढना ही उसका विकास करना है। मनुष्य जीवन का लक्ष्य कितना भी दुष्प्राप्य क्यो न हो, उसकी प्राप्ति करने मे कितनी भी बाधाएँ क्यो न हो, अगर मानव उसे प्राप्त करने के लिये कटिबद्ध हो जाए तो निश्चय ही उसे पा सकता है। मजिल के दूर होने पर भी यात्री निरन्तर उसकी ओर गतिशील रहता है तो मजिल निकट आए बिना नही रहती। बस, अपनी शक्ति पर विश्वास रक्खो। आत्म-शक्ति पर विश्वास रखने वाला पुरुष अपने पौरुष से असफलता की चट्टान को चूर-चूर कर सकता है। अपने लक्ष्य तक पहुँचने का दृढ सकल्प कर लेने पर उसका लक्ष्य एक क्षण के लिये भी उसकी आँखो से ओझल नही होता। बिना रुके, बिना मुडे और बिना रुकावट महसूस किये वह अपने निर्णीत ध्येय की ओर बढता चला जाता है। उसके बढते हुए कदम उसी समय थमते हैं जब मजिल स्वयं मुस्करा कर उसका स्वागत करती है तथा असीम सुख और शान्ति उसकी झोली मे डाल देती है।

लक्ष्य क्या हो ?

बतलाया जा चुका है कि मनुष्य यदि अविराम गति से बढता रहे तो निश्चय ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। किन्तु वह लक्ष्य क्या हो ? इसका निर्णय करना ही गभीर विवेक चिंतन का कार्य है। किस लक्ष्य को प्राप्त करने मे मानव-जीवन की सार्थकता है ? इस प्रश्न का समाधान मनुष्य को बडी समझदारी और सावधानी से करना चाहिये। प्रगति तो प्रत्येक मनुष्य करता ही है किन्तु जीवन के उद्देश्य को समझे बिना किसी भी मार्ग पर अधाधुंध बढ जाने से लाभ की बजाय हानि ही होती है। इससे इस लोक मे भी सुख और शान्ति नही मिलती तथा परलोक भी दु खमय बन जाता है। किन्तु बुद्धिमान पुरुष ऐसा नही करता। वह तभी अपने कदम आगे बढाता है जब पूरी तरह सोच-विचार कर सही लक्ष्य चुन लेता है। कहा भी है —

चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान् ।
नासमीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत् ॥

अर्थात्—बुद्धिमान् मनुष्य एक पैर आगे बढाता है, लेकिन दूसरा पैर जमाए रहता है। जब तक वह दूसरे स्थान की भली-भाँति परीक्षा नही कर लेता, तब तक पहले स्थान को नही छोडता।

कहने का अभिप्राय यही है कि सही लक्ष्य का निर्धारण कर लेने पर ही व्यक्ति को आगे बढना चाहिये। मानव जीवन का लक्ष्य क्या है ? इस विषय मे मनुष्यो के भिन्न-भिन्न मत हो सकते है। नास्तिक अपने जीवन का एक-मात्र लक्ष्य मानते हैं, मौज करना मजे उडाना और ऋण लेकर भी घी पीना। कुछ व्यक्ति यश प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य मानते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो अधिक से अधिक ऐश्वर्यशाली बनने मे जीवन की सार्थकता मानते है और ऐसे लोगो की भी कमी नही है जो वश को चलाने के लिये पुत्र-पौत्रो की भरमार हो जाने को ही जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर लेना मानते है। किन्तु यह सब जीवन का ध्येय नही है सासारिक भोगोपभोग की समस्त वस्तुएँ प्रेय अर्थात् केवल मन को प्रिय लगने वाली होती है। आत्मा के लिये ये सब श्रेयस्कर नही होती। इनकी आकाक्षा करना इनके लिये प्रयत्न करना बालू की दीवार बनाने के समान निरर्थक होता है। एक फारसी कवि ने कहा है —

ऐ गिरफ्तारे पाए बन्दे अयाल ।
दिगर आज़ादगी मबन्द ख्याल ॥
गमे फरजजन्दो नानो जामाओ कूत ।

अर्थात्—हे मनुष्य ! तू सन्तान, खान-पान वेष-भूषा, आजीविका तथा अन्य

सासारिक पदार्थों के प्रेम मे आसक्त रहकर किसी प्रकार भी बन्धन से मुक्त नही हो सकता, क्योंकि इन पदार्थों की चिन्ता मोक्ष की चिन्ता मे बाधक होती है।

कवि का तात्पर्य यही है कि समस्त सासारिक चिन्ताओं से बढकर मोक्ष की अथवा आत्मा की मुक्ति की चिन्ता होनी चाहिये। अगर दुर्लभ मानव-जन्म पाकर भी मनुष्य ने अपनी आत्मा को कर्म-मुक्त नहीं किया तो समझना चाहिये कि उसने कुछ भी नहीं किया। वह व्यर्थ ही कोल्हू के बैल की तरह निरर्थक गति करता रहा। विद्वानो का कथन है—

आनन्दरूपो निजबोधरूपो
दिव्यस्वरूपो बहुनामरूप ।
तप समाधौ कलितो न येन।
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम् ।

अर्थात् - जिस मनुष्य ने तपस्या करके और समाधि धारण करके अपनी आत्मा के अनन्त आनन्दमय स्वरूप को नही पहचाना और जिसने अपने समस्त पर्यायो से अतीत दिव्य स्वरूप को नहीं जाना और उसे पाने का प्रयत्न नही किया, उसकी जिन्दगी निरर्थक चली गई।

वास्तव मे जीवन का उच्चतम लक्ष्य है, अखण्ड और अक्षय शाति तथा अनन्त और अव्याबाध सुख की प्राप्ति करना। अतएव मनुष्य के समस्त पुरुषार्थ, प्रयत्न, साधनाएँ और कर्म ऐसे होने चाहिये जिनसे आत्मा जन्म-मरण के बधन से मुक्त होकर मनुष्य पर्याय के चरम लक्ष्य को प्राप्त करे। इस विराट उद्देश्य को पूरा करने मे मनुष्य की मति अर्थात् बुद्धि ही उसके लिए सर्वाधिक सहायक बनती है। मतिहीन व्यक्ति प्रथम तो अपने जीवन के सही लक्ष्य को खोज ही नही पाता और कदाचिन खोज ले तो आलस्य, अंधता, अधैर्य भय तथा व्याकुलता आदि बाधाओ के आते ही हिम्मत हार जाता है और लक्ष्य की ओर बढने वाले मार्ग से च्युत हो जाता है कहा भी है—

आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञा कामं व्यग्रा भवन्ति च।
महारम्भा कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुला.॥

—माघ

अज्ञजन छोटा सा कार्य आरम्भ करते हैं और उसी मे अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं। बुद्धिमान् पुरुष बडे से बडा कार्य आरम्भ करके भी व्याकुल नही होते अर्थात् सफलता प्राप्त कर लेते हैं।

यह सब होता है मति की शुद्धता, दृढता और उच्चता के कारण। मतिमान्

व्यक्ति के लिये ससार में कुछ भी असाध्य नही होता। कोई भी बाधा उसे आगे बढने से नही रोक सकती और कोई भी सकट उसे भयभीत नही कर सकता। अपनी लगन और दूरदर्शिता के कारण वह समस्त बाधक कारणो को भी अपना सहायक बना लेता है। किसी कवि ने सत्य लिखा है :—

कर्मवीर के आगे पथ का,
हर पत्थर साधक बनता है।
दीवारें भी दिशा बतातीं,
मानव जब आगे बढता है।

आगे बढने वाले साधक को मार्ग में आने वाली बाधाओ का पूरी शक्ति से मुकाबला करते हुए अपना मार्ग तय करना चाहिए। बाधाओं के सामने झुकना अकर्मण्य पुरुषो का कार्य है। कर्मवीर के लिये तो सब विपत्तियाँ अभिशाप न रहकर वरदान बन जाती है।

राह के रोड़े :

आलस्य—आत्मोन्नति के इच्छुक व्यक्ति की राह मे आने वाली सबसे पहली बाधा आलस्य है। आलस्य एक ऐसा राजरोग है, जिससे ग्रस्त रोगी कदापि स्वास्थ्य लाभ नही करता। हम प्राय देखते हैं कि बर्तन काम मे लेने से जल्दी नही घिसता किन्तु मोरचा लग जाने पर उसमे अनेक सुराख हो जाते हैं और अल्प समय मे ही वह उपयोग के योग्य नही रहता। इसी प्रकार आलस्य रूपी जग जब मनुष्य की बुद्धि मे लग जाता है तो वह जडता, अनुत्साह, कायरता तथा भीरुता रूपी अनेक सुराख उसमे कर देता है और मनुष्य मतिहीन होने के साथ ही गतिहीन भी हो जाता है।

एक तपस्वी दिन रात भजन करते रहते थे। एक दिन उनके किसी भक्त ने कहा—गुरुदेव ! 'आप अहर्निश साधना करते रहते हैं, कुछ देर विश्राम क्यों नही करते ?

महात्मा ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया – वत्स, जिसके नीचे नरकाग्नि जल रही हो और जिसे ऊपर दिव्य राज्य बुला रहा हो वह एक क्षण भी आलस्य मे कैसे गँवा सकता है ?

वास्तव मे उद्यम स्वर्ग है और आलस्य साक्षात् नरक। आलसी व्यक्ति सदा भाग्य के भरोसे बैठा रहता है। तुलसीदास जी ने कहा भी है :—

कायर मन कर एक अधारा।
दैव दैव आलसी पुकारा।

किन्तु पुकारते रहने से ही दैव सहायक नही बनता। वह सिर्फ उसी की

सहायता करता है, जो अपनी क्रियाशक्ति पर भरोसा रखते हुए लक्ष्य-सिद्धि के प्रयत्न मे लगा रहता है। लक्ष्यहीन अथवा गतिहीन पुरुष का जीवन निरर्थक और भाररूप साबित होता है। महाकवि गेटे ने तो निरर्थक जीवन को अकाल मृत्यु ही माना है। महान् विचारक कार्लाइल ने भी कहा है —

"In idleness alone there is perpetual despair."

अर्थात्—आलस्य मे सान्ततिक निराशा रहती है।

अन्धता - मनुष्य की प्रगति मे अन्धता भी बडी भारी बाधा बनकर आ खडी होती है। अन्धता से तात्पर्य मनुष्य का केवल नेत्राध होना ही नही वरन् धर्मान्ध, कामान्ध और स्वार्थान्ध होना भी है। धर्मान्ध व्यक्ति धर्म के किसी एक अग को पकड कर बैठ जाते हैं और उसके नशे मे, अनेक अनुचित और करुणा रहित कर्म कर बैठते हैं।

एक राजा स्वर्ग-प्राप्ति की लालसा से यज्ञ कर रहा था। यज्ञ मे बलि देने के लिए एक बकरा लाया गया। बकरा अपनी मृत्यु का आभास पाकर मिमियाने लगा। राजा ने विनोद पूर्वक अपने मत्री से पूछा—यह बकरा क्या कह रहा है ?

मत्री ने उत्तर दिया—यह आपसे अर्ज कर रहा है—"मुझे स्वर्ग नही चाहिये। स्वर्ग के दिव्य भोगो की अपेक्षा मुझे तो घास खाना ही पसद है। यदि यज्ञ मे बलि दिये जाने पर प्राणी स्वर्ग चला जाता है तो तुम अपने माता, पिता, पत्नी, पुत्र और पुत्रियो की अथवा खुद अपनी बलि देकर स्वर्ग क्यो नही चले जाते ?

मत्री की बात सुनकर राजा अपनी धर्मान्धता पर अत्यन्त लज्जित हुआ और उसी समय उसने बकरे को छोड दिया। साथ ही भविष्य मे कभी धर्म के नाम पर जीव-हिंसा जैसा क्रूर धर्म न करने की प्रतिज्ञा ली।

स्वार्थांध मानव अनेक बहाने बनाकर अमानवीय कृत्य किया करते हैं। किसी कवि ने कुछ विषयो को लेकर सत्य ही कहा है —

शांति के नाम पर—

नित्य नरमेध होता रहा आज तक,
बलि करोडो नरो की चढाई गई।
भूमिकाएँ बनाकर नए युद्ध की,
युग युगो से लडी हर लडाई गई।

धर्म के नाम पर—

नित्य खेली गई रक्त की होलियाँ,
घर शहर औ नगर सब जलाए गए।
लाश के ढेर ऊँचे लगा कर सदा,
चील कौए हजारो बुलाए गए।

विज्ञान के नाम पर—

नित नए अस्त्र ही बस बनाए गए,
ध्वंस को ही बुलाया गया सर्वदा।
सैंकडो सभ्यताएँ कुचल दी गई,
औ उजाडी गई संस्कृतियॉ सदा।

देश के नाम पर—

नग्न भूखे जनो को सदा ठोक औ-
पीट कर देश सेवक बनाया गया।
छीन कर ग्रास मुख का, वसन देह का,
त्याग का पाठ ही नित पढाया गया।

समाज के नाम पर—

संपदा मात्र नारी पुरुष की बनी,
रूप बेचा खरीदा गया आज तक।
चीख आहे करोडो दबा दी गईं,
लाज लूटी खसोटी गई बेधडक।

मानवता के नाम पर—

नित्य हत्या हुई न्याय की, श्वान का-
आदमी से अधिक मूल्य आँका गया।
पशु बनाकर मनुज को जिधर मन हुआ,
बस उधर सैंकडो बार हॉका गया।

अभिप्राय यह है कि मानव आग्रहशील बनकर परमार्थ को भुला देता है तथा उसकी विचारान्धता करणीय और अकरणीय के पार्थक्य को विस्मृत कर अनेक दुष्कर्मो का कारण बन जाती हैं। परिणाम यह होता है कि उसकी आत्मा प्रगति की ओर न बढकर पतन की ओर उन्मुख हो जाती है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने विचारो के प्रति अगर वे गलत है तो दुराग्रह

न रखे तथा उन्हे त्याग कर सद्विचारो को अपनाए। इन्सान से भूल होना स्वाभाविक है कि किन्तु उसे पकडे रहना पाप है। मनुष्यता का तकाजा यही है कि मनुष्य अपनी भूल को भूल मानकर निस्सकोच होकर त्याग दे—एक दार्शनिक ने मानव मन की महत्ता और निकृष्टता को बडे सुन्दर ढग से बताया है —

"Man-like it is to fall in to sin, fiend like it is to dwell therein, Christ like it is, for sin to grieve, God-like it is all sin to leave"
—लाग फैलो

पाप मे पडना मानव स्वभाव है, उसमे डूबे रहना शैतान स्वभाव है, उस पर दुखित होना सत-स्वभाव है और सब पापो से मुक्त होना ईश्वर स्वभाव है।

भय—प्रगतिशील मनुष्य के मार्ग मे आने वाला एक रोडा भय है। यह एक ऐसा सकट है, जिसका आक्रमण होने पर मनुष्य स्वय अपनी ही दृष्टि मे असमर्थ, प्रभावहीन और निर्बल प्रतीत होने लगता है। भय के कारण उसकी बुद्धि कुंठित हो जाती है तथा गति मे स्तब्धता आ जाती है। भयभीत व्यक्ति प्रथम तो आत्मोन्नति के पथ पर चरण रखता ही नही, कदाचित् भी रखता है तो लडखडाता हुआ। ऐसी स्थिति मे वह अपने ध्येय को कैसे प्राप्त कर सकता है —

तूफानो के भय से जिसके साहस मे बाधा आई है,
ऐसे कम हिम्मत राही ने अपनी मजिल कब पाई है ?

भीरुता व्यक्ति के व्यक्तित्व को छोटा बना देती है, चाहे वह शरीर से भीमकाय ही क्यो न हो। वह इतनी शक्तिहीनता और विवशता का अनुभव करता है कि छोटी से छोटी बाधा भी उसे मेरुवत् मालूम होने लगती है। साधारण परिस्थितियो के समक्ष ही वह आत्म समर्पण कर देता है। कदम-कदम पर उसे मुसीबते दिखाई देती हैं तथा उनसे भीत होकर वह किंकर्त्तव्य विमूढ बन जाता है। प्रेमचद कहते हैं —

डरपोक प्राणियो मे सत्य भी गूँगा हो जाता है। वही सीमेन्ट जो ईट पर चढकर पत्थर हो जाता है, मिट्टी पर चढा दिया जाय तो मिट्टी हो जाएगा।

डरपोक व्यक्ति डर के कारण कभी-कभी ऐसे कार्य कर जाता है कि बाद मे उसे स्वय ही आश्चर्य होने लगता है। इसलिये आचार्य चाणक्य कहते हैं —

तावद्भयेन भेतव्य यावद् भयमनागतम्।
आगत तु भय दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमशकया॥

अर्थात्—तब तक ही भय से डरना चाहिये जब तक वह पास न आया हो परन्तु भय जब निकट आजाय तो निश्शंक होकर उस पर प्रहार करना ही उचित है।

भय से मनुष्य की आत्मिक, मानसिक एवं शारीरिक, सभी शक्तियो का ह्रास होता है। यह एक ऐसा संक्रामक रोग है कि एक के बाद दूसरे और इसी क्रम से समस्त प्रयत्नो को असफल बना देता है। प्रारम्भ मे यह बहुत छोटा दिखाई देता है किन्तु शीघ्र ही व्यापक और प्रबल रूप धारण कर लेता है। कहने का सार यही है कि भीत व्यक्ति विकास के पथ पर कभी निश्चित गति नही कर सकता। भयजनित घबराहट के कारण लडखडा जाता है

अस्थिरता—मनुष्य की प्रगति अनेक बार उसकी अस्थिरता के कारण रुक जाती है। अस्थिरचित्त व्यक्तियो मे धैर्य की बडी भारी कमी होती है। प्राय देखा जाता है कि ऐसे व्यक्ति सफलता के लिये आतुर होकर एक काम को अधूरा छोडकर दूसरा प्रारम्भ कर देते हैं और एक दिन के कार्य को एक घण्टे मे करने के लिये बावले हो उठते हैं। परिणाम यही होता है —

आधी छोड़ एक को धावे, एक मिले न आधी पावे।

चित्त की अस्थिरता असफलता प्रदान करती है और असफलता क्षुद्रता को निमंत्रण देती है। किसी महात्मा ने कहा है—'अस्थिरता के कारण मैंने सात अवसरो पर अपने को क्षुद्र बनते देखा"—

(१) जब मैं आदमी के आगे नम्र रक बना, इस आशा से कि इससे दुनिया मे बुलदी-मर्तबा हासिल करूँगा।

(२) जब मैं कमजोरो के समक्ष सगर्व चलने लगा। मानो मेरी शक्ति मेरे विकास का एक अश न होकर दुर्बलो पर रौब जमाने का एक जरिया हो।

(३) कठिनाइयों से भरे कर्त्तव्य-क्षेत्र और सुगम सस्ते सुख मे से एक को चुनने का अवसर आने पर जब मैंने सरलता से मिलने वाला सस्ता सुख चुना।

(४) जब मैंने अपराध करके उसका पश्चात्ताप और परिमार्जन करने के बजाय उसका समर्थन करते हुए कहा—'ऐसा तो चला ही करता है। अन्य भी तो ऐसा ही करते हैं।'

(५) जब अपनी कमजोरी को मैंने बर्दाश्त कर लिया और उसी मे भक्ति मान ली।

(६) जब मैंने कुरूप चेहरे की ओर नफरत भरी निगाह से देखा, मगर यह नही समझा कि नफरत का ही एक पर्दा यह कुरूपता है।

(७) जब किसी के प्रशंसात्मक शब्द सुने तो मैंने समझा कि वास्तव मे ही मैंने अत्युत्तम काम किया है। दूसरो की तारीफ को अच्छाई की कसोटी मान लेना।

"पर यह सब निरर्थक सिद्ध हुआ। मैंने अपने आपको ऊँचाई पर ले जाने की कोशिश की किन्तु जब भी देखा, पाया कि मैं उसी स्थान पर हूँ, जहाँ पर था।"

महात्मा जी के शब्दो मे पूर्ण सत्यता है। अस्थिर चित्त व्यक्ति सत्य और तथ्य की खोज नही कर पाता। उन्होंने महत् पद की प्राप्ति के लिये बार-बार प्रयत्न किया किन्तु प्राप्त हुई क्षुद्रता। विचारो मे स्थिरता न होने के कारण उन्हे आत्म-सतुष्टि हासिल न हो सकी और स्वय अपनी निगाह मे वे तुच्छ साबित हुए। चित्त की आतुरता मनुष्य के पुरुषार्थों को नष्ट कर देती है और इसके कारण वह जो भी कार्य करता है बिगड जाते हैं तथा उसके दुःख का कारण बनते हैं। जातक मे लिखा है —

असमेक्खितकम्मन्तं तुरिताभिनिपाकिन।
सानि कम्मानि तप्पेन्ति उण्ह वज्झोहित मुखे॥

अर्थात् - जो आदमी बिना विचारे उतावली मे काम करता है, उसके वह काम ही उसे उसी प्रकार तपाते हैं, जैसे मुख मे डाला हुआ गरम भोजन।

संशय—जीवन के विकास का मार्ग आदि से अन्त तक कठिनाइयो से भरा हुआ है। उस पर चलने वाला यात्री तभी आगे बढ सकता है, जब उसका हृदय दृढ हो, और आशकाओ से रहित हो। भावी विपत्ति की कल्पनाओ से ही जो व्यक्ति घबरा जाता हो उसका अपने विकास मार्ग पर आगे बढना सभव नही है। साधारण मार्ग पर चलने वाले डरपोक व्यक्ति को अंधेरा होते ही जिस प्रकार भूत न होने पर भी भूत का सदेह होने लगता है, उसी प्रकार साधना के पथ पर चलने वाले यात्री को यात्रा प्रारम्भ करते ही अनेक सकट मार्ग मे खडे दिखाई देते हैं। परिणाम यह होता है कि संकट रूपी भूत तो उनका मार्ग अवरुद्ध नही करता किन्तु स्वय उनका सन्देह ही भूत बनकर रास्ता रोक देता है। विश्व विख्यात कवि शेक्सपियर ने कहा है —

Our doubts are traitors
And make us lose the good we oft-might win,
Be fearing to attempt.

अर्थात्—हमारी शकाएँ हमारे साथ विश्वासघात करती हैं और हमे उन अच्छाइयो से वचित रखती हे जिन्हे हम प्रयास से पा जाते।

मनुष्य-प्रकृति का यह गुण है कि जब थोडा सा भी सदेह हो जाता है तो साधारण से साधारण घटनाएँ भी उस सदेह का समर्थन करने लगती हैं और जिस पर विजय करने का हमे पूरा भरोसा होना है, उसी के सामने नत-मस्तक होना पडता है। मानव की अभिलाषाओ को निश्चेष्ट और शक्तिहीन बनाने वाला उसका सबसे बडा शत्रु सदेह ही है। शकाशील को सदा यह शका रहती है कि सारा विश्व उसके विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहा है। इसी आशका से वह सदा आकुल-व्याकुल बना रहता है। और किसी भी कार्य को सफलता पूर्वक सम्पन्न नही कर पाता। सदेह उसकी बुद्धि को भ्रष्ट कर देता है और उसके व्यक्तित्व को नष्ट कर डालता है। गीता मे कहा गया है —

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नाय लोकोऽस्ति न परो न सुख संशयात्मनः॥

अर्थात्—जो अज्ञानी, श्रद्धारहित और संशयावान है, उसका नाश होता है। सशयवान् के लिये न यह लोक है, न परलोक हैं, उसे कही भी सुख नही है।

सशयी व्यक्ति को अपनी आत्म-शक्ति पर सदेह बना रहता है। उसके मन मे ये विचार घर कर जाते है कि "मैं तुच्छ हूँ, दूसरे सब मुझसे श्रेष्ठ हैं, मुझमे अनेक बुराइयाँ हैं दूसरे निर्दोष हैं, मुझसे गलतियाँ होती है, दूसरे किसी काम मे गलती नही करते।" इस प्रकार की भावनाएँ व्यक्ति को मानसिक दृष्टि से निर्बल बना देती है और जब मन की शक्ति कमजोर हो जाती है तो शारीरिक शक्ति भी जवाब दे देती है। किन्तु इसके विरुद्ध अपनी शक्ति पर विश्वास रखने वाले पुरुषार्थी दुर्गम को भी सुगम बना लेते हैं। वे कैसे होते है? इस विषय मे किसी कवि ने लिखा है —

भाग्य के भरोसे कभी भूल के न बैठत हैं,
खोते नहीं व्यर्थ वक्त अपना नादानी मे।
मुख से जो बात कहे पूरा कर छोडते हैं,
घबराते नहीं कभी बडी परेशानी मे।
चूर कर डालते हैं वज्र सदृश पर्वतो को,
लांघ जाते सात महासागर आसानी मे।
हटते नहीं हैं कभी कामयाब हुए बिना,
आग लगा देते ऐसे वीर्यवान पानी मे।

तात्पर्य यही है कि जब तक मानव सशयशील बना रहता है और कदम-कदम पर अनिष्ट की आशका करता है तब तक उन्नति के मार्ग पर नही बढ सकता। अनेक प्रकार के भय उसके मार्ग को घेरे रहते हैं। साधारण सा भार उसे पहाड जैसा लगता हैं और साधारण सी कठिनाइयाँ भी विपत्तियो का अंबार दिखाई देती हैं।

बघुओ! आपने समझ लिया होगा कि आत्मोन्नति के मार्ग पर चलने वाले साधक को किस प्रकार भय, आशका आलस्य तथा अस्थिरता आदि दुर्गुणो को त्याग कर अपने नियत मार्ग पर बढना चाहिए। जीवन का विकास तभी हो सकता है, जब व्यक्ति अपने दोषो को छोडे और सद्गुणो का सचय करे। सद्गुण आत्मोत्थान मे सहायक बनते हैं और साधना के पथ पर चलने की शक्ति प्रदान करते हैं। अब हमे यही देखना है कि किन सद्वृत्तियो को अपना कर मुमुक्षु मानव अपने निर्धारित सही मार्ग पर बढ सकते हैं।

स्व-स्वरूप चिंतन—मानसशास्त्र का अटल सिद्धान्त है कि मनुष्य जैसे विचार रखता है वैसा ही बनता है। इसलिये जीवन को विकसित करने के लिये और आत्मा को ऊँचा उठाने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपने हृदय मे उच्च विचारो को स्थान दे। विचारो मे अद्भुत शक्ति होती है। शक्ति की प्रबलता का अनुमान लगाना भी अत्यन्त कठिन है। सस्कृत भाषा मे एक उक्ति है—'यथा दृष्टिस्तथा सृष्टि।' अर्थात् जैसी मनुष्य की दृष्टि होती है, वैसी ही सृष्टि हो जाती है। हमारा जीवन हमारे विचारो का ही फल होता है। हम शरीर के द्वारा जो भी नाना प्रकार की क्रियाएँ करते है, वे सब हमारे आन्तरिक विचारो का ही फल होती हैं। जिह्वा से प्रस्फुरित होने वाला प्रत्येक शब्द हमारे विचारो का ही परिणाम होता है। सक्षेप मे मनुष्य का समग्र जीवन उसके विचारो का ही प्रतिबिम्ब है।

जीवन पर पडने वाले विचारो के प्रभाव को ससार के सभी विद्वान् एक स्वर से स्वीकार करते हैं। अगर किसी स्वस्थ व्यक्ति से बार-बार कहा जाय कि तुम्हारा स्वास्थ्य खराब होता जा रहा है, तुम दुर्बल हो रहे हो, तुम्हारे शरीर मे रोग ने घर कर लिया है, जो निश्चय ही वह अस्वस्थ, दुर्बल और रोगी हो जाएगा। यही कारण है कि चिकित्सक सत्य होने पर भी रोगी को ऐसी सूचनाएँ नही देते। मनुष्य की स्थिति प्रसन्नता और अप्रसन्नता का कारण नही बनती वरन् उसकी अनुभूतियाँ ही प्रसन्नता या अप्रसन्नता को उत्पन्न करती है। फारसी के एक कवि ने कहा है —

दिल चूं गरिफ्त, बाशद मातम सरास्त आलिम।
बारा कि दिल शगुफ्ता सालम जहां शगुफ्ता॥

अर्थात्—यदि किसी मनुष्य के हृदय मे कुविचार है तो उसे समस्त ससार दु खमय प्रतीत होगा। यदि भावो मे पवित्रता है तो सारा जगत् प्रसन्नता से परिपूर्ण दिखाई देगा।

कहने का अभिप्राय यही है कि बाह्य परिस्थिति कैसी भी क्यो न हो, अगर मनुष्य के विचार उत्तम होगे तो उसकी आत्मा उत्तरोत्तर निर्मल बनती जाएगी और विचार अगर निकृष्ट होगे तो उसकी आत्मा मलिन बनकर इस लोक को और साथ ही परलोक को भी बिगाड लेगी। भगवान् आदिनाथ के ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत ने असीम ऐश्वर्य भोगते हुए भी केवल श्रेष्ठ विचारो के कारण ही अपनी आत्मा को सदा के लिए ससार चक्र से मुक्त कर लिया था। उनके विषय मे कहा गया है —

षट्खडराज्ये भरतो निमग्नस्ताम्बूलवक्त्र. सविभूषणश्च।
आदर्शहर्म्ये जटिते सुरत्नैर्ज्ञान स लेभे वरभावतोऽत्र॥

अर्थात्—महाराज भरत छह खण्ड के अधिपति थे। उनके मुख पान के बीडे से और शरीर बहुमूल्य आभूषणो से विभूषित रहता था। रत्नजटित महल मे वे निवास करते थे। फिर भी उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया। यह सब सुन्दर विचारो का ही प्रभाव था।

अनासक्ति की श्रेष्ठ भावना के कारण ही, असीम वैभव के बीच मे रहते हुए भी उन्होने वह परम ऋद्धि अनायास ही प्राप्त कर ली, जिसके लिए दूसरो को घोर तपश्चरण करना पडता है। यह है आत्म-शक्ति की पहिचान और गूढ चिन्तन का परिणाम। चिन्तन के द्वारा ही मानव आत्म-बल को समझ सकता है और मानसिक दुर्बलता को नष्ट कर सकता है। सक्षेप मे आत्म-चिंतन ही इस संसार मे सारभूत है, अन्य सभी प्रकार के चिन्तन असार हैं। अपने शुद्ध स्वरूप को भूल जाने के कारण ही जीवात्म चतुर्गति मे भ्रमण करता है। अत मोक्षाभिलाषी साधक का कर्तव्य है कि वह अधिक से अधिक समय आत्म-चिंतन मे लगाए। पाश्चात्य विद्वानो का कथन है —

"आत्म-चिंतन मे वह शक्ति है जो सहस्र विपत्तियो का सामना कर उन पर विजय प्राप्त कर सकती है। चिंतन की मात्रा हममे जितनी होगी, उतना ही हमारा संबंध अनंत जीवन और अनतशक्ति के साथ गहरा होता जाएगा।"

— स्वेट मार्डेन

चिंतन कैसे किया जाए ?—आत्म-चिन्तन अथवा स्व-स्वरूप चिंतन का महत्व आप समझ गए होगे किन्तु उसके महत्त्व को समझ लेना मात्र ही काफी नही होता। असली समझना यह है कि चिंतन कैसे किया जाय ? आत्म-चिन्तन

क्या कर लिया है, और क्या करना शेष है ? कौनसा ऐसा शक्य कार्य है, जिसको मैं नही कर पा रहा हूँ।"

इस प्रकार आत्म-चिंतन करने से आत्मोन्नति के मार्ग पर गति अग्रसर होती चली जाती है। चिंतन के द्वारा ही आत्मा अपनी शक्ति को समझती है और उस शक्ति के द्वारा कर्म-बंधनों का नाश करने समर्थ बनती है। स्व-स्वरूप को समझ लेने वाले साधक को कोई भी शक्ति आगे बढने से रोक नही सकती। आत्मा के विषय मे अधिक क्या कहा जाय, केवल इतना ही कि :—

"शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम ;
बीजूं कहिये केटलूं कर विचार तो पाम।

गुणानुराग—उत्थान के मार्ग पर बढने वाला यात्री तभी आगे बढ सकता है जब उसका जीवन सद्गुणो से परिपूर्ण हो। दुर्गुणो का त्याग और सद्गुणो का संचय करना ही जीवन का विकास करना है। किन्तु सद्गुणो का सचय कैसे हो सकता है ? सद्गुणो का संचय तभी हो सकता है, जब कि उनके प्रति अनुराग रखा जाय। मनुष्य के गुणानुरागी होने से ही गुण उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। और उसकी आत्मा को सम्यक्ज्ञान की ज्योति से प्रकाशित करते हैं। कहा भी है :—

विवेकिनमनुप्राप्ता गुणा यान्ति मनोज्ञताम्।
सुतरां रत्नमाभाति चामीकरनियोजितम्॥

जिस प्रकार सोने मे जडा हुआ रत्न अत्यन्त शोभित होता है उसी प्रकार विवेको को पाकर गुण सुन्दरता को प्राप्त होते हैं।

गुण-ग्राहकता ही मनुष्य की ध्येय-सिद्धि मे सहायक बनती है। एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है :—

The way to develop the best that is in a man by appreciation and encouragement —चार्ल्सश्वेब

अर्थात् मनुष्य के भीतर जो कुछ भी सर्वोत्तम है उसका विकास गुण-ग्राहकता एवं प्रोत्साहन द्वारा ही किया जा सकता है।

गुणो से जिस व्यक्ति को अनुराग होता है वह निकृष्ट से निकृष्ट वस्तु मे भी गुण ढूँढ लेता है। एक बार श्रीकृष्ण को मार्ग मे मृतक कुतिया दिखी, जिसकी दुर्गन्ध के कारण उनके साथी और सैनिक दूर से ही नाक-भौंह सिकोडते हुए और थू-थू करते हुए जा रहे थे। कृष्ण ने उसे देखा और देखते ही कहा—अहा ! इस कुतिया के दाँत कितने सुन्दर हैं ?

गुणानुरागी व्यक्तियो की दृष्टि ऐसी ही होती है। उनकी दृष्टि किसी

के दोषों की ओर नहीं जाती वरन् उसमे रहे हुए गुण पर ही जाती है, भले ही उस वस्तु मे निन्यानवे दोष और एक ही गुण क्यो न हो। वास्तव मे तो संसार के प्रत्येक पदार्थ और प्राणी मे कोई न कोई गुण होता ही है। कुत्ते मे स्वामिभक्ति होती है, हाथी मे उदारता होती है। घास खाते समय वह अपने चारो ओर घास के पूले सूँढ से उछाल-उछाल कर फेंकता रहता है जिन्हे अन्य पशु खा लेते हैं।

अभिप्राय यह कि गुण तो ससार के प्रत्येक पदार्थ और प्राणी मे होता ही है, आवश्यक है उसको पहचानने और ग्रहण करने की योग्यता होना। दूसरों के गुणो क प्रति अनुराग होना मनुष्य का एक दिव्य गुण हैं। इस गुण की महान् शक्ति के विषय मे ग्रन्थकार कहते हैं :—

उत्तम गुणानुराओ, निवसइ, हिययम्मि जस्स पुरिसस्स।
अतित्थयर - पयाओ, न दुल्लहा तस्स रिद्धीओ।।

अर्थात्—जिस पुरुष के हृदय में उत्तम गुणो के प्रति अनुराग रहता है, उसे तीर्थंकर पद की सिद्धियाँ भी प्राप्त हो सकती हैं।

गुणानुरागी व्यक्ति को राजहस के समान गुणो की खोज करनी चाहिये। दूध और पानी एकमेक होने पर भी हस दूध ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार अवगुणो मे से भी गुण की खोज कर उसे ग्रहण करना विकास पथ के पथिक के लिये अनिवार्य है। चुम्बक के पास पत्थर, लकडी, अथवा मिट्टी के कण आदि अनेको वस्तुएँ बिखरी हुई होती हैं। किन्तु उन्हे छोडकर चुम्बक केवल लोहे को ही अपनी ओर खींचता है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति मे क्रोध, मान, ईर्ष्या, द्वेष आदि कितने भी अवगुण क्यो न हो, गुण दृष्टि रखने वाले पुरुष को उनमे से सद्गुण का एक भी चिह्न हो तो उसे ग्रहण कर लेना चाहिए।

गाँधी जी एक बार लन्दन जा रहे थे। स्टीमर मे एक अग्रेज से उनका परिचय हुआ। अग्रेज उन्हे अपना शत्रु मानकर समय-समय पर जली कटी सुनाता रहा। गाँधी जी उसकी बातो पर केवल मुस्करा दिया करते थे। एक दिन उस अग्रेज ने एक लम्बी कविता लिखी जिसके प्रत्येक शब्द मे गाँधीजी के प्रति कटुता, घृणा और द्वेष छलक रहा था। अंग्रेज ने स्वयं ही वह कविता गाँधीजी के हाथ मे लाकर दी। गाँधी जी ने उसकी एक दो पक्तियाँ पढी और सम्पूर्ण कविता का भाव समझ लिया। बिना कुछ कहे ही उन्होंने कविता के पेजो मे लगी हुई पिन निकाल कर समीप पडी एक डिबिया मे रखी और कागजो को रद्दी की टोकरी मे डालने लगे।

अग्रेज ने कहा—कविता पूरी पढिये, अभी तो उसका सार निकला ही

नही। गाँधीजी ने हँसते हुए कहा—इसका सार (पिन) तो मैंने निकाल कर रख लिया है।

उस अग्रेज के समान ही दोष-दृष्टि रखने वालो की ससार मे कमी नही है। ऐसे व्यक्तियो के कारण देश और समाज के अन्य व्यक्ति संत्रस्त हो जाते हैं। कुछ तो निराशा से कहते हैं :—

"कित्थे नस्स जाइये दुनिया तो उन्हे—
कुत्ते दे वाग कुरलान कोलो।
न ते हस्सदियाँ देख के सहसक्कन,
न ते रोदियाँ चुप करन कोलो।
पहनो ज़रा सफेद ऊँज कुढदे,
मैल होन पमे उज दुरकान कोलो।
की करा मैं तारियाँ नहीं होदा,
किस्से गल्ले छुटकारा जहान कोलो॥"

इस दुनिया से दूर हम कहाँ चले जाएँ ? यह कुत्ते की तरह भोकती हुई हमारे पीछे पडी है। हम हँसते हैं तो यह सहन नही करती और रोते हैं तो चुप भी नही कराती। स्वच्छ वस्त्र पहनते हैं तो कुढ जाती है और मैले पहनते हैं तो तिरस्कार करती है। क्या करे! हमारा कही निस्तार नही है, किस प्रकार इस ससार से छुटकारा पाएँ ?

दोष दृष्टि रखने वाले व्यक्तियो के कारण गुणी पुरुष कष्ट पाते हैं। दुर्गुणी व्यक्ति न अपना ही भला कर पाते हैं और न दूसरो का ही। इसलिये मानव का यह परम कर्तव्य है कि वह गुणानुरागी बनकर सद्गुणो का सचय करे। इससे वह स्व और पर का भला कर सकेगा तथा अपने सुलक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा।

अभ्यास—किसी भी ध्येय को प्राप्त करने के लिये आवश्यक है कि मनुष्य बार-बार प्रयत्न करे। शुभ क्रिया अथवा शुभ कर्म का, जीवन मे एक बार कर लेना ही कोई महत्व नही रखता। क्योकि मन और इन्द्रियाँ अत्यन्त शक्तिशाली होती हैं। एक बार के प्रयत्न से उन्हे वश मे नही किया जा सकता। इन पर काबू पाने के लिये मानव को बार-बार प्रयत्न करना होगा और वह अभ्यास से ही हो सकेगा। महर्षि वशिष्ठ का कथन है —

पौन पुन्येन करणमभ्यास इति कथ्यते।
पुरुषार्थ स एवेह तेनास्ति न विना गति॥

—योगवाशिष्ठ

अर्थात्—किसी काम को बार-बार करने का नाम अभ्यास है, उसी को पुरुपार्थ भी कहते हैं। उसके बिना किसी भी प्रकार की उन्नति नही हो सकती।

अभ्यास के विषय मे विद्वान् बेकन का कथन है'—मनुष्य-मात्र मे कोई भी ऐसा बुद्धिगत दोष नही होता, जिसका प्रतीकार उचित अभ्यास से न हो सकता हो। शारीरिक व्याधि दूर करने के लिये जैसे अनेक प्रकार के व्यायाम हैं, वैसे ही मानसिक रुकावटो को दूर करने के लिये अनेक प्रकार के अध्ययन हैं।

अभ्यास से मनुष्य की किसी भी प्रकार की शक्ति क्षीण नही होती, बल्कि बढ जाती है। प्रकृति का नियम है कि प्रत्येक गुण अभ्यास से वृद्धि प्राप्त करता है। जैसे हँसने से हृदय का हर्ष कम नहीं होता, करुणा करने मे हृदय शुष्क नहीं होता, विद्याध्ययन करने से बुद्धि मद नही होती, उसी प्रकार अभ्यास से किसी भी गुण का ह्रास नही होता। यही नही, अधिक कुशलता प्राप्त हो जाती है। अग्रेजी मे एक कहावत है —

'Practice makes perfect.'

अर्थात्—मनुष्य अभ्यास से ही कुशल, कृती बनता है।

प्रारम्भ मे जो कार्य दुष्कर प्रतीत होता है, बार-बार करने पर वही सरल प्रतीत होता है। सत तुकाराम ने सत्य ही कहा है—'असाध्य को साध्य करने का बस एक ही उपाय है—'अभ्यास'।

किसी व्यक्ति ने उस मूर्तिकार से पूछा—यह मूर्ति बनाने मे आपको कितना समय लगा ?

मूर्तिकार ने उत्तर दिया—भाई! इस मूर्ति को बनाने मे तो दस दिन लगे हैं किन्तु उसके लिये अभ्यास मैंने तीस वर्ष तक किया है। तीस वर्ष के अभ्यास से मुझे दस दिन मे मूर्ति बनाने की योग्यता हासिल हो गई है।

कहने का अभिप्राय यही है कि अभ्यास के द्वारा ही प्रत्येक कार्य को सुन्दर और सही ढग से करने को क्षमता प्राप्त होनी है। अत मनुष्य जो भी कार्य सम्पन्न करना चाहे, बार-बार अभ्यास करके उसे सफल बनाने का प्रयत्न करे। आत्मा को कर्म-बधनो मे विमुक्त करना साधारण नही, वरन् असाधारण कार्य है। इस महान् कार्य को सफल बनाने के लिये जो भी साधना की जाएगी, वह पुन पुन अभ्याम के द्वारा ही सफल हो सकेगी।

ध्रुव-संकल्प—प्रत्येक मनुष्य अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है किन्तु इच्छा मात्र से ही उसका प्रयोजन सिद्ध नही हो सकता अर्थात् लक्ष्य की प्राप्ति नही हो सकती। लक्ष्य प्राप्ति के लिये उसे अपनी समस्त शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ उसी मे केन्द्रित करनी होगी। अपनी विचारधारा मे एक भी अन्तर्द्वन्द्व नही रहने देना होगा। भावनाओ का अन्तर्द्वन्द्व मनुष्य को असयत और लक्ष्यहीन बना देता है और 'किंकर्तव्य विमूढ' होकर क्या करे, और क्या

न करे, इसी उलझन मे रहकर अवसर चूक जाना है। जीवन का एक साध्य विषय होना चाहिये और उसके प्रति साधक को प्रबल इच्छा, अनुराग और लगन होनी चाहिए। लगन के अभाव मे साधारण कार्य भी कठिन दिखाई देता है और लगन से जुट जाने पर कठिन कार्य भी सहज हो जाता है। पूर्ण इच्छा-शक्ति से कोई भी कार्य करने पर मनुष्य उसी मे तन्मय और तद्रूप हो जाता है तथा सम्पूर्ण जीवनी शक्ति उसमे साहस का सचार करती है। फ्रास के एक महान् लेखक ने कहा है —

"People do not lack strength, they lack will"

—विक्टर ह्यूगो

अर्थात्—मनुष्यो मे शक्ति का नही, वस्तुत' सकल्प का अभाव होता है।

निर्बल से निर्बल व्यक्ति भी अपनी शक्ति को दृढ सकल्प सहित एक लक्ष्य पर लगाए तो वह कुछ न कुछ कर ही लेगा। किन्तु शारीरिक शक्ति का धनी व्यक्ति अपनी शक्ति को अन्तर्द्वन्द्व मे उलझा लेने पर कुछ न कर सकेगा। ऐसे व्यक्तियो को प्रेरणा देते हुए किसी कवि ने कहा है :—

निडर हो तान दे सीना समय मस्तक झुका देगा।
निडर हो सीख ले जीना समय मस्तक झुका देगा।
सुखद युग का सृजन कर दे, क्षणो मे शक्ति इतनी है,
अटल पर्वत खडा करदे, कणो मे शक्ति इतनी है।
अपरिमित शक्ति बूँदों की, जिन्हे है श्रेय सागर का,
जकड ले दम्भ के यम को, तृणो मे शक्ति इतनी है।
मगर बिखराव का जीवन, पतन का गीत गाता है,
नयन जब डबडबाते है, अधेरा जीत जाता है।

दृढ सकल्प के बिना शक्ति बिखरी हुई रहती है और बिखरी शक्ति से उत्थान के पथ पर कदापि बढा नही जा सकता। अनन्त काय क्षेत्र मनुष्य के सामने फैला हुआ है और समय न्यून है। उतना ही समय मनुष्य के पास है, जितना उसका मानव जीवन है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को ध्यान रखना चाहिये कि उसे जो कुछ भी करना है, इसी जीवन मे करना है। मनुष्य जीवन पुन पुन नही मिलता। कहा भी है '—

'अब की चढी कमान, को जानें फिरि कब चढ़" ॥

—पृथ्वीराज रासो

अर्थात्—आज जो सुयोग हमे प्राप्त है, न मालूम फिर कब मिलेगा ?

इसलिये इस जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करने मे ही बुद्धिमानी है। नेपोलियन बोनापार्ट का प्रिय सिद्धान्त था :—

'The trust wisdom is a resolute determination'

अर्थात्—दृढ निश्चय, ध्रुव सकल्प ही वास्तविक बुद्धिमत्ता है।

ध्येय-सिद्धि के लिये मानव का ध्रुव सकल्प यही होना चाहिये—**कार्यं वा साधयेत् देहं वा पातयेत्।** कार्य प्रारम्भ करने के पश्चात् अगर विराम ले लिया जाय तो मानसिक शिथिलता आ जाती है और मन का उत्साह तथा निश्चय डगमगाने लगते हैं। लोहे को इच्छानुसार रूप तभी दिया जा सकता है, जब तक वह गरम रहता है। इसी प्रकार लक्ष्य-सिद्धि तभी की जा सकती है जब तक उसे सिद्ध करने का सकल्प दृढ बना रहता है। हमारे इतिहास और पुराण बताते हैं कि मनुष्य के सकल्प के सन्मुख देव तथा दानव सभी पराजित होते हैं। शर्त यही है कि वह आज का कार्य कल के लिये न छोडे। 'कल' एक ऐसा दानव है जो अनेकानेक प्रतिभासम्पन्न पुरुषो को उदरस्थ कर चुका है। इसके पैने हाथ असख्य योजनाओ का गला घोट चुके हैं। कल पर छोडे हुए कार्य को करने के लिये वह 'कल' कभी आता नही है और मनुष्य अन्त मे पश्चात्ताप करता हुआ अपनी जीवन-लीला समाप्त कर चल देता है। एक पंजाबी कवि ने सही कहा है :—

कल कल करदिया उमर गुजारी,
ढल गई उमर जवाना सारी।
दुर्बल हो गई जान नकारी,
औखियां घडियॉ आईयां ने।
बारी सफर करन दी आई,
तन बिच जोर न पल्ले पाई।
पिछली बीती चेते आई,
रो रो देन दुहाईयां ने।

किन्तु जीवन के अन्त मे पश्चाताप करने से कुछ भी हासिल नहीं होता। अतः समय रहते ही मनुष्य को ध्येय सिद्धि के लिये प्रयत्न करना चाहिये। उसी मे अपने मन, वचन और शरीर को पूर्ण सकल्प सहित लगा देना चाहिये। ऐसा करने पर ससार की कोई भी शक्ति उसकी लक्ष्य-प्राप्ति मे बाधक नही बन सकती।

बधुओ ! आपने समझ लिया होगा कि आत्मोन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने वाले साधक को कौन-कौन-सी बाधाओ का सामना करना पडता है और किन-किन साधना की सहायता से वह आगे बढता है ? साधनामय जीवन का मार्ग

आदि से अन्त तक कठिनाइयों से भरा हुआ मार्ग है। उसमे कदम-कदम पर विघ्न मिलते हैं और परस्पर विरोधी शक्तियों मे प्रतिपल प्रतियोगिता होती रहती है। ऐसे दुस्तर मार्ग पर वही साधक चल सकता है, जिसकी मति मे पूर्ण विशुद्धता और गति मे तीव्रता हो। उसकी यात्रा के प्रमुख बाधक बाहरी जगत नही वरन् उसके अन्तर्गत मे रहते हैं। आन्तरिक विकार और आत्मा का दौर्बल्य उसकी गति मे बाधा डालने वाले सबसे जबर्दस्त शत्रु हैं, उनसे मुक्त होकर ही वह बिघ्न-बाधाओ को जीतता हुआ आगे बढ सकता है।

जीवन मे अनेक चढाव-उतार और उलट-फेर होते रहते हैं। उनसे घबरा कर रुक जाना या उलझन मे फँसे रहकर समय नष्ट करना पुरुषार्थी का धर्म नही है। मार्ग मे रुक जाने का अर्थ है लक्ष्यभ्रष्ट हो जाना और अमूल्य मानव जन्म व्यर्थ खो देना। उर्दू भाषा के एक शायर ने कहा है —

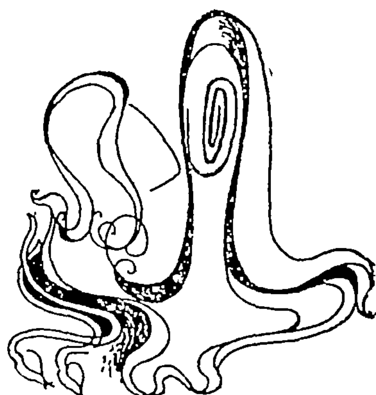
यह सोचते ही रहे और बहार खत्म हुई।
कहाँ चमन मे नशेमन बने, कहाँ न बने ? —असर

यात्री का काम आगे बढना है, न उसे रुकना चाहिये न मुडना चाहिये। विश्व विख्यात विद्वान् विक्टर ह्यूगो ने एक स्थान पर लिखा है —

'If God had intended man to go behind, the would have given eyes is the back of his head'

अर्थात्—यदि ईश्वर ने मनुष्य को पीछे की ओर चलने के इरादे से बनाया होता तो वह उसकी आँखो को आगे न बनाकर सिर के पीछे बनाता।

इससे साबित होता है कि मनुष्य अपने गतिशील स्वभाव के अनुसार निरन्तर बढता रहे। ओम् शान्ति ...।



५

योग साधना और सिद्धि

बंधुओ !

आध्यात्मिक समृद्धि प्राप्त करने मे योग का स्थान असाधारण है। योग का नाम सुनकर आप चोके नही। योग एक आध्यात्मिक साधना है और आत्म विकास की ही एक प्रक्रिया है। ससार का प्रत्येक प्राणी अपना आत्म-विकास करने के लिये पूर्णत स्वतन्त्र है। साधना का द्वार सभी के लिये खुला है। आध्यात्मिक विकास एव आत्म-चिन्तन पर किसी देश, जाति, वर्ण, वर्ग या धर्म विशेष का एकाधिकार नही है, क्योकि भारतीय विचारको के चिन्तन-मनन तथा साहित्य का मौलिक आदर्श एक ही रहा है। वेद, उपनिषद, पिटक जैनागम आदि आस्तिको के समस्त धर्मग्रन्थो मे आत्मा का चरम लक्ष्य मोक्ष ही माना गया है। भारतीयो की अभिरुचि सदा से मोक्ष या ब्रह्मप्राप्ति की ओर रही है।

किन्तु आत्मा की मुक्ति केवल चाहने मात्र से नहीं होती। उसके लिये सबल साधना की आवश्यकता होती है। यद्यपि प्रत्येक आत्मा अनन्त शक्तियो

का भण्डार है, उसमे अनन्त ज्ञान, दर्शन और सुख अन्तर्निहित है फिर भी वह अनेक वार इतस्तत. भटक जाती हैं, पथ भ्रष्ट हो जाती है। हमे यही देखना है कि ऐसा क्यो होता है ? इतनी विराट शक्ति का पुज होने पर भी आत्मा अपने लक्ष्य को क्यो नही प्राप्त कर पाती ?

उत्तर यही है, कि मानव-जीवन मे 'योग' का अभाव है और यही लक्ष्य सिद्धि मे असफलता प्राप्त कराने वाला मूल कारण है। जब मानव के मन और विचारो मे एकाग्रता तथा तन्मयता नही होती, उसे अपनी शक्तियो पर पूरा विश्वास नही होता। अपनी बुद्धि मे उसे सदा सन्देह बना रहता है और उसके कारण ही वह अपने लक्ष्य की ओर पूर्ण निष्ठा तथा ध्रुव सकल्प के साथ बढ नही पाता तथा इधर-उधर भटकता हुआ पतन के गर्त मे जा गिरता है।

आत्मा को पतन के गहरे गर्त मे गिरने से बचाने के लिये ही मन, वचन और कर्म मे एकरूपता, एकाग्रता, तन्मयता एव स्थिरता लाना आवश्यक है और उसी का नाम 'योग' है। भारतीय सस्कृति के विचारको और मननशील ऋषि मुनियो ने योग-साधना को अत्यधिक महत्त्व दिया है और आत्म-विकास का प्रमुख साधन माना है।

अर्थात्—योग शब्द 'युज्' धातु और घञ् प्रत्यय से बना हैं। सस्कृत व्याकरण मे 'युज्' धातु दो हैं। एक का अर्थ है जोडना और दूसरी का अथ है समाधि अर्थात् मन की स्थिरता। भारतीय विचारको मे से कुछ ने योग शब्द का प्रयोग जोडने के अर्थ मे प्रयोग किया है और कुछ ने उसका अर्थ समाधि लिया है। महर्षि पतजलि ने चित्त-वृत्ति के निरोध को योग कहा है :—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोध: ।

अर्थात्—योग साधना के दो रूप है—बाह्य और आभ्यन्तर। मन और इन्द्रियो को एकाग्र करना योग का बाह्य रूप कहलाता है और मोह, ममता तथा अहकार आदि मनोविकारो से मुक्त होना उसका आभ्यन्तर रूप है। एकाग्रता को हम योग का शरीर और मनोविकारो के परित्याग को उसकी आत्मा कह सकते हैं। मनोविकारो का त्याग किये विना मन, वचन एव काम मे स्थिरता नही आ सकती और इनकी स्थिरता अथवा एकाग्रता के बिना योग-साधना नही हो सकती। अत. योग-साधना के लिये मनोविकारो का परित्याग करना अनिवार्य है। कहा भी है :—

वशं मनो यस्य समाहितं स्यात्,
किं तस्य कार्यं नियमैर्यमैश्च।
हतं मनो यस्य च दुर्विकल्पैः,
किं तस्य कार्यं नियमैर्यमैश्च ॥

भावार्थ इसका यही है कि जिसका मन वशीभूत हो गया है उसे नियमों-यमो का पालन करने को कोई आवश्यकता नही रहती। क्योकि जिस उद्देश्य से इनका पालन किया जाता है वह उद्देश्य पूर्ण हो चुका है और मन यदि अशुभ और अप्रशस्त विचारो से भरा हुआ है तो भी यम नियम व्यर्थ है, क्योकि जव मन ही अपावन होगा तो शरीर से की हुई साधना कोई शुभ फल नही दे सकेगी। अतएव मन को वश मे करना मुख्य बात है। यही साधना का प्राण है। शरीर से किसी प्रकार को साधना की जाय और मन इसक साथ न हो तो वह काम करनो न करने क समान ही है। जैनाचार्यों ने मनोनिग्रह क साधन वताए हैं —

स्वाध्याय - योगैश्चरण क्रियासु-
व्यापारणैर्द्वादशभावनाभि'।
सुधीस्त्रियोगी सदसत्प्रवृत्ति-
फलोपयोगैश्च मनो निरुन्ध्यात्॥

अर्थात्—स्वाध्याय योग मे लगाकर, क्रियाओ मे सलग्न करके, अनित्यता, अशरणता आदि बारह भावनाओ मे जोड कर तथा शुभ और अशुभ कर्मों के फल के चिंतन मे लगाकर बुद्धिमान् पुरुष मन का निरोध करने का प्रयत्न करे।

साधना का मूल केन्द्र आत्मा है। अत योग के चिन्तन का मुख्य विषय भी आत्मा ही है।

योग का महत्त्व—योग एक ऐसा विज्ञान है जो आत्मा के दोषो और दुर्वलताओ को दूर करके उसे परिपूर्णता मुक्ति तथा आत्म-साक्षात्कार की ओर ले जाता है। योग के द्वारा साधक शरीर और मन पर आधिपत्य प्राप्त करता है, तथा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्य हार, धारणा, ध्यान तथा समाधि के क्रम से पूर्णता को प्राप्त करता है। किन्तु यह सब शीघ्रता से नही होता। शनै शनै' योग के मार्ग पर अग्रसर हुआ जा सकता है। योग जीवन से पलायन करने को नही कहता, वरन् जीवन को अन्तर्मुख वना देना है। योगाभ्यास आध्यात्मिक तथा सार्व है। यह किसी भी धर्म का विरोध नही करता। यौगिक अनुभव तर्क और वुद्धि से परे है। शुद्धता तथा सदाचार इसकी नीव है और आत्म सयम, अनासक्ति तथा धारणा इसके अनुशासन हैं। योग-साधना आत्मा की अनन्त शक्तियो को अनावृत करती है तथा आत्म-ज्योति को प्रकाशित करती है। यह साधक की ससाराभिमुख चित्तवृत्तियो को मोक्षाभिमुखी बनाती है। अर्थात् उन्हे सासारिक प्रपचो एव विषय-वासनाओ से मुक्त कर अपनी साध्य-सिद्धि के अनुकूल कर देती है।

योग के आठ अंग माने गये है —

यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि ।

—पातजलयोगप्रदीप

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अग हैं ।

१ यम :

यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । जैन दर्शन मे इन्हे पाँच महाव्रत कहते है, बौद्ध इन्हे पचशाल के नाम से पुकारते हैं तथा योग दर्शन मे यही पच-यम कहलाते हैं ।

अहिंसा— जैन दर्शन का प्राण है । इसका अर्थ है प्राणी मात्र के प्रति करुणा की भावना रखना तथा किसी भी जीव का घात नही करना । क्योकि —

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

—दशवैकालिक सूत्र

अर्थात्—सभी जीव जीना चाहते हैं मरना कोई नही चाहता इसीलिये निर्ग्रन्थ (जैन मुनि) घोर प्राणी वध का सर्वथा परित्याग करते हैं ।

निर्ग्रन्थो का उल्लेख श्लोक मे इसलिये किया गया है कि जैन धर्म में अहिंसा की अनेक श्रेणियाँ हैं । साधु वर्ग अर्थात् निर्ग्रन्थो की अहिंसा तथा गृहस्थ वर्ग की अहिसा की श्रेणियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं । साधुओ के लिये किसी भा काल मे, किसी भी स्थान पर और किसी भी अवस्था मे, मन, वचन और काय से हिंसा करना वर्जित है । किन्तु गृहस्थ के लिये आत्म-रक्षा के निमित्त, किसी आक्रमणकारी से राज्य, देश, कुटुम्ब व धर्म की रक्षा करने के निमित्त एक आवश्यक सीमा तक हिसा करना वर्जित नही है । फिर भी श्रावक के मन मे आततायी या पापी के सुधार का और पाप कर्म से बचाने का भाव होना ही चाहिये ।

सत्य – शास्त्रो मे धर्म का निरूपण अनेक प्रकार से किया गया है और धर्म के विविध लक्षण बतलाए गए हैं , किन्तु उन सब मे सत्य को प्रधानता दी गई है । यहाँ तक कहा गया है कि **'धर्मःसत्ये प्रतिष्ठित'** अर्थात् सत्य मे ही धर्म समाया हुआ है । वास्तव मे सत्य महान् है और उसकी महिमा का कही अत नही है । इसका सेवन करने से क्या लाभ होता है, इस विषय मे कहा गया है —

सच्चं जसस्स मूलं, सच्चं विस्सासकारण परमं ।
सच्च सग्गद्दार, सच्च सिद्धीई सोवाण ॥

—धर्मसग्रह

अर्थात् सत्य यश का मूल है । सत्य विश्वास का कारण है । सत्य स्वर्ग का द्वार है और सत्य ही सिद्धि-मुक्ति का सोपान है ।

सत्य सर्वसम्मत धर्म है । यो तो ससार मे सैकडो परस्पर विरोधी मान्यताएँ रखने वाले पथ हैं, जो अपनी-अपनी मान्यताओ को महत्त्व देने के कारण समय-समय पर रक्त की धाराएँ बहाते रहे हैं । किन्तु सत्य के विषय मे सभी एकमत हैं । विश्व मे कोई भी ऐसा मत या पथ नही है, जिसने सत्य की महिमा को स्वीकार न किया हो और इसे धर्म न माना हो । महात्मा गाँधी ने भी कहा है —

I worship god as truth only

अर्थात्—मैं परमेश्वर का पूजन सत्य के रूप मे करता हूँ ।

अचौर्य—यम का तीसरा प्रकार है अचौर्य अर्थात् चोरी न करना । बिना अधिकारी की आज्ञा के किसी भी वस्तु को ले लेना चोरी कहलाता है । उत्तराध्ययन सूत्र मे बताया गया है —

'दत सोहणमाइस्स अदत्तस्स विवज्जणं ।'

अर्थात् दाँत कुरेदने की सीक जैसी तुच्छ वस्तुएँ भी बिना दिये ग्रहण नही करना चाहिये ।

अपने द्वारा दान की हुई वस्तु को बिना उसके स्वामी की आज्ञा के पुन ग्रहण करना भी चोरी है । यही बात रामचन्द्र जी के उदाहरण से समझाई गई है । लका विजयी राम ने विभीषण को लका दान मे दे दी । किन्तु उसके पश्चात् लका मे भ्रमण करते समय उन्हे एक स्वर्ण-शिला दृष्टिगोचर हुई । राम के मन मे उसे लेने की आकाक्षा हुई । यह जानकर वयोवृद्ध और नीतिज्ञ जाम्ववान ने बडे ही मार्मिक शब्दो मे राम को उद्बोधन दिया :—

शिवकठ सदा निकलक भयकर—
खीर सो साजल सो जल पेख्यो ।
असुरेश गुरू दोउ चक्षु उजासन,
वो भगवान को आसन देख्यो ।
और तो छिद्र अनेक विलोक्यो,
मैं विधि के मुख पच विशेख्यो ।
प्रतिमाल कहे सुन राम नरेशा !
देत न पीछो लेत न देख्यो ।

योग के आठ अंग माने गये है —

यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि ।

—पातजलयोगप्रदीप

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अग हैं ।

१ यम :

यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । जैन दर्शन मे इन्हे पाँच महाव्रत कहते हैं, बौद्ध इन्हे पचशील के नाम से पुकारते हैं तथा योग दर्शन मे यही पच-यम कहलाते हैं ।

अहिंसा– जैन दर्शन का प्राण है । इसका अर्थ है प्राणी मात्र के प्रति करुणा की भावना रखना तथा किसी भी जीव का घात नही करना । क्योकि —

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयति णं ॥

—दशवैकालिक सूत्र

अर्थात्—सभी जीव जीना चाहते है मरना कोई नही चाहता इसीलिये निर्ग्रन्थ (जैन मुनि) घोर प्राणी वध का सर्वथा परित्याग करते हैं ।

निर्ग्रन्थो का उल्लेख श्लोक मे इसलिये किया गया है कि जैन धर्म में अहिंसा की अनेक श्रेणियाँ हैं । साधु वर्ग अर्थात् निर्ग्रन्थो की अहिंसा तथा गृहस्थ वर्ग की अहिंसा की श्रेणियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की है । साधुओ के लिये किसी भी काल मे, किसी भी स्थान पर और किसी भी अवस्था मे, मन, वचन और काय से हिंसा करना वर्जित है । किन्तु गृहस्थ के लिये आत्म-रक्षा के निमित्त, किसी आक्रमणकारी से राज्य, देश, कुटुम्ब व धर्म की रक्षा करने के निमित्त एक आवश्यक सीमा तक हिंसा करना वर्जित नही है । फिर भी श्रावक के मन मे आततायी या पापी के सुधार का और पाप कर्म से बचाने का भाव होना ही चाहिये ।

सत्य – शास्त्रो मे धर्म का निरूपण अनेक प्रकार से किया गया है और धर्म के विविध लक्षण बतलाए गए हैं, किन्तु उन सब मे सत्य को प्रधानता दी गई है । यहाँ तक कहा गया है कि **'धर्म:सत्ये प्रतिष्ठित:'** अर्थात् सत्य मे ही धर्म समाया हुआ है । वास्तव मे सत्य महान् है और उसकी महिमा का कहीं अन्त नहीं है । इसका सेवन करने से क्या लाभ होता है, इस विषय मे कहा गया है :—

सच्च जसस्स मूल, सच्चं विस्सासकारणं परमं ।
सचच सग्गद्दार, सच्च सिद्धीई सोवाण ॥

—धर्मसग्रह

अर्थात् सत्य यश का मूल है । सत्य विश्वास का कारण है । सत्य स्वर्ग का द्वार है और सत्य ही सिद्धि-मुक्ति का सोपान है ।

सत्य सर्वसम्मत धर्म है । यो तो ससार मे सैकडो परस्पर विरोधी मान्यताएँ रखने वाले पथ हैं, जो अपनी-अपनी मान्यताओ को महत्त्व देने के कारण समय-समय पर रक्त की धाराएँ बहाते रहे हैं । किन्तु सत्य के विषय मे सभी एकमत हैं । विश्व मे कोई भी ऐसा मत या पथ नही है, जिसने सत्य की महिमा को स्वीकार न किया हो और इसे धर्म न माना हो । महात्मा गाँधी ने भी कहा है —

I worship god as truth only

अर्थात्—मैं परमेश्वर का पूजन सत्य के रूप मे करता हूँ ।

अचौर्य—यम का तीसरा प्रकार है अचौर्य अर्थात् चोरी न करना । बिना अधिकारी की आज्ञा के किसी भी वस्तु को ले लेना चोरी कहलाता है । उत्तराध्ययन सूत्र मे बताया गया है —

'दंत सोहणमाइस्स अदत्तस्स विवज्जणं ।'

अर्थात् दाँत कुरेदने की सीक जैसी तुच्छ वस्तुएँ भी बिना दिये ग्रहण नही करना चाहिये ।

अपने द्वारा दान की हुई वस्तु को बिना उसके स्वामी की आज्ञा के पुन ग्रहण करना भी चोरी है । यही बात रामचन्द्र जी के उदाहरण से समझाई गई है । लका विजयी राम ने विभीषण को लका दान मे दे दी । किन्तु उसके पश्चात् लका मे भ्रमण करते समय उन्हे एक स्वर्ण-शिला दृष्टिगोचर हुई । राम के मन मे उसे लेने की आकाक्षा हुई । यह जानकर वयोवृद्ध और नीतिज्ञ जाम्ववान ने बडे ही मार्मिक शब्दो मे राम को उद्बोधन दिया :—

शिवकठ सदा निकलक भयंकर—
खीर सो साजल सो जल पेख्यो ।
असुरेश गुरू दोउ चक्षु उजासन,
वो भगवान को आसन देख्यो ।
और तो छिद्र अनेक विलोक्यो,
मैं विधि के मुख पंच विशेख्यों ।
प्रतिमाल कहे सुन राम नरेशा !
देत न पीछो लेत न देख्यो ।

जाम्ववान ने, जिसे प्रतिमाल भी कहते हैं, कहा—'मैंने' शिवकंठ और चन्द्रमा को निष्कलक और सागर के जल को क्षीर के समान मधुर देखा है। असुरो के गुरु शुक्राचार्य को दोनो नेत्र सहित देखा है (जबकि ससार उन्हे एक चक्षु जानता है) तथा और अनेकानेक छिद्र देखने के बावजूद भी मैंने ब्रह्मा के पाँच मुखो का अवलोकन किया है। किन्तु हे राम ! मर्यादाशील पुरुषो को अपनी दान मे दी हुई वस्तु को पुन ग्रहण करते नही देखा।

चौर्य कर्म से बचाने के लिये जाम्बवान ने कितनी सुन्दर चेतावनी रामचन्द्र जी को दी है। प्रत्येक मनुष्य को इस उदाहरण से शिक्षा लेते हुए इस पाप से वचने का प्रयास करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य—इस ससार मे मनुष्य के लिये प्रलोभन की अनेकानेक वस्तुएँ है। धन-धान्य, स्वजन-परिजन, यश-कीर्ति आदि के ममत्व मे फँसा हुआ मानव नाना प्रकार की विडबनाएँ भोगता दिखाई देता है। प्रलोभनो की यह सब शृ खलाएँ उसे ससार मे बाँधे रहती हैं। किन्तु इन सभी प्रलोभनो से उग्र प्रलोभन है—कामविकार। इससे बचना मनुष्य के लिये अत्यन्त कठिन है। अज्ञानी तो इसके चगुल मे फसे ही रहते हैं किन्तु बडे-बडे ज्ञानी भी इसके फदे मे पडकर अपना इहलोक और परलोक नष्ट कर लेते हैं। मनुष्य ही नही पशु-पक्षी आदि भी और यहाँ तक कि वैमानिक, भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवता भी विषयो की तृष्णा के दास बने रहते हैं। काम विकार रूपी पिशाच मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आत्मिक सभी प्रकार के विकासो मे बाधक बनता है। वासना-रत रहने वाले तथा ब्रह्मचर्य का पालन न करने वाले व्यक्तियो को क्या-क्या हानियाँ उठानी पडती हैं यह बताते हुए सस्कृत के एक कवि ने कहा है —

आयुस्तेजो बलो वीर्यं, प्रज्ञा श्रीश्च महायशः।
पुण्यञ्च प्रीतिमत्त्वञ्च, हन्यतेऽब्रह्मचर्यया ॥

अर्थात्—जो विवेक शून्य पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते, वे वीर्य का विनाश करके अपनी आयु को नष्ट कर डालते हैं। उनका तेज, बल, वीर्य, बुद्धि श्री, यश, पुण्य और प्रसन्नता भी नाश को प्राप्त होती है।

वस्तुत अब्रह्मचर्य मनुष्य के जीवन को बर्बाद कर देता है। इसकी बदौलत यह उत्तम जीवन वरदान बनने के बदले घोर अभिशाप बन जाता है। इससे बचने के लिये ही ब्रह्मचर्य व्रत का विधान किया गया है।

'प्रश्नव्याकरण सूत्र' मे ब्रह्मचर्य की बडी महिमा बताई गई है। उसमे लिखा है :—

'ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व तथा विनय का मूल है। यम और नियम रूप प्रधान गुणों से युक्त है। हिमवान पर्वत से भी महान् और तेजस्वी है। ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करने से मनुष्य का अन्त'-करण प्रशस्त, गभीर और स्थिर हो जाता है। साधुजन ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं। वह निर्मल सिद्धगति का स्थान है, शाश्वत और अव्याबाध है। जन्म-मरण का निरोध करने वाला है। प्रशस्त है, सौम्य है, सुख स्वरूप है, शिव रूप है, अचल और अक्षय बनाने वाला है। खेद के कारणों से और पाप की चिकनाहटो से रहित है। ब्रह्मचर्य का भग होने पर सभी व्रत तत्काल भग हो जाते हैं और विनय, शील, तप, नियम तथा गुण आदि दही के समान मथ जाते हैं, चूर-चूर हो जाते हैं, पर्वत के शिखर से गिरे हुए पत्थर के समान खण्ड-खण्ड हो जाते हैं।"

ऐसे महाव्रत ब्रह्मचर्य को जो धारण करता है तथा समस्त काम-विकारो पर विजय प्राप्त कर लेता है, उसमे ऐसी विस्मयजनक, दिव्य और असाधारण शक्तियाँ आ जाती हैं कि —

देव दाणव गधव्वा, जक्खरक्ख सकिन्नरा।
बभयारिं नमंसंति, दुक्कर जे करति तें॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्—देव, दानव, गधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर देवता भी ब्रह्मचारी के पवित्र चरणो मे मस्तक झुकाते हैं।

ब्रह्मचर्य की ऐसी महिमा है। यह सभी तपस्याओ मे उत्तम तपस्या है तथा दुर्गतिका नाश करने वाला है। इसके लाभ अद्भुत और कल्पनातीत हैं। आचार्यों ने भी कहा है —

समुद्रतरणे यद्वदुपायो नौ प्रकीर्तिता।
ससारतरणे तद्वत् ब्रह्मचर्य प्रकीर्तितम्॥

अर्थात्—जैसे समुद्र को पार करने का उपाय जहाज है, उसी प्रकार ससार को पार करने का उपाय ब्रह्मचर्य है।

अपरिग्रह—अपरिग्रह के विषय मे भगवान महावीर ने बताया है—

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इई वुत्तं महेसिणा॥

—दशवैकालिक सूत्र

अर्थात्—सयमी पुरुष सयम की साधना के लिए जो उपकरण रखते हैं वह

परिग्रह नही है, वरन् उनके प्रति आसक्ति होना परिग्रह है, ऐसा ज्ञातपुत्र महर्षि का कथन है।

मनुष्य अपनी आवश्यकता के अनुसार वस्तु सामग्री रखे और उससे अधिक की आकाक्षा न करे तो वह परिमित परिग्रही है। मनुष्य चाहे जितना धन वैभव इकट्ठा क्यो न कर ले, उसे तृप्ति नही होती, उलटे उसकी तृष्णा बढती जाती है। कहा भी है —

सुवण्ण-रूपस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात – कैलाश पर्वत के समान विशाल सोने-चाँदी के असख्यात पर्वत भी क्यो न हो, लोभी मनुष्य का मन नही भरता। इतना पाकर भी वह सन्तुष्ट नही हो सकता क्योकि आकाश की तरह इच्छा का कही अन्त नही है।

कबीर जी ने भी मनुष्य की तृष्णा को धिक्कारते हुए कहा है .—

कबिरा औंधी खोपरी, कबहूं धापै नाहिं।
तीन लोक की सम्पदा, बस आवे घर माहिं ॥

कहने का अभिप्राय यह है कि अपरिग्रह या अनासक्ति के महत्व को समझकर जब तक उसे अपनाया नही जाएगा तब तक मनुष्य के मन मे शान्ति का प्रादुर्भाव नही हो सकता। अगर मानव-जाति भगवान महावीर के कथन को मानकर चले तो आज जो स्पर्द्धा और वैमनस्य मनुष्य-मनुष्य के, जाति-जाति के और देश-देश के बीच दिखाई पडता है और जिसके कारण सर्वत्र अशान्ति का प्रसार हो रहा है, उसका कही चिह्न भी न दिखाई दे। परिग्रह की तृष्णा की आग आत्म-कल्याण के मार्ग मे बडी भारी बाधा है। परिग्रह के लिये मनुष्य हत्या करता है, चोरी करता है, झूठ बोलता है, शील भग करता है और कोई भी छोटा बडा पाप करने से नही चूकता। फिर कैसे उसकी आत्मा का कल्याण हो सकता है?

गाँधीजी अपरिग्रह व्रत के धारक थे। एक अत्यन्त साधारण सी घटना ने ही उन्हे परिग्रह के प्रति नफरत करना सिखा दिया था।

कस्तूरबा ने किसी गाँव मे किसान स्त्रियो को रोज कपडे धोने और सफाई रखने का उपदेश दिया। यह सुनकर एक गरीब किसान की औरत ने कस्तूरबा

से कहा—'माताजी ! मेरी देह पर तो बस यही एक फटी हुई साड़ी है। बताइये मैं क्या पहनकर इसे धोऊँ ?'

कस्तूरबा ने इस घटना का जिक्र गाँधीजी से किया। गाँधीजी के हृदय पर इसका बडा प्रभाव पडा। बोले—'देश मे इस तरह की लाखो बहनें होगी। जब उनके पास तन ढँकने को कपड़े नही हैं तो मुझे कुर्ता धोती वगैरह पहनने का क्या अधिकार है ?'

बस तभी से उन्होने सिर्फ लगोटी पहननी शुरू करदी। राष्ट्रपिता कहलाने वाले गाँधीजी अपनी जरूरत का इतना कम सामान रखते थे कि देखकर आश्चर्य होता था। यह है अपरिग्रह का ज्वलत उदाहरण।

वास्तव मे धन-सम्पत्ति आदि नश्वर पदार्थों के प्रति आसक्ति होना, जीवन को निरन्तर चिन्तामय और व्याकुल बनाए रखना है। प्रसिद्ध विचारक सुकरात का भी कथन है—

'He is the richest who is emptent with the least.'

अर्थात्—वह पुरुष सबसे बडा सम्पत्तिशाली है जो थोडी से थोडी पूँजी से सन्तुष्ट रहता है।

शास्त्रो ने परिग्रह को दुख का कारण कहा है। जब तक मनुष्य धन-सम्पत्ति मे आसक्त रहेगा, शान्ति और सुख का अनुभव नही कर सकेगा। सच्चा सुख आत्म-रमण मे है, किन्तु जब तक बाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति बनी रहेगी, आत्म-साक्षात्कार नही हो सकेगा तथा आत्मानन्द का अनुभव गूलर का फूल बनकर रह जाएगा।

२. नियम :

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा·।

—पातञ्जल योगदर्शन

शौच, सतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान यह पांच नियम हैं।

जिस प्रकार किसी तालाब के चारो ओर पाली बनाई जाती है जिससे कि तालाव का जल किसो ओर से बहकर नष्ट न हो जाय, उसी प्रकार जिन पांच यमो का अभी मैंने उल्लेख किया है, उनकी सुरक्षा के लिये नियमो का भी पाली के रूप मे उपयोग किया जाता है। अतएव प्रत्येक योगाभ्यासी के लिये यम और नियम दोनो ही ग्राह्य हैं।

आज हम देखते हैं कि मानव के हृदय मे धार्मिक भावनाएँ क्षीण प्रायः होती जा रही हैं, क्योकि मनुष्य नियमो के द्वारा धर्म का दिखावा अधिक करने

लग गया है। जबकि नियम यमो की रक्षा के लिए होते हैं। अतएव गम्भीरता से सोचा जाय तो यमो का महत्त्व आत्मा की शुद्धता के लिये नियमो की अपेक्षा अधिक ही है। नियम यमो को अधिक से अधिक दृढता प्रदान करने के लिये है। इस प्रकार साधक के लिये यम और नियम दोनो ही साधना के महत्वपूर्ण अग हैं। कहा भी हैं—

'यमानभीक्ष्णं सेवेत, न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो, नियमान् केवलान् भजन् ॥

प्रज्ञावान् पुरुष निरन्तर यमो का सेवन करे, केवल नियमों का नहीं। केवल नियमो का सेवन करने वाला अगर यमो का आराधन न करे तो उसका पतन हो जाता है।

शौच—शौच नियम का प्रथम अग है। यह दो प्रकार का है। बाह्य और आभ्यतर।

बाह्य शौच का अर्थ है शरीर, वस्त्र, पात्र तथा स्थान आदि को स्वच्छ रखना तथा शुद्ध व सात्विक आहार के द्वारा शरीर को नीरोग और स्वस्थ रखना।

आभ्यतर शौच का तात्पर्य है—चित्त शुद्धि अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान, घृणा आदि मन के समस्त विकारो से चित्त को मुक्त रखना। सक्षेप मे, शुद्ध और पवित्र विचारो को हृदय मे स्थान देते हुए अशुद्ध विचारो को हटाना, अविद्या तथा आर्तध्यान एव रौद्र-ध्यान आदि मलो को विवेक-ज्ञान द्वारा दूर करना ही मानसिक अथवा आभ्यतर शौच कहलाता है।

जब तक हमारा मन मलिन भावनाओ से भरा रहता है, भाँति-भाँति की कामनाओ से व्याकुल रहता है, क्षुद्र से क्षुद्र घटना हमारे अन्दर क्रोध का सचार कर देती है, विद्या, बुद्धि, धन, बल, जाति, कुल और प्रभुत्व के अभिमान की लहरे उठती रहती हैं, मोह के अन्धकार मे भटकते रहते हैं और वात-वात मे झूठ-कपट का आश्रय लेते हैं, तब तक समझना चाहिये कि हमारे मन मे अशुद्धि है और उसे शुद्ध करने के लिये शुभ भावनाओ को जगाना आवश्यक है।

सतोष—नियम का दूसरा अग संतोप है। यह वह पारस-पत्थर है जो जिसे छूता है, इसे सोना बना देता है। जिस व्यक्ति के हृदय मे सतोष नही होता, वह निरतर अतृप्ति की आग मे झुलसता रहता है। कहा भी है :—

संतोषामृततृप्ताना यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
न च तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥

—चाणक्य

सतोष रूपी अमृत से तृप्तजनो को जो शाति और सुख मिलता है, वह धन के लोभियो को, जो इधर-उधर दौडा करते हैं, नही प्राप्त होता।

जैसे हरा चश्मा लगा लेने पर सभी वस्तुएँ हरी-हरी दिखाई देने लगती है, उसी प्रकार सतोष धारण कर लेने पर व्यक्ति को समग्र ससार आनन्दरूप ही दिखाई देता है। महर्षि सुकरात का कथन है —

Contentment is natural wealth.

अर्थात्—सतोष स्वाभाविक धन है।

सतोषी पुरुष प्रत्येक परिस्थिति मे प्रसन्न और निराकुल रहता है।

एक साधु से हजरत इब्राहीम ने पूछा—'सच्चे साधु का क्या लक्षण है?'

साधु ने उत्तर दिया—'मिला तो खा लिया, न मिला तो सतोष कर लिया।'

इब्राहीम हँस पडे और बोले—'यह तो हर कुत्ता करता है।'

साधु ने कहा—'तब आप ही कृपा करके साधु का लक्षण बताइये।'

इब्राहीम बोले—'मिला तो बाँटकर खा लिया और न मिला तो कहा कि भगवान् ने कृपा करके उसे तपस्या का सुअवसर प्रदान किया है।'

वास्तव मे सतोष का यही लक्षण है। इच्छाओ का तो कभी अंत नहीं आता। तृष्णा सदा बढती ही रहती है। तृष्णा के फेर में पड़कर मनुष्य अतः पतन की ओर अग्रसर हो जाता है। स्वार्थपरता, हृदयहीनता और निष्ठुरता जैसी दुर्वृत्तियां मनुष्य के हृदय मे तृष्णा के अविश्रान्त प्रसार से ही जन्म लेती है। अत इसको नष्ट करके सतोष धारण करने पर ही शाश्वत कल्याण का मार्ग मिल सकता है। लालची व्यक्ति की आकांक्षाएँ कभी समाप्त नहीं होती। एक उर्दू कवि ने बडे सुन्दर ढंग से ऐसे व्यक्तियों के विषय में कहा है —

मुँह से बस न करते हरगिज़ यह खुदा के बंदे।
इन हरीसो को खुदा गर सारी खुदाई देता॥

आत्मा को सम्यग्दृष्टिहीन बना देने वाले मोहनीय कर्म की सेना का सबसे अन्तिम सैनिक लोभ ही है। आत्मा का जब इस सेना से युद्ध होता है तो मोहनीय कर्म के अन्य सभी सैनिक परास्त हो जाते हैं, लोभ फिर भी डटा रहता है। इसलिये शास्त्र में कहा है :—

लोहो हओ जस्स न किंचणाइं।

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्—जिसने लोभ रूपी अन्तिम योद्धा को परास्त कर दिया उसे फिर किसी को परास्त करने के लिये शक्ति नही लगानी पडती ।

सतोष के द्वारा ही उसे हराया जा सकता है और तब आत्मा मे ऐसी परिपूर्ण और स्थायी निर्मलता आ जाती है कि फिर कोई विकार उसमे नही ठहरता । आत्मा अप्रतिपाती अवस्था प्राप्त कर लेती है ।

तप—योगाभ्यासी साधक को यमो की रक्षा के लिये तपाचरण करना आवश्यक है । शरीर, प्राण, इन्द्रियो और मन को अभ्यासपूर्वक वश मे करना ही तप कहलाता है। उत्तराध्ययन सूत्र मे एक प्रश्नोत्तर द्वारा तप का लाभ बताया है —

तवेणं भंते ? जीवे किं जणयइ ?
तवेणं वोदाणं जणयइ ।

'भगवान ! तप करने से क्या लाभ होता है ?'

'तप से जीव बाँधे हुए कर्मों का क्षय करता है ।'

अनेक व्यक्तियो का ख्याल होता है कि तप करने वाले मूर्ख होते हैं । क्योकि पाप तो आत्मा करती है और तप करने वाले शरीर को सुखाते हैं, दुख देते हैं । ऐसे व्यक्तियो से प्रश्न किया जाना चाहिये कि वे मक्खन मे से घी निकालने के लिये बर्तन को अग्नि पर रखकर क्यों तपाते हैं ? घी तो मक्खन मे है न कि बर्तन मे । समझने की बात है कि मक्खन मे से घी को निकालने के लिये जिस प्रकार बर्तन को तपाने की आवश्यकता है, उसी प्रकार आत्मा को शुद्ध करने के लिये शरीर रूपी माध्यम को तपाने की आवश्यकता है ।

वैसे तप केवल शारीरिक ही नही होता मानसिक भी होता है । इसी दृष्टि से उसके दो भेद किये गये हैं । पहला बाह्य और दूसरा आभ्यतर । अनशन, ऊनोदर, भिक्षाचरी, रस परित्याग, कायक्लेश और प्रतिसलीनता बाह्य तप कहलाते हैं, और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग आभ्यतर तप मे आते हैं ।

इनके विषय मे विस्तृत रूप से बताना अभी सम्भव नही है, अत मैंने नाम निर्देश ही किया है । समझना इतना ही है कि तप की महिमा अगाध है । तप के द्वारा ही मनुष्य पाप या अपूर्णता को दूर कर अपने चरित्र को उज्ज्वल तथा पवित्र बनाता है और अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करता हुआ उन्नति के शिखर पर आसीन होता है । रामायण मे कहा गया है —

अध्रुवे हि शरीरे यो न करोति तपोऽर्जनम्।
स पश्चात्तप्यते मूढो मृतो गत्वात्मनो गतिम्॥

—वाल्मीकि

अर्थात् यह शरीर क्षणभगुर है; इसमे रहते हुए जो जीव तप नही करता, वह मूर्ख मरने के बाद, जब उसे अपने दुष्कर्मो का फल मिलता है, बहुत पश्चात्ताप करता है।

किन्तु इसके विपरीत जो पुरुष मान-पूजा और यश-कीर्ति की आकांक्षा से रहित होकर तपस्या करता है, उसकी आत्मा तपाये हुए सोने के समान निर्मल, निष्कलुप और उज्ज्वल बन जाती है। महात्मा गांधी ने कहा है:—

"तपस्या धर्म का पहला और आखिरी कदम है।"

स्वाध्याय—स्वाध्याय अन्तर का तप है। यह मन को आत्मा से समवेत करता है। स्वाध्याय के द्वारा मन की जितनी एकाग्रता हो सकती है, उतनी दूसरी प्रवृत्तियो से नहीं। आज तप के क्षेत्र मे मानव बहुत रुचि लेने लगा है, किन्तु उसका लक्ष्य बाह्य तप की ओर अधिक है और आभ्यंतर तप की ओर कम। अगर वह आभ्यतर तप की ओर भी विशेष ध्यान दे तो आत्मा का अधिक उत्थान कर सकता है।

मन की एकाग्रता के लिये मनुष्य माला फेरते हैं किन्तु उसके सहारे मन कब तक एकाग्र रह सकता है? माला के दानो के साथ-साथ ही मन भी फिरता रहता है। मन की एकाग्रता के लिये माला फेरने की अपेक्षा स्वाध्याय अधिक उत्तम साधन है। स्वाध्याय से मन तो एकाग्र होता ही है, ज्ञान मे भी वृद्धि होती है।

भगवान् महावीर ने महीनो तक आहार ग्रहण नहीं किया, किन्तु स्वाध्याय एक दिन के लिये भी नहीं छोडा। गौतम स्वामी ने एक बार उनसे प्रश्न किया:—

सज्झाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?
सज्झाए णं णाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्—भगवन्! स्वाध्याय से जीव किस फल को प्राप्त करता है? उत्तर है—स्वाध्याय से आत्मा ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है।

ज्ञानावरणीय कर्मो का क्षय होना ही ज्ञान-वृद्धि होना है। हमारे प्राचीन महापुरुषो ने वर्षो तक जो चिन्तन मनन किया है उनका सार हम स्वाध्याय

के द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। भारतीय सस्कृति मे स्वाध्याय का बडा महत्व माना गया है। ऋषि-मुनियो ने तो उसे सजीवनी बूटी कहा है। वे लोग अपने शिष्यो को विद्याध्ययन कराने के पश्चात् लौटते समय आशीर्वाद के रूप मे अन्तिम उपदेश यही देते थे—**'स्वाध्यायान्मा प्रमदः'** अर्थात् 'स्वाध्याय करने मे कभी प्रमाद मत करना।'

स्वाध्याय का अर्थ है स्व का अध्ययन और चिंतन। धर्म ग्रन्थों मे तथा आगमो मे स्थान-स्थान पर स्व अर्थात् आत्मा के यथार्थ रूप, निजी गुणो तथा असीम शक्तियो के विषय मे समझाया गया है। स्वाध्याय के द्वारा ही उन्हे जाना जा सकता है। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि अन्य-अन्य शुभ कर्मों का फल तो जल्दी या देर से, दिनो, महीनो, वर्षों अथवा जन्मो के बाद भी मिलता है किन्तु स्वाध्याय का प्रतिफल तो मनुष्य को अगले क्षण ही ज्ञान के रूप मे प्राप्त हो जाता है। उत्तम साहित्य के अध्ययन से ही आत्मा निर्मल होती हुई विकास मार्ग पर बढती है। आवश्यकता है निरतर स्वाध्याय की। भव्य प्राणियो के लिये तो स्वाध्याय मानसिक खुराक होती है, किन्तु यह ससार है, जिसमे सभी प्राणी एक सरीखे नही होते। लार्ड बेकन ने कहा भी है :—

'Crafty men condemn studies, simple admire them, and wise men use them

अर्थात्—धूर्त मनुष्य स्वाध्याय अथवा अध्ययन का तिरस्कार करते हैं, सरल मनुष्य इसकी प्रशसा करते है और ज्ञानी पुरुष इसका उपयोग करते हैं।

वास्तव में ही सद्ग्रन्थ इस लोक के चिन्तामणि हैं, जिनके स्वाध्याय से दुश्चिन्ताएँ मिट जाती हैं, सशय-पिशाच भाग जाते हैं और मन मे सद्भावो के जागृत होने से परम शाति प्राप्त होती है।

आगमो मे स्वाध्याय के पाँच भेद बताए गए हैं :—वाचना, पृच्छना, पर्यटना अनुप्रेक्षा और धर्म कथा। इनका अर्थ है—सद्ग्रन्थो का वाचन करना, (पढना) उसमे रहे हुए प्रश्नो का महापुरुषो के द्वारा समाधान प्राप्त करना, विषय को पुन पुन दोहराते हुए ज्ञान को स्थिर रखना, प्राप्त किये हुए ज्ञान पर चिंतन-मनन करना तथा महापुरुषो के जीवन चरित्र को पढते हुए उनके जीवन से शिक्षाएँ लेने का प्रयत्न करना।

इस प्रकार सत्साहित्य का स्वाध्याय करते हुए जो साधक योग-साधना करता है, वह निश्चय ही अपने ध्येय की ओर अग्रसर होता हुआ अत मे उसे प्राप्त कर लेता है।

ईश्वर प्रणिधान—ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है साधक का ईश्वरमय हो

जाने का प्रयत्न करना । प्रभु के प्रति साधक की ऐसी भावना तन्मय भक्ति कहलाती है, उसमे वह प्रभुमय हो जाना चाहता है । वह कहता है :—

मुझे हे अरूपी ! अरूपी बना दो ।
मम तुम रूप है एक समाना,
मुझे निज रूप में नाथ मिलादो !

अपने आराध्य मे एक रूप हो जाने की आकाक्षा रखने वाला साधक ससार का समस्त ऐश्वर्य पाकर भी सतुष्ट नही होता । वह तो अपनी आत्मा को ही परमात्मा बनाना चाहता है । वह सोपाधिक भक्ति मे विश्वास नही करता, निरुपाधिक भक्ति का ग्राहक होता है । सोपाधिक भक्ति के पीछे कुछ न कुछ स्वार्थ होता है, मोह का पुट रहता है तथा उसमे स्थायित्व का अभाव बना रहता है । वह ससार के प्रति होती है और ससार की वृद्धि का कारण बनती है । किन्तु निरुपाधिक भक्ति आत्मा की परमात्मा के प्रति होती है । उसमे स्वार्थ का अधेरा नही, वरन् पवित्रता का प्रकाश होता है । वह नदी की तरह उथली नही होती, सागर के समान गम्भीर होती है ।

सोपाधिक भक्ति तभी तक, रहती है, जब तक भक्त का स्वार्थ सधता रहता है । जिस दिन उसका स्वार्थ नही सधा, भक्ति समाप्त हो जाती है ।

एक सटोरिया किसी देवता की मूर्ति चुरा लाया और अपने घर के एक आले मे उसकी स्थापना कर दी । प्रतिदिन वह उसकी भक्ति पूजा करता और चढाए हुए यव के दानो मे से आँख बन्द करके कुछ दाने उठा लेता । दानो की जो सख्या होती उसी सख्या वाला अक वह सट्टे मे लगा देता ।

सौभाग्यवश कुछ दिन तक उसे सट्टे मे लाभ होता रहा और वह अधिक उत्साह मे नियत समय से भी अधिक समय देवता की पूजा मे लगाने लगा । एक दिन उसने यव के दाने गिनकर जो अक लगाया उसमे वह सफल नही हुआ और पिछले कुछ दिनो मे उसने जितना रुपया प्राप्त किया था सबका सब चला गया । मारे क्रोध के सटोरिये ने घर आते ही देवता को उठाया और एक कुँए मे ले जाकर फेक दिया ।

सोपाधिक भक्ति ऐसी ही होती है । इसीलिये सच्चा साधक निरुपाधिक भक्ति मे लीन रहता है । उसे जगत के व्यवहार मे लेशमात्र भी रुचि नही होती । वह कबीर के इन शब्दो पर विश्वास करता है :—

जब लग नाता जगत का, तब लग भक्ति न होय ।
नाता तोडे हरि भजे भक्त कहावे सोय ।।

जगत में रहते हुए भी जागतिक सम्बन्धो मे आसक्ति न रखता हुआ साधक ईश्वर प्रणिधान करता हैं। कोई भी स्थिति, स्थान या समय उसमे बाधक नही बन सकता। ईश्वर प्रणिधान का फल वेदव्यास ने अपने भाष्य मे इस प्रकार बतलाया है :—

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा,
स्वस्थः परीक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः
स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी ॥

जो योगी शय्या तथा आसन पर बैठा हुआ या मार्ग मे चलता हुआ या एकान्त मे स्थित हुआ हिंसादि वितर्क रूप जाल से मुक्त होकर ईश्वर प्रणिधान करता है, वह ससार के बीज अविद्या आदि क्लेशो के क्षय का अनुभव करता हुआ नित्य परमात्मा मे युक्त हुआ अमृत के भोग का भागी होता है। अर्थात् जीवन्मुक्ति के सुख को प्राप्त करता है।

३. आसन :

आसन योग-साधना का तीसरा अग है। आसन शरीर को स्वस्थ, हलका और योग-साधन के योग्य बनाने मे सहायक होते है। शरीर की अनेक बीमारियाँ, जो डॉक्टर और वैद्यो के इलाज से दूर नही होती, आसनों के प्रयोग से मिट जाती हैं। मनुष्य का शरीर स्वस्थ रहे तभी उसका मन ठीक रह सकता है और मन के ठीक रहने पर ही साधना की जा सकती है।

मोटे तौर पर आसनो को शारीरिक व्यायाम मे ही गिना जाता है। उनसे वे सब लाभ मिलते हैं जो व्यायाम द्वारा मिलने चाहिये। साधारण कसरत से भीतर के जिन अगो का व्यायाम नही हो पाता, उनका आसनो के द्वारा हो जाता है।

ऋषियो ने आसनो को योग साधना मे इसलिये प्रमुख स्थान दिया है कि वे स्वास्थ्य रक्षा के लिये अतीव उपयोगी होने के अतिरिक्त शरीर के मर्म स्थानों मे रहने वाली 'हव्यवहा' और 'कव्यवहा' तडितशक्ति को क्रियाशील रखते हैं। मर्म-स्थान वे हैं जो अतीव कोमल होते हैं और प्रकृति ने उन्हे इतना सुरक्षित बनाया है कि साधारणतः उन तक कोई बाह्य प्रभाव नही पहुँचता। आसनो से इनकी रक्षा होती है।

इन मर्मो की सुरक्षा मे यदि किसी प्रकार की बाधा पड जाए तो जीवन संकटमय बन जाता है। उदर और छाती के अन्दर ऐसे मर्म स्थान अधिक हैं।

कण्ठ, कूप, स्कन्ध, पुच्छ, मेरुदण्ड और ब्रह्मरन्ध्र, से सम्बन्धित छत्तीस मर्म हैं। इनमे आघात लग जाये, रोगादि से विकृति आ जाये, रक्ताभिसचरण रुक जाये और विष वालुका जमा हो जावे तो शरीर भीतर ही भीतर घुलने लगता है। वाहर कोई रोग दिखाई नही देता, किन्तु भीतर से देह खोखली हो जाती है। मुँह मे कटुवाहट, शरीर मे रोमाच, भारीपन, उदासी, हडफूटन, शिरदर्द, प्यास आदि ज्वर जैसे लक्षण दिखाई पडते है, पर नाडी मे ज्वर न होने के कारण चिकित्सक कुछ समझ नही पाते और उपचार से कोई लाभ नही हो पाता।

कई वार किन्ही अज्ञात सूक्ष्म कारणो से भी मर्म स्थल विकृत हो जाते हैं और उनमे स्थित "हव्य वहा" और "कव्य वहा" तडित शक्तियो का सन्तुलन विगड जाने से वीमारी तथा कमजोरी आ घेरती है, जिससे योग साधना मे वाधा पडती है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए ही हमारे महर्षियो ने अपने दीर्घकालीन अनुसन्धान और अनुभवो द्वारा "आसन क्रिया" का आविष्कार किया है।

आसनो का हमारे मर्म स्थलो पर सीधा प्रभाव पडता है, तथा प्रधान नस-नाडियो और मास-पेशियो के अत्यधिक सूक्ष्म कोरुकाक्षो का भी आसनो द्वारा ऐसा आकुचन, प्रकुचन होता है कि उनमे जमे हुए विकार हट जाते हैं और नित्य स्वच्छता होती रहने से नये विकार जमा नही होते। मर्मस्थलो की स्थिरता एव परिपुष्टि के लिये आसनो को सर्वोत्तम उपचार माना गया है।

योगविषयक ग्रन्थो मे चौरासी प्रकार के मुख्य आसनो का उल्लेख है। विस्तार भय से अभी उन सवके विषय मे आपको वताना सम्भव नही है। किन्तु कुछ आसन ऐसे हैं जो शरीर के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। जैसे—सर्वाङ्गासन, सिद्धपद्मासन, मत्स्यासन, उत्कटासन, पश्चिमोत्तान, भुजगासन, धनुपासन, मयूरासन, सिद्धासन, चक्रासन तथा शवासन आदि।

एक वात ध्यान मे रखना आवश्यक है कि आसन करने के इच्छुक व्यक्तियो को किसी आसन-क्रिया के विशेषज्ञ से समाचीन विधि जानकर ही उसे करना चाहिये। क्योंकि विना जानकारी किये इन्हे करने से लाभ के वदले हानि होने की सम्भावना रहती है।

४ प्राणायाम :

योग के आठ अगो मे से चौथा अग 'प्राणायाम' है। आचार्य पतजलि आदि ने मुक्ति-साधना के लिये प्राणायाम को उपयोगी माना है। यद्यपि मोक्ष के साधन रूप ध्यान मे वह उपयोगी नही हैं, किन्तु शरीर की नीरोगता और

काल ज्ञान मे उसकी उपयोगिता है। प्राणायाम के विषय मे आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है —

प्राणायामस्ततः कैश्चिदाश्रितो ध्यान-सिद्धये।
शक्यो नेतरथा कर्तुं मन-पवन-निर्जयः॥

—योगशास्त्र

मुख और नासिका के अन्दर सचार करने वाला वायु 'प्राण' कहलाता है। उसके सचार का निरोध करना 'प्राणायाम' है। आसनो का अभ्यास करने के पश्चात् किन्ही-किन्ही आचार्यों ने ध्यान की सिद्धि ले लिए प्राणायाम को उपयोगी माना है, क्योकि प्राणायाम के बिना मन और पवन जीता नही जा सकता।

प्राणायाम से मनोजय—जहाँ मन है, वहाँ पवन है, और जहाँ पवन है, वहाँ मन है। अतः समान क्रिया वाले मन और पवन क्षीर-नीर की भाँति आपस मे मिले हुए हैं। इन दोनो का निरोध होने पर ही इन्द्रिय और बुद्धि के व्यापार का निरोध होकर मुक्ति-प्राप्ति हो सकती है। बताया गया है —

एकस्य नाशेऽन्यस्य स्यान्नाशो वृत्तौ च वर्तनम्।
ध्वस्तयोरिन्द्रियमति-ध्वसान्मोक्षश्च जायते॥

—आचार्य हेमचन्द्र

मन और पवन मे से एक का नाश होने पर दूसरे का नाश होता है और एक की प्रवृत्ति होने पर दूसरे की प्रवृत्ति होती है। जब ये दोनो नष्ट हो जाते हैं तब इन्द्रिय और बुद्धि के व्यापार भी नष्ट हो जाते हैं। और इनके व्यापार नष्ट हो जाने पर ही आत्मा को मुक्ति लाभ होता है।

प्राणायाम का लक्षण और भेद :—

प्राणायामो गतिच्छेदः श्वासप्रश्वासयोर्मतः।
रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकश्चेति स त्रिधा॥

श्वास और उच्छ्वास की गति का निरोध करना 'प्राणायाम' कहलाता है। वह रेचक, पूरक और कुम्भक के भेद से तीन प्रकार है।

अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक, नासिका, ब्रह्मरन्ध्र और मुख के द्वारा उदर मे से वायु को बाहर निकालना 'रेचक प्राणायाम' कहलाता है। रेचक-प्राणायाम से उदर सम्बन्धी अनेक व्याधियाँ दूर होती हैं।

बाहर के पवन को खींचकर उसे अपानद्वार पर्यन्त कोष्ठ मे भर लेना 'पूरक-प्राणायाम' है और नाभि-कमल मे स्थिर करके उसे रोक लेना 'कुंभक-

प्राणायाम' कहलाता है। पूरक-प्राणायाम से शरीर परिपुष्ट होता है और व्याधि नष्ट होती है। कुंभक-प्राणायाम करने से हृदय कमल तत्काल विकसित हो जाता है, अन्दर की ग्रन्थि का भेदन होता है, बल की वृद्धि होती है और वायु की स्थिरता होती है। इस प्रकार प्राणायाम के साथ तीन बंध, सात मुद्राएँ और प्राणायाम की नौ अन्य प्रक्रियाएँ भी है, जिन्हे प्राणायाम के विशेषज्ञो के द्वारा ही भली-भाँति जाना जा सकता है।

५ प्रत्याहार

प्राणायाम की प्रक्रिया से मन कुछ समय के लिये कार्य करना बन्द कर देता है, किन्तु इससे स्थिर नही हो पाता। अत प्राणायाम का बन्धन शिथिल होते ही वह और भी तीव्रता से दौडता है और साधना से बहुत दूर निकल जाता है। अत मन को स्थिर करने के लिये उसे किसी चिन्तन मे लगाना चाहिये। चिन्तन का सर्वोत्तम विषय धर्मध्यान है। कहा भी है —

इन्द्रियै सममाकृष्य विषयेभ्य प्रशान्तधी ।
धर्मध्यान कृते तस्मान्मन कुर्वीत निश्चलम् ॥

—योगशास्त्र

प्रशान्त बुद्धिवाला साधक इन्द्रियो के साथ मन को भी शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श इन पाँचो विषयो से हटाकर उसे धर्म ध्यान के चिन्तन मे लगाने का प्रयत्न करे।

अभिप्राय यही है कि जब तक इन्द्रियाँ और मन विषयो से विरत नही हो जाते, तब तक मन मे शाति का आविर्भाव नही हो सकता। अत. मन को विषयो की ओर से हटाना आवश्यक है। प्रशान्त मन निश्चल होता है, और मन का निश्चल होना धर्मध्यान के लिये अनिवार्य है। मन को बाह्य एव आभ्यतर इन्द्रियो से पृथक कर लेना ही 'प्रत्याहार' कहलाता है।

प्रत्याहार का अर्थ है पीछे हटना अर्थात् विषयो से विमुख होना। इसमे इन्द्रियाँ अपने बहिर्मुख विषय से पीछे हटकर अन्तर्मुख होती है। जिस प्रकार मधुमक्खियाँ रानी मक्खी के उडने पर उडने लगती है और बैठने पर बैठ जाती है, इसी प्रकार इन्द्रियाँ चित्त के अधीन होकर काम करती है। जब चित्त का बाहर के विषयो से उपराग होता है तभी उनको ग्रहण करती है। यम, नियम प्राणायामादि के प्रभाव से चित्त जब बाह्य विषयो से निवृत्त होकर समाहित होने लगता है, तब इन्द्रियाँ भी अन्तर्मुख होकर—उसका अनुकरण करने लगती है और चित्त के निरुद्ध होने पर स्वय भी निरुद्ध हो जाती है। यही उनका प्रत्याहार है।

६. धारणा :

ध्यान के लिये वचन और काय के साथ मन को एकाग्र करना आवश्यक है। अत ध्यान-आत्मचितन करते समय यह आवश्यक है कि मन को एक पदार्थ के चिंतन मे स्थिर किया जाय। वस्तुत ध्यान मन को एक स्थान पर एकाग्र करने, स्थिर रखने की साधना है।

नाभि, हृदय, नासिका का अग्रभाग, कपाल, भ्रकुटि, तालु, नेत्र, मुख, कान और मस्तक, ये ध्यान करने के लिये धारणा के स्थान हैं अर्थात् इन स्थानो मे से किसी भी एक स्थान पर चित्त को स्थिर करना चाहिये। चित्त को स्थिर करना ही धारणा है। आचार्य पतजलि ने कहा है :—

'देशबन्धचित्तस्य धारणा।'

देश विशेष (किसी विशेष स्थान) मे चित्त का बाँधना धारणा कहलाता है।

धारणा से लाभ—पैर के अगूठे मे, एडी मे और गुल्फ टखने मे, जंघा मे, घुटने मे, उरु मे—अनुक्रम से वायु को धारण करके रखने से शीघ्र गति और बल की प्राप्ति होती है।

नाभि मे वायु को धारण करने से ज्वर दूर हो जाता है, जठर मे धारण करने से मलशुद्धि होकर शरीर शुद्ध होता है, हृदय मे धारण करने से ज्ञान की वृद्धि होती है तथा कूर्म-नाडी मे धारण करने से रोग व वृद्धावस्था का नाश होता है—वृद्धावस्था मे भी जवानो जैसी स्फूर्ति बनी रहती है।

कण्ठ मे वायु को धारण करने से भूख-प्यास नही लगती और यदि लगी हो तो शान्त हो जाती है। जीभ के अग्र भाग पर वायु का निरोध करने से रस-ज्ञान की वृद्धि होती है। नासिका के अग्र भाग पर रोकने से गंध का ज्ञान होता है तथा चक्षु मे धारण करने से रूप-ज्ञान की वृद्धि होती है।

कपाल-मस्तिष्क मे वायु को धारण करने से मस्तिष्क सम्बन्धी रोगो का नाश होता है और क्रोध का क्षयोपशम होता हैं और ब्रह्मरन्ध्र मे धारण करने से साक्षात् सिद्धो के दर्शन होते है—अर्थात् आत्म-साक्षात्कार होता है।

७ ध्यान :

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि द्वारा जब चित्त स्थिर हो जाए तब उसको अन्य विषयो से हटाते हुए एक ध्येय (विषय) मे वृत्तिमात्र से बाँधना धारणा कहलाता है। तथा धारणा मे चित्त जिस वृत्तिमात्र से ध्येय मे लगता है, जब वह वृत्ति इस प्रकार समान प्रवाह से लगातार उदय होती रहे कि दूसरी कोई वृत्ति बीच मे न आए, तब उसको ध्यान कहते हैं।

ध्यान वह मानसिक प्रक्रिया है, जिसके अनुसार किसी वस्तु की स्थापना अपने मन-क्षेत्र में की जाती है। मानसिक क्षेत्र मे स्थापित की हुई वस्तु, हमारे चिन्तन का प्रधान केन्द्र बनती है। उसकी ओर मस्तिष्क की अधिकाश शक्तियाँ खिच जाती हैं, फलस्वरूप एक स्थान पर उनका केन्द्रीयकरण होने लगता है। जिस प्रकार चुबक अपने चारो ओर विखरे हुए लौह-कणो को सब ओर से खीचकर, अपने पास जमा कर लेता है, इसी प्रकार ध्यान द्वारा विखरी हुई समस्त चित्त वृत्तियाँ एक ही केन्द्र पर सिमट आती हैं।

कोई आदर्श, लक्ष्य या इष्ट निर्धारित करके उसमे लीन हो जाने को ही ध्यान कहते हैं। एक छोटी सी कहावत है—'जैसी मनसा वैसी दशा।' ध्यान के विषय मे यही बात है। जैसा ध्यान किया जाता है, मनुष्य वैसा ही बनने लगता है, जिस प्रकार किसी साँचे मे गीली मिट्टी को दबाने से मिट्टी की आकृति साँचे के अनुसार बन जाती है। कीट और भृङ्ग का उदाहरण भी इस बात को स्पष्ट करता है। कहा जाता है—भृङ्ग झीगुर को पकड कर ले आता है और उसके चारो ओर लगातार गुञ्जन करता रहता है। झीगुर उस गुञ्जन को तन्मय होकर सुनता है और भृङ्ग के रूप को और उसकी चेष्टाओ को एकाग्रता पूर्वक निहारता रहता है। परिणाम यह होता है कि झीगुर का मन भृङ्गमय हो जाने के कारण उसका शरीर भी उसी ढाँचे मे ढलता जाता है और उसके रक्त, मास, नस, नाडी, त्वचा, मन आदि मे परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है। थोडे समय मे ही झीगुर मन और शरीर से भी असली भृङ्ग के समान बन जाता है। इसी प्रकार ध्यान शक्ति के द्वारा भी साधक का सर्वाङ्ग पूर्ण कायाकल्प हो जाता है।

किन्तु साधारण ध्यान से शरीर मे परिवर्तन नही हो सकता। उसके लिये गहन साधनाएँ करनी पडती हैं। हाँ, मानसिक कायाकल्प करना मनुष्य के लिये अधिक कठिन नही है। साधक अगर अपना कोई इष्टदेव चुन ले और उसे लक्ष्य बनाकर अपनी मानसिक चेतना को उसी मे तन्मय कर दे, तो उसका परिणाम यह होगा कि उसके मन की समस्त विखरी हुई शक्तियाँ उसी केन्द्र पर एकत्रित हो जाएँगी और उस स्थानीय एकाग्रता के कारण साधक के गुण, तर्क, स्वभाव, विचार, यत्न, उपाय, एव कर्म अद्भुत गति से विकसित होने लगेंगे और साधक अपने अभीष्ट को स्वल्प-काल मे ही प्राप्त कर लेगा।

मनुष्य को यह नही भूलना चाहिये कि जो भी असाधारण शक्तियाँ वह ध्यान आदि क्रियाओ से प्राप्त करता है, वे कही बाहर से नही आती। सब उसकी आत्मा मे ही निहित होती हैं। एक उर्दू कवि ने अन्योक्ति द्वारा इसी बात को बडे सुन्दर ढंग से कहा है —

तू क्या समझेगा ऐ बुतसाज ! यह परदे की बातें है ।
तराशा जिसको, थी पहले से वह तस्वीर पत्थर मे ॥

—सीमाब

अभिप्राय यही है कि आत्मा मे अनत शक्ति छिपी हुई है । आवश्यकता है उसे जानने और विकसित करने की । पर यह तभी हो सकता है, जब साधक अपना एक उच्चतम लक्ष्य बनाए और उसे केन्द्र बनाकर तन्मयतापूर्वक अपनी समस्त चित्त-वृत्तियो को उस पर स्थिर करके आत्मा को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करे ।

ध्यान करने की इच्छा रखने वाले साधक को ध्यान करने के विधान को भली-भाँति समझ लेना आवश्यक है । ध्यान के पाँच अङ्ग हैं । स्थिति, संस्थिति, विगति, प्रगति, संस्मिति ।

स्थिति से तात्पर्य है, साधक की ध्यान करते समय की स्थिति । ध्यानार्थी ध्यान करने के लिये एकात और शाति पूर्ण स्थान पर शारीरिक शुद्धि करके सुखासन से बैठे । उसका मुँह पूर्व या उत्तर की ओर होना चाहिये ।

ध्यान का दूसरा अग है सस्थिति । इससे अभिप्राय है साधक अपने इष्ट के आकार, मुद्रा आदि पर अपनी चित्त-वृत्तियो को केन्द्रित करे ।

विगति कहते हैं, अपने उपास्य के गुणो का चिन्तन करने को । यथा—अरिहन्तो के बारह, सिद्धो के आठ, आचार्यों के छत्तीस, उपाध्यायो के पच्चीस तथा सुसाधु के सत्ताईस, इस प्रकार निर्धारित गुणो का भावनानुसार चिन्तन करे ।

उपासना काल मे साधक के मन मे रहने वाली भावना प्रगति कहलाती है । साधक गुरु, पिता, सहायक आदि जिस रूप मे उपास्य को मानना चाहे उस रूप की स्थिरता को प्रगाढ बनाने के लिये अपनी आन्तरिक भावनाओ को विविध शब्दो तथा चेष्टाओ द्वारा व्यक्त करे ।

सस्मिति वह अवस्था है जिसमे साधक और साध्य, उपासक और उपास्य, भक्त और भगवान एक रूप हो जाते हैं । दोनो मे कोई भेद नही रहता । उपासक की इस भावना का एक राजस्थानी पद्य मे बडा सुन्दर चित्रण किया गया है —

सतगुरु म्हारा खीर समंदर मैं गलियां का नीर,
गलियां का नीर समंद मे मिलिया,
निर्मल भया रे शरीर, उम्मेदी गहरी लाग रही ' ''।

ध्यान के इच्छुक साधक मे इसी प्रकार की तन्मयता और दृढता होनी चाहिये। सच्चा ध्यानार्थी वही है जो प्राण-नाश का अवसर आ जाने पर भी सयम-निष्ठा का परित्याग नही करता, सर्दी, गर्मी और वायु से खिन्न होकर अपने लक्ष्य मे च्युत नही होता, रागादि-दोषो मे आक्रान्त नही होता, मन को आत्म-भाव मे रमण कराता हुआ योग रूपी अमृत-रसायन का पान करने का इच्छुक होता है, शत्रु-मित्र पर समान भाव रखता हुआ ससार के प्रत्येक प्राणी की कल्याणकामना करता है और परीषह उपसर्ग आने पर भी सुमेरु के समान अटल रहता है। ऐसा ही प्रशस्त बुद्धि वाला प्रबुद्ध साधक प्रशसनीय और श्रेष्ठ ध्याता हो सकता है।

ध्याता के आलम्बन रूप ध्यान चार प्रकार के होते हैं —

(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ और (४) रूपातीत।

इन चारो प्रकार के ध्यानो से साधक अनेकानेक असाधारण शक्तियाँ प्राप्त करता है और अनिर्वचनीय आत्मानन्द का अनुभव कर सकता है। इतना ही नही, वह क्रमश अग्रसर होता हुआ एव शुक्लध्यान ध्याता हुआ ध्यान रूपी जाज्वल्यमान प्रचण्ड अग्नि द्वारा चारो घाति-कर्मो को नष्ट कर देता है। इन चारो ध्यानो की विधि बताने का समय नही है। उसे योग-सम्बन्धी शास्त्रो के द्वारा जानना और समझना चाहिए।

८ समाधि

वह ध्यान ही समाधि कहलाता है, जब उसमे ध्येय केवल अर्थ मात्र से भासता है और ध्यान का स्वरूप शून्य जैसा हो जाता है। अर्थात् जब ध्यान ही अभ्यास के बल से अपने ध्यानाकार रूप से रहित जैसा होकर केवल ध्येय स्वरूप-मात्र से अवस्थित होकर प्रकाशित होने लग तब वह समाधि कहलाता है। योग के अन्तिम तीन अगो—धारणा, ध्यान और समाधि मे समाधि अगी है और धारणा तथा ध्यान उसके अग हैं। धारणा और ध्यान समाधि की प्राथमिक अवस्थाएँ हैं। समाधि के द्वारा साधक को ऐसे आत्मानन्द की अनुभूति होती है कि जिसके बाद किसी सुख की वाछा ही नही रह जाती। इसीलिये कहा गया है —

"लब्धे मन —स्वास्थ्य—सुखैकलेशे।
त्रैलोक्यराज्येऽपि न तस्य वाञ्छा ॥"

—हृदय प्रदीप

अर्थात्—एक बार चित्त समाधि का आंशिक सुख भी यदि उपलब्ध हो

तू क्या समझेगा ऐ बुतसाज ! यह परदे की बातें हैं।
तराशा जिसको, थी पहले से वह तस्वीर पत्थर मे ।।

—सीमाब

अभिप्राय यही है कि आत्मा मे अनत शक्ति छिपी हुई है। आवश्यकता है उसे जानने और विकसित करने की। पर यह तभी हो सकता है, जब साधक अपना एक उच्चतम लक्ष्य बनाए और उसे केन्द्र बनाकर तन्मयतापूर्वक अपनी समस्त चित्त-वृत्तियो को उस पर स्थिर करके आत्मा को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करे।

ध्यान करने की इच्छा रखने वाले साधक को ध्यान करने के विधान को भली-भाँति समझ लेना आवश्यक है। ध्यान के पाँच अङ्ग हैं। स्थिति, संस्थिति, विगति, प्रगति, संस्मिति।

स्थिति से तात्पर्य है, साधक की ध्यान करते समय की स्थिति। ध्यानार्थी ध्यान करने के लिये एकात और शाति पूर्ण स्थान पर शारीरिक शुद्धि करके सुखासन से बैठे। उसका मुँह पूर्व या उत्तर की ओर होना चाहिये।

ध्यान का दूसरा अग है संस्थिति। इससे अभिप्राय है साधक अपने इष्ट के आकार, मुद्रा आदि पर अपनी चित्त-वृत्तियो को केन्द्रित करे।

विगति कहते हैं, अपने उपास्य के गुणो का चिन्तन करने को। यथा—अरिहन्तो के बारह, सिद्धो के आठ, आचार्यों के छत्तीस, उपाध्यायो के पच्चीस तथा सुसाधु के सत्ताईस, इस प्रकार निर्धारित गुणो का भावनानुसार चिन्तन करे।

उपासना काल मे साधक के मन मे रहने वाली भावना प्रगति कहलाती है। साधक गुरु, पिता, सहायक आदि जिस रूप में उपास्य को मानना चाहे उस रूप की स्थिरता को प्रगाढ बनाने के लिये अपनी आन्तरिक भावनाओ को विविध शब्दो तथा चेष्टाओ द्वारा व्यक्त करे।

सस्मिति वह अवस्था है जिसमे साधक और साध्य, उपासक और उपास्य, भक्त और भगवान एक रूप हो जाते हैं। दोनो मे कोई भेद नही रहता। उपासक की इस भावना का एक राजस्थानी पद्य मे बडा सुन्दर चित्रण किया गया है —

सतगुरु म्हारा खीर समदर मैं गलियाँ का नीर,
गलियाँ का नीर समंद मे मिलिया,
निर्मल भया रे शरीर, उम्मेदी गहरी लाग रही ।

जाय तो बाद मे उस पुरुष को तीन लोक के राज्य की भी इच्छा नही रह जाती है।

ध्यान का परम प्रकर्ष होने पर ध्याता ध्येय रूप हो जाता है, उसकी आत्मा परमात्मपद को प्राप्त कर लेती है। सभी विकल्प नष्ट हो जाते हैं और आत्मा सिद्ध पद को प्राप्त कर लेती है।

बन्धुओ ! आपने जान लिया होगा कि योग-साधना से सिद्धि किस प्रकार प्राप्त होती है। यद्यपि यह विषय आपको नीरस लगा होगा किन्तु आत्मा की मुक्ति मनोरजन करते रहने से नही हो सकती। मुक्ति के लिये उसे प्रबल प्रयत्न और गम्भीर सघर्ष करना पडता है। जिस प्रकार सैनिक अपनी समस्त सुख सुविधाओ और मन को सुख पहुँचाने वाले साधनो का त्याग करके पूर्ण साहस, उत्साह और शस्त्रादि साधनो से युक्त होकर सतर्कता से शत्रु-दल का विनाश करता है उसी प्रकार मुमुक्षु प्राणी भी समस्त पौद्‌गलिक सुखों का परित्याग करके साधना की समरभूमि मे कर्म दल का सहार करता है और सत्य, शिव, सुन्दर को प्राप्त करता है।



६

आस्तिक बनो, नास्तिक नहीं !

प्राचीन काल से इस ससार मे दो परस्पर विरोधी विचारधाराओ वाले मनुष्य होते आए हैं जिन्हे हम आस्तिक और नास्तिक कहते हैं। दोनो के विचारो मे बडा भारी अन्तर है। दोनो प्रकार के व्यक्ति इस ससार मे रहते हैं और अर्थ का उपार्जन तथा उसका उपभोग करते हुए दिखाई देते हैं, किन्तु दोनो की दृष्टियो मे विभिन्नता होती है।

नास्तिकों की मान्यता—नास्तिक व्यक्तियो का चरम लक्ष्य होता है जीवन के अन्त तक सुखपूर्वक जीना। उनके विचारानुसार जब तक यह मानव देह है, तब तक जैसे भी बने इसे खूब खिलाया पिलाया जाय, पुष्ट बनाया जाय और समस्त इन्द्रियों के सुखो का उपभोग किया जाय, क्योंकि मृत्यु के बाद तो यह देह भस्म हो जाएगी और फिर कुछ भी शेष नहीं रहेगा। अत उनका यही कर्त्तव्य है'—

यावज्जीवेत्सुख जीवेत ऋण कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुत' ?

अर्थात्—जब तक भी जीए अत्यन्त सुख मे जीए। जीवन के सम्पूर्ण आनन्द को भोगने के लिये ऋण ले लेकर भी घी पीए तो कोई बुराई नही है। यह देह तो मृत्यु के उपरान्त भस्म हो जाएगी और पुन शरीर मिलना सम्भव नही है।

तात्पर्य यही है कि नास्तिको के मतानुसार परलोक नही है, जिसमे उन्हे इस जन्म मे लिया हुआ ऋण चुकाना पडे। ऐसी स्थिति मे कर्ज ले लेकर भी सुख भोगने मे क्या हर्ज है ? आत्मा नाम की कोई चीज वे नही मानते। अतः उससे सम्बन्धित कोई चिन्ता भी उन्हे नही होती। तप, त्याग, सयम और साधना आदि सभी कुछ उनकी दृष्टि मे उपहास के योग्य होता है। उनका स्पष्ट कथन है :—

अशक्तस्तु भवेत्साधु· कुरूपा च पतिव्रता।
व्याधितो देवभक्तश्च निर्धना ब्रह्मचारिण ॥

अर्थात्—जो व्यक्ति अर्थोपार्जन करके उदरपूर्ति नही कर सकता वह साधु बने, और जिसको कोई भी पुरुष पसन्द नही करता वह कुरूपा स्त्री पतिव्रता बन जाए। बीमार मनुष्य देवता की भक्ति करे तथा दरिद्रता के कारण जिसे पत्नी प्राप्त ही न होती हो वह ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करे।

आशय यही है कि जब आत्मा का अस्तित्व ही नही है तो व्यर्थ सयम, सदाचार और धर्माचरण किस लिये किया जाय ? न तो कभी किसी ने आत्मा को देखा है और न ही परलोक या परमात्मा कही दिखाई देता है। किन्तु इस ससार के सुख तो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते है और उन्हे अनुभव किया जा सकता है। तब फिर प्राप्त सासारिक सुखो का त्याग करके परलोक के कल्पित सुखो की आशा करना महामूर्खता के अलावा और क्या है ? सबसे अच्छा और बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य तो यही है कि परलोक के अविश्वसनीय सुखो की इच्छा त्यागकर इस लोक मे ही प्राप्त सुखो का अधिक से अधिक उपयोग किया जाय।

आस्तिको की आस्था—यह तो है नास्तिको की विचारधारा। आस्तिक इससे बिलकुल विपरीत सोचते है। वे आत्मा को अनश्वर और सनातन मानते है तथा परलोक एव पुनर्जन्म मे पूर्ण विश्वास रखते हैं। आचाराग सूत्र मे आस्तिक के लिये कहा गया है —

से आयावादी, लोगावादी, कम्मावादी, किरियावादी।

—आचाराग सूत्र

अर्थात्—वह आत्मावादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है।

आत्मवादी—आस्तिक का प्रथम लक्षण आत्मवादी होता है। वह मानता है कि आत्मा का कभी विनाश नही होता। यद्यपि यह मनुष्य पर्याय क्षण भगुर है, अल्पकाल मे ही आत्मा इस देह को त्याग देती है, किन्तु इस जीवन की समाप्ति के साथ ही आत्मा समाप्त नही होती। मनुष्य जीवन तो आत्मा की मात्र एक पर्याय है और इस पर्याय के बाद आत्मा अन्य पर्याय धारण करती है। जब तक उसकी मुक्ति नही हो जाती तब तक वह, अनन्त काल भी क्यो न व्यतीत हो जाय, नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति अथवा देवगति मे परिभ्रमण करती रहती है। स्वरूपत आत्मा शरीर से भिन्न है अत पर्यायो के बदलते रहने पर भी उसका निजी स्वरूप ज्यो का त्यो रहता है। न उसका विनाश होता है और न ही उत्पाद। मनुष्य मरकर पशु हो जाता है तथा पशु मर कर देव बनता है किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि आत्मा मर चुकती है और पुन उसका जन्म होता है। होता सिर्फ यह है कि आत्मा एक पर्याय त्याग कर दूसरी पर्याय ग्रहण करती है और अपने कृत कर्मो के परिणामस्वरूप अनेकानेक सुख-दुखो को भोगती हुई परिभ्रमण करती रहती है। कहा भी है —

"एकाप्ययेव भ्रमत्यात्मा दुर्गे भवमरुस्थले।"

—शुभचन्द्राचार्य

अर्थात्—ससार रूप विकट मरुस्थली मे यह आत्मा अकेली ही नाना प्रकार की पीडाओ को सहन करती हुई भ्रमण करती रहती है।

एक पर्याय से जब वह दूसरी पर्याय मे जाती है तो प्रथम पर्याय का नाश हो जाता है और आत्मा उससे अलग हो जाती है। आस्तिको के मतानुसार शरीर और आत्मा बिलकुल भिन्न है। आत्मा निराकार, निर्विकार, शुद्ध तथा अव्याबाध सुखो का खजाना है और शरीर सप्त धातुओ के द्वारा निर्मित होने वाला नश्वर पुद्गल पिड मात्र है। एक पद्य मे इसी भाव को स्पष्ट किया गया है :—

सिद्ध विशुद्ध बुद्ध चेतन है सहज सुखो का सागर,
अव्याबाध अरूप निरंजन साम्य-सुधा का आगर।
सप्त धातु निर्मित काया है पुद्गल-पिण्ड विनश्वर,
दोनो एक कदापि न होंगे समझ सयाने सत्वर।

—शोभाचन्द्र 'भारिल्ल'

कवि का कथन सत्य है, और इसीलिये बुद्धिमान् पुरुष अपनी वर्तमान मे मिली हुई देह का त्याग करते समय, अर्थात् मृत्यु के समय भी खिन्न नही होते। वे भली भांति जानते है कि मरने वाली सिर्फ यह देह है, आत्मा नही। उनका दृढ विश्वास होता है :—

न जायते म्रियते वा विपश्चि—
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

- कठोपनिषद

अर्थात्—नित्य चैतन्य रूप आत्मा न उत्पन्न होती है न मरती है, न यह किसी से जन्मी है और न इससे कोई जन्मा है—अर्थात् इसका कोई कारण या कार्य नही है। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है और पुराण है, शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह मरती नही है।

गीता मे भी यही कहा गया है :—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

अर्थात्— इस आत्मा को शस्त्र नही काट सकते, अग्नि जला नही सकती, जल इसे भिगो नही सकता और पवन इसे सुखा नही सकता।

कहने का तात्पर्य यही है कि आस्तिक पुरुष नश्वर शरीर से भिन्न, आत्मा के अजरत्व, अमरत्व तथा अनश्वरत्व लक्षणो पर पूर्ण आस्था रखता है।

लोकवादी :—लोकवादी होना आस्तिक का दूसरा लक्षण है। वह मानता है कि जब आत्मा अनश्वर और नित्य है तथा विभिन्न गतियो मे जन्म-मरण करती है तो परलोक का होना भी स्वाभाविक है। आत्मा जब एक अवस्था को त्यागकर दूसरी अवस्था मे जाती है, अर्थात् एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर मे प्रवेश करती है तो उसका वह नवीन देह-धारण करना परलोक गमन कहलाता है।

ध्यान मे रखने की बात यह है कि सभी आत्माओ के लिये परलोक एक ही जैसा नही होता। कोई आत्मा मनुष्य लोक से जाने के बाद देवलोक मे जन्म लेती है और स्वर्गीय सुखो का उपभोग करती है तथा कोई आत्मा मनुष्य-देह त्यागकर नरक मे पहुँचती है तथा भीषण और असह्य यातनाएँ भोगती है—

देवराज स्वर्गीय सुखो को त्याग कीट होता है,
विपुल राज्य से भूपति पल मे हाय! हाथ धोता है।
गोबर का कीडा स्वर्गो के दिव्य सौख्य पाता है,
अपना ही शुभ अशुभ कृत्य यह अजब रंग लाता है।

अपने शुभ और अशुभ कृत्यो के परिणाम स्वरूप आत्मा कभी पशु, कभी

पक्षी और कभी मनुष्य योनि मे आती है। मनुष्य योनि मे आकर भी सभी आत्माएँ उत्तमोत्तम भोगोपभोग प्राप्त कर ही ले, यह भी आवश्यक नहीं है। कोई मनुष्य स्वस्थ, सुन्दर और ऐश्वर्यशाली होकर आनन्द मे जीवन बिताता है और कोई अपग, अधा, रुग्ण और दरिद्र रहकर जीवन के अन्त तक दुख भोगता रहता है। आत्माओ की समानता होने पर भी सब जीवो की स्थिति मे इतना अतर होने के कारण उनका पुण्य और पापो का सचय ही होता है।

अत्यन्त आश्चर्य है कि नास्तिक व्यक्ति ससार के प्राणियो मे इतनी असमानता देखकर भी कहते हैं —

लोकायता वन्दत्येव, नास्ति देवो न निर्वृत्ति ।
धर्माधर्मो न विद्येते, न फलं पुण्य-पापयो ॥
पञ्चभूतात्मकं वस्तु, प्रत्यक्ष च प्रमाणकम् ।
नास्तिकाना मते नान्यदात्माऽमुत्र शुभाशुभम् ॥

अर्थात्—न कोई परमात्मा है, न कहीं मुक्ति है। न धर्म है न अधर्म है। न पुण्य अथवा पापो का कभी फल भोगना पडता है। यह समग्र विश्व पृथ्वी, पानी, आग वायु और आकाश इन पाँच भूतो मे समाविष्ट है। इनके अतिरिक्त और कोई भी वस्तु ससार मे नही है। अनुमान और आगम प्रमाण नही हैं, केवल प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। प्रत्यक्ष प्रमाण पर ही विश्वास किया जा सकता है शेष सब ज्ञान अप्रामाणिक है। परलोक कुछ नही है, कोई आत्मा परलोक मे नही जाती।

इनका आशय यही है कि जब आत्मा ही नही तो फिर परलोक का भय किसलिये? आत्मा के अभाव मे सयम, सदाचार और धर्म क्रिया का कोई महत्व नहीं है, कोई आवश्यकता भी नहीं है। यह जीवन ही सब कुछ है, जितना भी आनन्द प्राप्त किया जा सके, कर लेना चाहिये। इसी मे बुद्धिमत्ता है इतना ही नही नास्तिक तो यहाँ तक कहते हैं —

इहलोकसुखं हित्वा ये तपस्यन्ति दुर्धिय ।
हित्वा हस्तगतग्रास, ते लिहन्ति पदागुलिम् ॥

अर्थात्—जो उलटी बुद्धि के लोग इस लोक के सुखो को त्यागकर तपस्या करते है, वे अपने हाथ के कौर को छोडकर पैर की अंगुलियाँ चाटते हैं।

बधुओ! नास्तिको की यह विचारधारा अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है। परलोक को न देखने मात्र से उसे अस्वीकार करना अनुचित है। ससार मे प्रत्येक मनुष्य और मनुष्य ही क्या अनेक पशु पक्षी भी भविष्य ज्ञान की आशा के कारण अनेक क्रियाएँ करते हैं। चीटियाँ दिनो मे सभी अनाज इकट्ठा करती हैं।

पक्षी एक-एक तिनका जुटाकर घोसले बनाते हैं। किसान बीज बोता है भविष्य मे फसल प्राप्त करने के लिये और व्यापारी अपनी जमा पूँजी माल खरीदने मे लगता है। यह सब क्यो? भविष्य की आशा से ही तो। अगर किसान सोचे कि भविष्य की फसल किसने देखी? फसल आने से पहले ही अगर मैं मर गया तो? और व्यापारी कहे कि माल बिकेगा या नही? कही दुकान मे आग लग गई तो? तब फिर सोचिये कि आगे जाकर किसान की क्या दशा होगी और व्यापारी क्या खाएगा? क्या सभी की अवस्था सोचनीय नही हो जाएगी? किन्तु ऐसा नही होता। जो भविष्य मे विश्वास करता है वह अपने परिश्रम और पुरुषार्थ के द्वारा अपने समस्त लौकिक कार्य करता है तथा उनका फल प्राप्त कर लेता हैं। उसे अपने अन्दर छिपी हुई शक्तियो पर भरोसा होना है। उन्ही के बल पर वह भविष्य को उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करता है।

वास्तव मे जो मनुष्य काम भोगो मे आसक्त रहते हैं, विषय वासनाओ को त्यागने मे असमर्थ होते हैं तथा जिनकी इन्द्रियाँ उच्छृखल होने के कारण नियन्त्रित नही हो पाती वे इन्द्रियो के अनुचर मनुष्य ही परलोक की और परलोक के सुखो की परोक्षता का बहाना करके अपने जीवन को पाप, दुराचार, अज्ञान और वासना का घर बना लेते हैं। किन्तु यही तक उनका पतन नहीं रुक जाता, क्योकि—

विवेकभ्रष्टाना भवति विनिपातः शतमुखः।

अर्थात्—विवेक से भ्रष्ट लोगो का सैकडो प्रकार से पतन होता है।

इस उक्ति के अनुसार पतनोन्मुख व्यक्ति गिरता ही चला जाता है। असत्य, माया, शठता तथा पिशुनता आदि अनेकानेक दुर्गुणो का शिकार बनकर अपने जीवन को कालिमा से आच्छादित कर लेता है। विवेक का अभाव होने के कारण उसे भक्ष्य अभक्ष्य का भी ख्याल नही रहता। अभक्ष्य भक्षण के निमित्त वह अनेकानेक निरपराध प्राणियो का घात करता है, क्रूरता के किसी भी कार्य से परहेज नही करता।

दुख की बात तो यह है कि अपने किसी कुकर्म को वह कुकर्म ही नही मानता। कोई बीमार अगर अपने आपको बीमार समझे तो उसका उपचार हो सकता है किन्तु यदि वह अपने को रोगी ही न माने तो उपचार किस प्रकार किया जा सकता है? नास्तिक भी अपने समस्त कुकृत्यो को कल्याणकारी मानता है और उन्हे त्यागना नही चाहता। परिणाम सिर्फ यही होता है कि परलोक और उसमे प्राप्त होने वाले कर्मफलो पर विश्वास न करने के कारण

वह सांसारिक विषय-भोगों में ही सच्चा सुख मानने लगता है। किन्तु विषय-भोगों से कभी तृप्त न हो पाने के कारण एक ओर तो वह अतृप्ति से पैदा होने वाली ग्लानि की आग में जलता है, तथा दूसरी ओर काम-भोगों की अनियमितता के कारण अनेक व्याधियों का शिकार बनता है।

वास्तव में ये भोग-विलास मानव के जीवन को बर्बाद कर देते हैं। इनकी बदौलत वह उत्तम मानव जीवन वरदान बनने के बदले घोर अभिशाप बन जाता है। किन्तु जब जीवन की समाप्ति का समय आता है और मृत्यु चील की भांति मस्तक पर मंडराने लगती है तब समस्त शारीरिक कष्ट और परलोक का भय घोर नास्तिक के मन को भी बेचैन बना देता है। अपने अंतिम समय में उसे जीवन भर किये हुए कुकृत्यों के लिये पश्चात्ताप होता है और संसार की असारता तथा परलोक के अस्तित्व की संभावना उसके हृदय में पैदा होती है। किन्तु उस समय पछताने से क्या होता है? अच्छा तो यह है कि समय रहते ही वह चेत जाय और अपने मन को कदम-कदम पर चेतावनी देता रहे —

बुद्धि-विवेक की जोती बुझी,
  ममता-मद-मोह-घटा घनी घेरी।
है न सहारो अनेकन हैं ठग,
  पाप के पन्नग की रही फेरी।
त्यों अभिमान को कूप इतै,
  उत कामना-रूप सिलान की ढेरी।
तू चलु मूंद सम्हारि अरे मन,
  राह न जानी है रैन अंधेरी।

आस्तिक केवल वर्तमान का ही विचार नहीं करता अपितु भविष्य को भी ध्यान में रखते हुए अपने कर्तव्य का निर्णय करता है। वह केवल इस लोक के सुखों में ही लीन नहीं होता वरन् परलोक में सुखी बनने के लिये भी प्रयत्न करता है। इतना ही नहीं, वह तो सांसारिक सुखों को नाशवान मानता हुआ अपनी आत्मा को जन्म मरण से मुक्त कर अक्षय और अव्याबाध सुख की प्राप्ति के लिये अधीर रहता है।

कर्मवादी—आस्तिक कर्मवादी होता है। वह मानता है कि जगत के समस्त प्राणी अपने संचित कर्मों के कारण संसार में परिभ्रमण करते हैं और अपने-अपने कर्मों के अनुसार [illegible] करते हैं। [illegible]

मरण का मूल कर्म ही हैं। अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण ही प्राणी सुख अथवा दुख का अनुभव करते है। कहा भी है :—

कर्मों और कषायो के वश होकर प्राणी नाना–
कायो को धारण करता है तजता है जग जाना।
है संसार यही, अनादि से जीव यहीं दुख पाते,
कर्म-मदारी जीव-वानरो को हा नाच नचाते।

कवि का कथन सत्य है। मदारी जिस प्रकार बन्दर को नचाता है उसी प्रकार कर्म आत्मा को चारो गतियो मे घुमाते रहते हैं। उस पर भी, एक वन्दर को तो एक ही मदारी नचाता है किन्तु जीव रूपी बन्दर को नचाने के लिये तो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि आठ कर्म रूपी मदारी मौजूद हैं। वे अनन्त काल तक भी आत्मा को चैन नही लेने देते। छोटे से छोटा कर्म भी अपना फल प्रदान किये बिना नही रहता। कहा भी है :—

"जह भारवहो पुरिसो, वहइ भरं गेहिं ऊण कावडियं !
एमेव वहइ जीवो, कम्मभरं काय-कावडियं !!"

—गोमट्टसार

अर्थात्—जिस प्रकार भारवहन करनेवाला पुरुष कावड के सहारे भार को ढोता है, उसी प्रकार काय-रूपी काबड का सहारा लेकर यह जीव भी कर्म रूपी भार को वहन करता है। यह कर्म ही जीव की विविध अवस्थाओं का कारण है।

कुछ व्यक्ति कर्म-फल मे सन्देह करते हुए कहते है कि ससार मे प्रायः देखा जाता है कि हिंसा, चोरी, अन्याय अत्याचार और अनेक प्रकार के पापाचार करने वाले व्यक्ति तो मौज उडाते है और सदाचारी, ईमानदार, परोपकारी तथा धर्मात्मा पुरुष कष्ट उठाते रहते है। तो क्या बुरे व्यक्तियों को अपने कुकर्मो का और सज्जनो को अपने सत्कर्मों का फल नही मिलता ?

इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिये कर्मवाद को गहराई से समझने की आवश्यकता है। कर्मों की स्थिति शराव के समान होती है। किसी शराब का नशा जल्दी चढता है और किसी का देर से। इसी प्रकार कर्म भी अपना फल तत्काल प्रकट करते हो, यह आवश्यक नही है। कुछ कर्म ऐसे होते हैं जो अन्तर्मुहूर्त के वाद ही फल देना प्रारम्भ कर देते है। कुछ कर्म ऐसे होते हैं जो कुछ दिन, महीने और बरसो के वाद फल प्रदान करते हैं। किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो इससे भी लम्बा समय व्यतीत होने पर अथवा जन्म जन्मान्तर तक आत्मा के साथ रहते है और समय-समय पर शुभ-अशुभ फल प्रदान

करते रहते है। कर्म सदा छाया के समान आत्मा का पीछा करते रहते हैं और नियत समय पर फल देते है। महाभारत मे भी कहा गया है —

> अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च।
> स्व कालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुराकृतम् ॥

अर्थात्—जैसे फूल और फल किसी की प्रेरणा के बिना ही अपने समय पर वृक्षो मे लग जाते है, उसी प्रकार बंधे हुए कर्म भी अपने फल-भोग के समय का उल्लंघन नही करते।

नास्तिक न कर्म-फल को मानता है और न ही परलोक पर विश्वास करता है। इसलिये उसे किसी भी अनुचित कार्य को करने मे हिचकिचाहट नही होती। यही कारण है कि उसके हृदय मे काम-भोग और ऐश्वर्य-भोग की प्रबल तरंगे उठती रहती हैं। किन्तु भोगो मे कभी तृप्ति नही होती और उसका मन सदा अशान्त और क्षुब्ध बना रहता है। इसके विपरीत, आस्तिक का हृदय प्रशांत और गंभीर सागर के समान क्षोभ रहित रहता है, क्योंकि वह भोगो मे उदासीन होता है और उसकी कामना सासारिक सुखो की प्राप्ति करना न होकर ससार से मुक्त होने की रहती है। अपनी ऐसी भावना के फलस्वरूप ही वह शुभ कर्मो का बंध करता है तथा कालांतर मे कर्म मुक्त हो जाता है। हमारे शास्त्रो मे भी कहा है —

> उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
> भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्— भोगासक्त व्यक्ति कर्म से लिप्त रहता है, अभोगी कर्म से लिप्त नही होता। भोगी ससार मे भ्रमण करता है और अभोगी दुःखो से मुक्त हो जाता है।

क्रियावादी—क्रियावादी होना आस्तिक का चौथा लक्षण है। जो भव्य प्राणी कर्म-बंध को समझ लेता है और कर्म के स्वरूप का निरूपण करता है वही सच्चा कर्मवादी तथा क्रियावादी माना जा सकता है।

जीव के द्वारा जो किया जाता है वही क्रिया कहलाती है। क्रिया कर्म-बंध का कारण बनती है। शुभ क्रियाएँ करने से शुभ कर्मों का बंध होता है और अशुभ अर्थात् पापमय क्रियाएँ करने से अशुभ कर्मों का। तुलसीदास जी का कथन है —

> करम प्रधान विश्व करि राखा।
> जो जस करइ सो तस फल चाखा ॥

क्रियाएँ ही मनुष्य के जीवन को उत्तम या अधम बनाती हैं। आस्तिक और मुमुक्षु व्यक्ति अपनी प्रत्येक क्रिया करते समय विवेक को जागृत रखता है। अविवेक द्वारा की हुई क्रियाएँ अनिष्टकारक और अशुभ कर्मो का बध करती हैं। अतएव महापुरुष वही क्रिया प्रारम्भ करते हैं जिसके द्वारा उनकी आत्मा का हित होता हो। एक पाश्चात्य विद्वान् ने लिखा है .—

"Only the actions of the just smell sweet and blossom in the dust." — शरले

सच्चे मनुष्यो के कार्य ही मधुर सुगध देते हैं, और मिट्टी मे भी खिलते है।

उत्साह लगन और दृढ निश्चय पूर्वक, कल्याण भावना के साथ जो भी कार्य व्यक्ति करता है उसमे उसे असफलता नही मिलती। सफलता की रेखाएँ उन्ही मनुष्यो के कपालो पर अंकित होती हैं, जिनके हृदय मे सच्चाई और विश्वास होता है, जो कर्म क्षेत्र मे कमर कसकर खडे हो जाते हैं तथा जिनकी मानसिक शक्तियाँ दृढ होती हैं। किये जाने वाले कार्य के प्रति अगर व्यक्ति की निष्ठा और एकाग्रता न हो तो वह कार्य सिद्ध नही होता, और होता भी है तो उतना सुन्दर नही होता जितना आतरिक रुचि से किया हुआ कार्य होता है।

स्वामी सहजानन्द एक महान् वैष्णव सत थे। उनका एक शिष्य दर्जी था, जिसका नाम आत्माराम था। एक बार आत्माराम ने अपने गुरुजी को भेंट करने के लिये बडी ही भक्ति और स्नेह पूर्वक एक अगरखा सिया तथा ले जाकर उसे गुरु को समर्पण कर दिया।

सयोगवश भावनगर के महाराज ने उस अँगरखे को देखा। अँगरखा देखकर वे इतने प्रसन्न हुए कि उन्होने उसी समय आत्माराम को बुलाकर अपने लिये भी वैसा ही अँगरखा सी देने का आदेश दिया तथा अँगरखे की सिलाई सौ रुपया देने का वादा किया।

गुरु भक्त दर्जी ने दोनो हाथ जोडकर महाराज से निवेदन किया—"हुजूर, अब तो मुझसे ऐसा दूसरा अँगरखा सीते कदापि नही बनेगा। इस अँगरखे मे तो भक्ति और प्रेम के टाँके पडे हुए हैं। आपके अँगरखे मे डालने के लिये अब ये चीजे मैं कहाँ से लाऊँ? गुरुदेव के लिये मेरी भक्ति अनन्य है, इसीलिये अँगरखा सुन्दर सिला है। आपके लिये मेरे हृदय मे सम्मान है, पर गुरुदेव के प्रति भक्ति। वैसी भक्ति के बिना ऐसा अँगरखा सिलना असम्भव है।"

अपने गुरु के प्रति दर्जी की उत्कट भक्ति देखकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए। उसकी निर्भीकता, सत्य, साहस और लगन की प्रशंसा करते हुए उन्होंने आत्माराम को बहुत इनाम दिया।

कहने का आशय यही है कि व्यक्ति की क्रिया शुभ की प्राप्ति के लिये तो होनी ही चाहिये, साथ ही उसमें व्यक्ति की लगन और दृढ़ता भी होनी चाहिये। बिना लगन और साध्य-प्राप्ति की उत्कट कामना के किसी भी क्रिया में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। बिना विवेक और विचार के की गई क्रियाएँ कोई महत्त्व नहीं रखती। कोल्हू का बैल दिन भर चलने की क्रिया करता है, पागल व्यक्ति भी दिन-रात कोई न कोई क्रिया करता ही रहता है। किन्तु उससे क्या लाभ होता है? उसकी एक भी क्रिया कोई शुभ फल प्रदान नहीं कर सकती।

हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति कोई न कोई क्रिया हर समय करता रहता है। नास्तिक व्यक्ति भी अपने कार्य में संलग्न रहता है और आस्तिक भी। लेकिन दोनों की क्रियाओं में महान् अन्तर होता है। नास्तिक की क्रियाओं के पीछे केवल भौतिक सुखों को अधिक से अधिक प्राप्त करने की कामना होती है। उसकी इच्छाएँ, उसकी आकांक्षाएँ और उसकी अभिलाषाएँ सांसारिक पदार्थों तक ही सीमित होती हैं। इन्हीं वस्तुओं के लिये उसके प्रयास होते हैं। ऐसे पुरुषों के लिये गीता में कहा गया है :—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥
इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥

अर्थात् सैकड़ों अभिलाषाओं की फाँसियों में बँधे हुए, काम और क्रोध में परायण लोग कामभोगों की पूर्ति के लिये धन आदि अनेक पदार्थों का संग्रह करने की चेष्टा करते हैं। वे कहते हैं—मैंने आज यह पा लिया है और अब इस मनोरथ को पूर्ण करूँगा, इतना धन तो जमा किया है, अब इतना और कमाऊँगा।

ऐसी दुर्बुद्धि वाले मनुष्य कभी भी पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर मरण-पर्यन्त बनी रहने वाली चिन्ताओं से घिरे रहते हैं। विषय भोगों में रत रहते हुए सदा उसकी पूर्ति के लिये अन्याय पूर्वक धनादि संग्रह करने की चेष्टा। [illegible] हुए भौतिक पदार्थों के संग्रह [illegible] को निश्चि- [illegible] क्रियाएँ

करते रहते है, जिनसे न केवल उनकी अपनी हानि होती है, प्रत्युत ससार के अन्य प्राणियो के लिये भी वे दुखो का कारण बनती है।

यह सब होता है आत्म-ज्ञान के अभाव के कारण। नास्तिक आत्मा मे विश्वास न रखने के कारण पाप और पुण्य के भेद से अनभिज्ञ रहते है और पाप के प्रवाह मे बहकर अपने मनुष्य जन्म को निरर्थक बना डालते हैं। सासारिक पदार्थों मे आसक्ति होना आत्म-कल्याण के मार्ग मे दीवार खडी कर देना है। जागतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति रहने के कारण नास्तिक नाना प्रकार के सकल्प-विकल्पो मे फसे रहते हैं और नाना भाँति की क्रियाएँ करने रहने पर भी ससार चक्र से मुक्त नही हो पाते। वे कूप-मडूक के समान इस जीवन और इस संसार को ही सब कुछ मानते हैं और पर-पदार्थों से सुख प्राप्ति का अनुभव करते है।

आस्तिक व्यक्ति इससे विपरीत विचारधारा रखता है। वह आत्मा के रहस्य को समझते हैं और उसमे छिपे हुए आनन्द के खजाने को खोज लेते हैं। एक पजाबी कवि ने सच्चे सुख की खोज कर लेने वाले वाले किसी भक्त के भावो को लिखा है —

मंदर मसीतां गुरुद्वारियां च हो आया,
होर बहुत तीर्थां दे चक्कर लगाये ने।
देवियां ते देवते दे ठाकरां नूं पूज-पूज,
किन्नी थाई जाके मैं मत्थे भी घसाये ने।
किंतु घट ही दे विच आनंददा स्रोत दिट्ठा,
हृदय दे विच हरि दर्शन पाया सी।
बाहर दे नजारे सारे फिक्के उक्के लग देने,
रस जो अतुल मैंनूं अंदरो ही आयासी ॥

भक्त कहता है—'सुख की खोज मे मैं बहुत घूमा। न केवल मन्दिर, मस्जिद और गुरुद्वारे मे ही गया वरन अनेको तीर्थों के भी चक्कर लगा आया। अनेक देवी-देवताओ की पूजा की तथा उनके चरणो मे मस्तक झुकाया। किन्तु कही से भी सच्चे सुख की प्राप्ति नही हुई। बहुत चिन्तन-मनन करने पर अन्त मे सुख का स्रोत दिखाई दिया, किन्तु वह कही बाहर नही था। वह अन्दर ही था। आत्मा के अन्दर ही मुझे परमात्मा के दर्शन हुए। परिणाम यह हुआ कि जब अपनी आत्मा मे ही मुझे अतुल आनन्द की प्राप्ति हो गई तो बाहर के सारे दृश्य मुझे निस्सार लगने लगे। किसी भी बाह्य-पदार्थ मे सुख का लश भी मेरे लिये नही रहा।'

भक्त का अनुभव यथार्थ है। सुख की खोज में उसने पूजा, पाठ, नमस्कार और अत्यधिक दौड़-भाग आदि अनेक क्रियाएँ कीं। किन्तु जब तक उसने अपनी आत्मा को नहीं जाना तब तक वे समस्त क्रियाएँ व्यर्थ साबित हुईं। आत्मा को जान लेने पर और उसकी अद्भुत शक्ति को पहचान लेने पर ही आनन्द का सच्चा स्वरूप दिखाई देता है। अर्थात् सच्चे सुख की प्राप्ति होती है। संसार के नश्वर पदार्थों में सुख की खोज करना निरर्थक ही साबित होता है।

प्राणी की क्रियाएँ ही कर्म-बंधनों का हेतु होती हैं अतः भव्य पुरुष अपनी प्रत्येक क्रिया विवेक और ज्ञान के साथ करता है। कहा भी है —

"हतं ज्ञानं क्रिया-शून्यं हताचाज्ञानिनः क्रिया ॥"

क्रिया से रहित ज्ञान जिस प्रकार निरर्थक होता है उसी प्रकार अज्ञानी के द्वारा की गई क्रिया भी निरर्थक होती है।

अज्ञानी अथवा नास्तिक पुरुष आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानता। अतः उसकी दृष्टि भूत और भविष्य से हटकर केवल क्षुद्र वर्तमान तक ही सीमित रहती है। भविष्य से उसे कोई सरोकार नहीं होता। वह वर्तमान के लाभ को ही अपने समक्ष रखता है और उसके लिये उचित-अनुचित में भेद किये बिना अन्याय, अत्याचार और अनाचार पूर्ण काम करता रहता है। नास्तिक का सबसे बड़ा अवगुण तो यह होता है कि वह अपने आपको ज्ञानी समझता है। वह समझता है कि जो कुछ मैं जानता हूँ वही बोध की पराकाष्ठा है और ध्रुव सत्य है। यह भ्रान्ति उसकी दयनीय दशा की द्योतक होती है। अपनी अज्ञानता का ज्ञान भी उसे नहीं होता तब फिर उसे दूर करने की चेष्टा भी कैसे कर सकता है? वह सदा अपने मन की तरंगों में ही बहता रहता है। इन्द्रियों के सततानुसार नाचता से ही सुख का अनुभव करता है।

आस्तिक पुरुष कभी ऐसा नहीं होने देता। वह अपने मन, वचन और काय के अनिष्ट व्यापारों को रोककर आत्मा को शोधन करता है। संसार की समस्त आसुरी शक्ति मिलकर भी आस्तिक को अपने सत्स्वरूप और अपने लक्ष्य से विचलित नहीं कर सकती। वह अपने मन और इन्द्रियों को पूर्ण रूप से अपने नियन्त्रण में ले लेता है। वीर प्रभु ने कहा भी है :—

साहरे हत्थ पाए य मणं पंचिंदियाणि य ।
पावकं च परीणामं, भासादोसं च तारिसं ॥

—सू० कृ० श्रु० १ अ० ८, गा० १७

ज्ञानवान् आस्तिक, अपने हाथों और पैरों की हलन-चलन क्रिया को,

मन की चपलता को, विषयो की ओर जाती हुई पाँचो इन्द्रियो को तथा पापोत्पादक विचार और भाषा सम्बन्धी समस्त दोषो को रोक लेता है।

आस्तिक पुरुष मन की मौज पर नही चलता तथा कोई भी क्रिया ऐसी नही करता जिससे किसी अन्य प्राणी को कष्ट हो, या स्वय उसकी आत्मा पाप कर्म के बन्ध से बोझिल हो। वह जो कुछ कहता है सोच समझ कर कहता है और कहने के बाद दृढता पूर्वक उस पर स्थिर रहता है। किसी भी प्रकार का उपसर्ग और परीषह क्यो न आ जाय, वह अपने पथ का परित्याग नही करता तथा अपने ध्येय को प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील बना रहता है। उसकी अन्तरात्मा प्रतिपल उसे सजग करती हुई कहती है :—

ध्येय पाने को स्वयं पैर बढ़ाना होगा,
पथ के पत्थर को स्वयं दूर हटाना होगा।
दूसरा कौन तुझे राह सु ाएगा ?
अपने ही मन का दीप तुझे जलाना होगा।

मनुष्य अपनी बुद्धि, बल और साहस से ही अपने ध्येय को प्राप्त कर सकता है। जब तक वह अपनी आत्मा को तथा आत्मा मे छिपी हुई अनत शक्ति को नहीं पहचान लेगा तब तक अन्य कोई भी बाह्य शक्ति उसे अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर नही कर सकती।

भगवान् महावीर के पास एक बार इन्द्र आया और अनन्त सत्य की शोध के लिये कठोर साधना करते हुए भगवान् से बोला—'प्रभु ! अज्ञानी व्यक्ति आपको समझ नही पाते और समय-समय पर आपको तिरस्कृत तथा अपमानित करते हैं। अत: आज्ञा दीजिये कि यह सेवक निरन्तर आपकी सेवा मे बना रहकर आपको समस्त परेशानियो और तकलीफो से बचाता रहे।'

भगवान् महावीर ने कहा—'वत्स, मुझे अपने आप ही प्रयत्न करने दो। साधना का मार्ग अपने पैरो से ही तय किया जा सकता है, किसी अन्य की सहायता से नही। अगर तुम्हे सेवा करने की इच्छा है तो उन प्राणियो की करो जिन्हे सेवा को आवश्यकता है।'

कहने का अभिप्राय यही है कि मुमुक्षु साधक अपनी आत्म-शक्ति को पहचानकर सज्ञान क्रिया करे तो ही उसकी साधना उसके ध्येय की प्राप्ति करा सकती है।

क्रियाएँ शुभ और अशुभ दो प्रकार की होती है। दोनों ही प्रकार की क्रियाओ मे मन, वचन और शरीर सहायक होते है। इन तीनो योगो के द्वारा

मनुष्य अशुभ क्रियाएँ करता है और इन्हीं तीनों के द्वारा शुभ क्रियाएँ भी की जा सकती हैं। चन्दन का लकड़ी वही होती है किन्तु मनुष्य उसे जलाकर कोयला बना लेता वह मिट्टी के मोल बिकता है, और अगर उसका तेल निकाले तो वह कई गुनी कीमत अधिक प्राप्त कर सकता है। चन्दन की लकड़ी के समान ही आत्मा है। नास्तिक पुरुष जीवन का अधिक से अधिक आनन्द उठाने के प्रयत्न में अनैतिकता, असत्यता, तथा अप्रामाणिकता को अपनाता है तथा मन, वचन और शरीर के योग से अशुभ क्रियाएँ करता हुआ आत्मा को मलिन बना लेता है। दूसरी ओर आस्तिक पुरुष इन्हीं तीनों योगों की सहायता से शुभ क्रियाएँ करता हुआ आत्मा को निरंतर पवित्र बनाता चला जाता है। शुभ क्रियाएँ ही आत्मा को अशुभ से शुभ की ओर तथा शुभ से शुद्ध की ओर ले जाती है।

अशुभ, शुभ और शुद्ध को एक छोटे से उदाहरण से समझा जा सकता है जैसे एक गहरी झील है। उसके एक ओर घोर बियाबान जंगल है और दूसरी ओर सुरम्य वाटिका। झील में एक किश्ती है जो यात्रियों को एक किनारे से दूसरे किनारे पर पहुँचाती है। झील का वह किनारा, जिस ओर हिंसक जन्तुओं से भरा हुआ वन है, उसे हम अशुभ या संसार कह सकते हैं। वन के हिंसक जन्तुओं के समान ही संसार में विषय, कषाय और राग-द्वेष आदि जन्तु हैं जो आत्मा पर प्रतिक्षण हमला करने के लिये तैयार रहते हैं।

झील में जो किश्ती है वह शुभ या पुण्य क्रियाएँ हैं। इन्हीं के द्वारा आत्मा निर्जरा करती हुई अगले किनारे तक पहुँचती है जिसे हम शुद्ध दशा या मुक्ति कहते हैं। शुभाशुभ क्रियाओं से आत्मा का मुक्त हो जाना ही उसका शुद्धावस्था प्राप्त करना है। उस शुद्ध अवस्था को प्राप्त करने के लिये अशुभ क्रियाओं का त्याग करना आवश्यक है, किन्तु शुभ क्रियाएँ जन्म-मरण की शृंखला समाप्त होने के साथ समाप्त हो जाती हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे किश्ती झील के अगले किनारे पर यात्री को पहुँचा देने पर छूट जाती है।

आस्तिकता से मन में प्रगाढ़ श्रद्धा होती है। आस्तिक पुरुष वही हो सकता है जो देव, गुरु और धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखता हो। नास्तिकों की सबसे बड़ी दलील यह होती है कि धर्म नामक तत्त्व संसार में किसे मानें? संसार में तो अनेकानेक परस्पर विरोधी मत और पंथ हैं तथा सभी के धर्म प्रवर्तक अपने-अपने धर्म को सच्चा मानते हैं। अगर धर्म सच्चा होता तो सभी की मान्यता एक सी समान होती। इसके अलावा देवी देवता भी संसार में अनेक हैं और गुरु तो गली-गली में फिरते हुए दिखाई देते हैं। कोई

जटाधारी है, कोई भस्म रमाने वाला और कोई भगवा वस्त्र पहने हुए अपने को गुरु कहलवाता है। ऐसी दशा मे श्रद्धा किस पर की जाय ? विवेक रहते तो यह सभव नही हो सकता।

बधुओ ! इस विषय को जरा गभीरता से समझना होगा। आश्चर्य की बात है कि ससार के देवो, धर्मों और गुरुओ को परस्पर विरोधी देखकर नास्तिक किसी पर श्रद्धा नही करते, किन्तु वे अपने सिद्धात पर तो श्रद्धा करते हैं ? क्या उनके मत का दूसरे मतो के साथ विरोध नही है ? क्या परस्पर विरोधी मतो के अन्तर्गत उनका भी मत नही है ? फिर वह अपने मत पर श्रद्धा क्यो करते है ? क्या उन्होने अपने विवेक से, तर्क की कसौटी पर अपने मत को कस लिया है ? यदि ऐसा है तो उन्हे मानना पडेगा कि मनुष्य अपने विवेक द्वारा परस्पर विरोधी मतो, देवो और गुरुओ मे से किसी का चुनाव कर सकता है और जब चुनाव कर सकता है तो उनकी यह दलील स्वय खडित हो जाती है कि विवेक रहते यह सभव नही हो सकता।

किस मत मे सच्चाई है और किस मत के देव, गुरु तथा धर्मग्रन्थ सच्चे है, इसको समझने के लिये तो गहराई मे जाना पडेगा। अतएव मैं सक्षेप मे आपको बताना चाहती हूँ कि कौन-सी कसौटी पर कसने से सच्चे देव, गुरु और धर्म की परीक्षा की जा सकती है ?

देव—सच्चा देव वही है जिसकी आत्मा पूर्णतया निर्मल, निर्विकार हो गई हो। जिसने आत्मा के समस्त दोषो को दूर करके शुद्ध दशा प्राप्त कर ली हो। तथा जो मोह और अज्ञान से अतीत होकर वीतराग एवं सर्वज्ञ हो गया हो।

इस कसौटी पर जब परीक्षा की जाएगी तो मालूम हो जाएगा कि जो देव स्त्री के मोह मे ग्रस्त है वे वीतराग न होने के कारण देव की कोटि मे न आ सकेंगे। तथा जो देव त्रिशूल, सुदर्शन चक्र आदि शस्त्रो को धारण किये हुए हैं वे शस्त्रधारी होने से वीतराग नही माने जा सकेंगे। क्योकि उनका शस्त्रो को धारण करना ही बताता है कि वे किसी से भयभीत है या किसी को जीतने की इच्छा रखते है। अन्यथा वे शस्त्र रखते ही क्यो ? इसी प्रकार जिनके वचन प्रमाण से बाधित है, पूर्वापर विरोधी और हिसा के प्रतिपादक हैं तथा सत्य के समस्त दृष्टिकोणो को स्पर्श नही करते वे सर्वज्ञ नही हो सकते।

धर्म—धम की परीक्षा भी इसी प्रकार की जा सकती है। जो सर्वज्ञ और वीतराग पुरुषो के द्वारा उपदिष्ट हो, अहिसा, सयम और तप का विधान करने वाला हो, जिसमे दया, करुणा तथा सदाचार का विधान किया गया हो

और जिसमें सत्य, ब्रह्मचर्य, अचौर्य तथा अपरिग्रह आदि को उपादेय बतलाया गया हो वही सच्चा धर्म है।

गुरु—गुरु पद का अधिकारी वही महापुरुष हो सकता है जिसने पूर्ण रूप से संयम पालन करने की प्रतिज्ञा ले ली हो और जो दृढ़तापूर्वक सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आदि का पालन करता हो। बाह्य वेश के कारण अथवा मिथ्या आडंबर के प्रदर्शन के कारण कोई व्यक्ति गुरु नहीं माना जा सकता। स्वाध्याय, ध्यान, आत्मचिंतन आदि में तल्लीन रहने वाला तथा यतनापूर्वक चलने, बोलने, आहारग्रहण करने और किसी भी प्रकार की असावधानी से जीव हिंसा न हो जाय इसका ध्यान रखनेवाला साधक ही सच्चा गुरु माना जा सकता है। सच्चा गुरु प्रतिक्षण इन्द्रियों और मन को जीतने के लिए प्रयत्नशील रहता है, जगत के प्राणियों को सन्मार्ग पर चलने का उपदेश देता है, अपनी अमृतमय वाणी से धर्म का मर्म समझाता है और अपने अन्तःकरण में दिव्य भावनाओं की ज्योति को जगाए रखता है। ऐसे महान् लक्षणों से युक्त पुरुष ही गुरु पद की प्राप्ति का अधिकारी और जगद्वंद्य बनता है।

शास्त्र—शास्त्र वही सच्चा है जो आप्तप्रणीत हो, किसी युक्ति से बाधित न हो सकता हो, प्रत्यक्ष और अनुमान का विरोधी न हो, तत्त्व का प्रदर्शक हो तथा जिसमें हिंसादि पापों का विरोध और माध्यस्थ भाव का समर्थन हो।

इन समस्त कसौटियों पर कसने पर जो देव, धर्म, गुरु और शास्त्र खरे उतरें उन्हें सच्चा मानना चाहिये। और इनके बताए हुए मार्ग पर निःशंक होकर चलना चाहिये। हमारे मन में नित्य यह भाव रहना चाहिये —

अरिहंतो मह देवो सुसाहुणो गुरुणो, जिणपण्णत्तं धम्मं।

अर्थात्—समस्त कर्म-शत्रुओं का जिन्होंने नाश कर दिया है वे मेरे देव हैं, सुसाधु गुरु हैं और सर्वज्ञों के द्वारा प्रतिपादित धर्म मेरा धर्म है।

बन्धुओ! आशा है आपने नास्तिकता और आस्तिकता में रहने वाले भेद को समझ लिया होगा। नास्तिकता जीवन का दूषण है और आस्तिकता जीवन का भूषण है। हमारे धर्मशास्त्र तो नास्तिकता को त्याज्य और निन्दनीय बताते ही हैं, विचारशील आधुनिक विद्वान् भी इसकी भर्त्सना करते हैं। एक पश्चिमी दार्शनिक का कथन है —

'They that deny a God, destroy man's nobility, for clearly man is of kin to the beasts by his body, and if he be not of kin to God by his spirit he is a base and ignoble creature.

—बेकन

अर्थात्—जो लोग नास्तिक हैं वे मनुष्य की अच्छाई को नष्ट करत हैं, क्योकि शारीरिक दृष्टि से तो मनुष्य पशुओ से सम्वन्धित है और यदि उसकी आत्मा, परमात्मा से विमुख है तो वह वडा दुष्ट और निन्दित प्राणी वन जाता है।

संत तुलसीदासजी ने भी परमात्मा से विमुख रहने वाले व्यक्तियो के लिये कहा है :—

पशु घडन्ता नर घड्यो, भूल्यो सीग न पूँछ।
तुलसी प्रभु के भजन विन धृग दाढी धृग मूँछ॥

वास्तव मे, आत्मा परमात्मा की उपेक्षा करने वाले तथा जीवन को केवल खाने, पीने और मौज उडाने मे ही व्यतीत करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति पशु के समान हैं। अपने आचरण के लिये पशु फिर भी सम्य हैं, क्योकि उनको कुदरत ने गहरी विचारशक्ति नही दी है, किन्तु असीम विचार शक्ति और अनन्त आत्म-बल होते हुए भी जो पुरुष उनका सदुपयोग नही करते उनके लिये क्या कहा जाय ? वे तो पशु से भी गये वीते है।

ससार विचित्रताओ का आगार है। यहाँ परम पुण्यवान धर्मात्मा भी है और महापापी भी है। कही सदाचार की सौरभ है तो कही दुराचार की तीव्र दुर्गन्ध। कही ज्ञान का उज्ज्वल आलोक है, और कही अज्ञान का गहन अधकार। कही वासनाओ का नग्ननृत्य है और कहीं सयम व साधना की शुभ्रता। मानव इन परस्पर विरोधी तत्वो मे से चाहे जिसे ग्रहण कर सकता है। नास्तिक व्यक्ति पाप, दुराचार अज्ञान और वासना आदि को अपने लिये चुनता है तथा आस्तिक व्यक्ति आत्मा का उत्थान करने वाले धर्म, सदाचार, ज्ञान, सयम, तप, त्याग आदि गुणो को ग्रहण करता है। नास्तिक की दृष्टि अधोगामिनी होती है और आस्तिक की उर्ध्वगामिनी होती है। नास्तिक की दृष्टि क्षुद्र और सकुचित होती है जो इस मर्त्यलोक से परे नही जाती। किन्तु आस्तिक की दृष्टि अत्यन्त विशाल और विस्तीर्ण होती है जो इस ससार से ऊपर उठकर मोक्ष-स्थान तक पहुँचती हैं।

अभिप्राय यही है कि आत्मा, परमात्मा तथा सच्चे देव, गुरु और धर्म पर विश्वास रखने वाला आस्तिक ही मन और इन्द्रियो को वश मे रखते हुए सच्ची साधना कर सकता है तथा स्व और पर को कल्याण करने मे समर्थ हो सकता है। अन्यथा जिन्दगी तो प्रत्येक व्यक्ति पूरी कर ही लेता है चाहे वह अमीर हो या गरीब हो, हिन्दू हो या मुसलमान हो। किन्तु अन्त मे पुण्य की

पूँजी पल्ले में बांधे बिना ही पश्चात्ताप करता हुआ इस संसार से चल पड़ता है, यह कहते हुए —

> तुम फातिहा भी पढ़ चुके हम दफन भी हुए।
> बस खाक में मिला चुके चलिये सिधारिये।

—आतिश

बन्धुओ ! अगर जीवन के अन्त में आपको इस प्रकार पश्चात्ताप नहीं करना है तो समय रहते ही चेतना होगा। नास्तिकों के समान इस दुर्लभ जीवन को कौड़ियों के मोल न बहाकर चिन्तामणि रत्न समझते हुए अपनी इच्छित वस्तु 'मुक्ति' को हासिल करना होगा। किन्तु यह तभी होगा जब आप सच्चे आस्तिक बनेंगे।



आस्तिक वही है, जिसे अपनी आत्मा पर
और आत्मा की अनन्त शक्तियो
पर विश्वास है। आत्म-विश्वास
से हीन व्यक्ति को मैं
नास्तिक मानता हू।

—स्वामी विवेकानंद

★ ★

७

साधक

बंधुओ !

आज का प्रश्न है—"साधक कैसा हो ?"

मानव-जीवन साधना का जीवन है। हम मनुष्य को या साधक को एक ही मानते हैं। किन्तु शरीर का नाम साधक नहीं है और आत्मा का नाम भी साधक नहीं है। साधक वे भावनाएँ हैं, जिनमें तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिए जिज्ञासा है, कर्म-बंधनों से मुक्त होने की अभिलाषा है और जिनका लक्ष्य अक्षय सुख की प्राप्ति है।

साधक हम हैं, आप हैं और समाज का प्रत्येक मनुष्य है। किन्तु सबके साध्य भिन्न-भिन्न हैं। कोई प्रेय का साधक है और कोई श्रेय का। प्रेय मनुष्य के मन और इन्द्रियों को प्रिय लगता है और श्रेय आत्मा को प्रिय होता है। प्रिय दोनों ही हैं किन्तु दोनों की साधना करने पर उनसे प्राप्त होने वाले परिणामों में अतीव आसमान का अन्तर है। प्रेय के मार्ग की समस्त भौतिक वस्तुएँ आ जाती हैं जिनसे शारीरिक सुख मिलते हैं और जिनसे निज जीवन के

साधना करने से आत्मा कर्म-बंधनो में और भी जकड जाती है। तथा श्रेय भोगोपभोग के समस्त पदार्थो से आत्मा को विरक्त करके आत्मोत्थान मे महायक गुणो को जगाता है। वह आत्मा को कर्म बंधनो से मुक्त कर देता है। कहा भी है :—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते
उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः
ततो श्रेय आददानस्य साधुभवति,
हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते।

अर्थात्—श्रेय और है, तथा प्रेय और ही हैं। वे दोनो ही मनुष्य को बाँधते हैं। किन्तु उन दोनो मे से श्रेय को ग्रहण करनेवाला आत्मा को उन्नत बनाता हैं और प्रेय को वरण करने वाला पुरुषार्थ से पतित हो जाता है।

अज्ञ पुरुष बाह्य भोगो के पीछे लगे रहते हैं और उसके परिणाम स्वरूप मृत्यु के सर्वत्र फैले हुए पाश मे जा गिरते है, किन्तु विवेकी और श्रेय-प्रेमी मनुष्य प्रेय से मुँह मोडकर मुक्त अवस्था को प्राप्त होते हैं। ऐसे साधक संसार मे रहकर भी संसार मे लिप्त नही होते। रामकृष्ण परमहंस ने इसी भावना को अत्यन्त सुन्दर तरीके से व्यक्त किया है। कहा है :—

"नाव जल मे रहे तो कुछ हर्ज नही परन्तु नाव मे जल नही रहना चाहिये। इसी प्रकार साधक चाहे ससार मे रहे, पर उसके मन मे संसार नहीं रहना चाहिये।"

कितना सुन्दर उदाहरण है? मन मे ससार के न रहने से तात्पर्य है, सामारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति का न रहना। नश्वर भौतिक पदार्थों की चाह कभी नही मिटती? प्रत्युत जितना उनका उपभोग किया जाय बढती चली जाती है :—

"The thirst of desire is never filled nor fully satisfied."

—सिसरो

अर्थात्—इच्छा की प्यास कभी नही बुझती, न पूर्ण रूप से संतुष्ट होती है।

सच्चा साधक वही है जो अनासक्त होता है और अपनी मनन तथा विवेक, इन दोनो शक्तियों के द्वारा श्रेय की पहचान करके उसे ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। प्रेय के आकर्षण से अपने को बचाते हुए श्रेय को ग्रहण करना असभव नही पर कठिन अवश्य है। संसार मे क्या सार है और क्या असार, इसकी पहचान करना विरले साधको के लिये ही सभव है। जीवन के इस पार सदा प्रेय-प्रेमी कहता है —

"संसार को असार कहने वाला कहीं भी सार प्राप्त नहीं कर सकता।"

किन्तु जीवन के उस पार पहुँचा हुआ सन्त कहता है:—

"जिसने संसार को असार देखा, उसने सार पा लिया।"

इन दो विरोधी बातों में से सत्य की खोज निकालना और अपने विवेक द्वारा चिन्तन की कसौटी पर रख कर सत्य को समझना सच्चे साधक के लिये ही सम्भव है। बिना चिन्तन-मनन के मनुष्य भटक जाता है, और असत्य को सत्य मान लेता है। श्रेय-साधक विचार करता है—संसार क्या है? यह कैसा है? संसार का स्वरूप कैसा है? यह मधुर है या कटु? महान् सन्त भर्तृहरि को भी संसार के विषय में यह कहना पड़ा था—'पता नहीं, संसार में यह विष-रूप है कि क्या अमृत-रूप है? उन्होंने कहा है —

> क्वचिद्वीणावाद, क्वचिदपि च हा-हेति रुदितम्,
> क्वचिद् नारी रम्या, क्वचिदपि च जराजर्जरतनु.।
> क्वचिद्विद्वद्गोष्ठी क्वचिदपि च सुरामत्त-कलहः,
> न जाने संसारे किममृतमय किं विषमयम्।
>
> —भर्तृहरि

अर्थात्—कहीं तो मधुर वीणावादन वातावरण में आनन्द भर रहा है, और कहीं हाहाकार करता हुआ रुदन हृदय को व्यथित कर रहा है। कहीं अपार यौवन की अभिसारिणी नारी अपनी रूप छटा से लोगों को मुग्ध कर रही है, और कहीं [illegible] जर्जर तन वाला वृद्ध पुरुष जीवन के क्षण गिन-गिन कर गुजार रहा है। कहीं पर विद्वानों की गोष्ठी साहित्य का रसास्वादन कर रही है, तो कहीं मद्यप [illegible] के कारण [illegible] जीवन में [illegible] रहे हैं। [illegible] नहीं जाता कि इस संसार में क्या अमृतमय है और क्या विषमय है।

विचार और कर्म—[illegible] को [illegible] कि [illegible] संसार के [illegible] अनुभव [illegible] है [illegible] और [illegible] पर उसने [illegible] और [illegible] दोनों का उचित समन्वय करते हुए [illegible]। [illegible] और [illegible] दोनों ही इस [illegible] में [illegible] हैं, साधक है।

[illegible] विचार और [illegible] दोनों में [illegible] उनकी [illegible] इस विषय में [illegible] का [illegible] कहना है [illegible]

"Thought which is not meant to lead to action has been called an abortion, action which is not based on thought is chose and confusion."

अर्थात्—जो विचार कार्य-रूप मे परिणत नही होता, उसकी गर्भपात से तुलना की गई है। और उस कर्म की, जो विचार पर आश्रित नही है, अधेर-खाते और अराजकता मे गिनती है।

नेहरू जी के ये विचार राजनीति और धर्म नीति दोनों में ही समान महत्व रखते हैं। इस विषय मे भारतीय चिन्तक पर्याप्त मतभेद रखते हैं। कुछ विचारक कहते हैं, जीवनोत्थान के लिये केवल उच्च विचार आवश्यक है। ब्रह्म को जान लेने तथा आत्मतत्त्व को समझ लेने मात्र से ही माया के बंधन टूट जाते है और वही मुक्ति है। आचार का कोई महत्त्व नही।

कुछ विचारकों का कथन है जीवन को पवित्र बनाने के लिये केवल आचार आवश्यक है, क्रिया करने की ही आवश्यकता है। पूजा, भक्ति, जप, तप आदि करना ही मुक्ति का मार्ग है। उनके मत से तो मुक्ति और भी सरल है। वे उदाहरण देते है —

महापापी अजामिल, जिसके हृदय मे जीवन के अन्त तक, पवित्र विचार की एक भी लहर नही आई, अन्त समय मे अपने पुत्र 'नारायण' का नाम लेकर मुक्त हो गया और इसी प्रकार एक गणिका, जो अपने तोते को सिर्फ बोलना सिखाने के लिये ही 'राम-राम' उच्चारण किया करती थी, अन्त मे स्वर्ग चली गई।

ऐसा चिन्तन और विचारणा जैन संस्कृति की साधना मे उपयुक्त नहीं लगती। यहाँ तो कहा गया है :—

"ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः"।

अर्थात्—ज्ञान और क्रिया से मोक्ष प्राप्त होता है।

"न शब्दशास्त्राभिरतस्य मोक्ष"

—आपस्तम्बस्मृति

अर्थात् जो केवल शब्द-शास्त्र का ही पठन-पाठन करता रहता है, और चारित्र की दृष्टि मे शून्य है उसे मोक्ष की प्राप्ति होना सम्भव नही।

पण्डित और साधक मे महान् अन्तर हो सकता है, पंडित जानता बहुत है, किन्तु करता कुछ नही। साधक भले ही जानता कम है, पर करता अधिक है। मुमुक्षु साधक की साध तभी पूरी हो सकती है जब वह ज्ञान और क्रिया, दूसरे

एकता में विचार और आचार दोनों के सुमेल से साधना पथ पर बढ़े। साथ ही अपने हृदय को सरल तथा जिज्ञासापूर्ण बनाए रखे। सरलता साधक के हृदय का एक अनुपम गुण है। सरल हृदय में ही धर्म का निवास हो सकता है कहा भी है :—

"सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।"

अर्थात्—सरल और पवित्र हृदय में ही धर्म स्थिर रहता है।

सरलता—अपने सात्त्विक आचरण में बनावट और आडम्बर को स्थान नहीं देने वाला ही सच्चा साधक है। सरलता ही सत्य को ग्रहण कर सकती है। यह आत्मा का सहज और स्वाभाविक गुण है। इसमें कोई बाहरी मिलावट नहीं होती। प्रकृति की समस्त वस्तुएँ क्यों सुन्दर होती हैं? क्योंकि वे सब स्वाभाविक होती हैं। उनमें बनावट नहीं होती। वे जैसी हैं, वैसी ही दिखाई देती हैं अपने को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाना नहीं चाहती और इसीलिए जब हम प्रकृति की गोद में अपने आपको डाल देते हैं, हमारा मन प्रसन्न और सन्तुष्ट होता है। सरल हृदय साधक ही अपने नैतिक बल और बुद्धि बल को बढ़ाकर ऊँचाई की ओर अग्रसर हो सकता है। सरलता अहम् का नाश करती है। ईश्वर और मनुष्य के बीच में, अथवा परमात्मा और आत्मा के बीच में अहम् ही एक ऐसा पर्दा है, जो मनुष्य को ईश्वर से अथवा आत्मा को परमात्मा से भिन्न बनाए रखता है। जिस साधक ने इसका नाश कर दिया उसकी आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं रहा। किसी ने कहा है :—

दिया अपनी खुदी को जो हमने मिटा,
वह जो पर्दा सा बीच में था न रहा।

साधक की प्रत्येक क्रिया में सरलता और सचाई होना आवश्यक है। तभी वह सही अर्थों में साधक कहला सकता है। सरलता के बिना साधक की साधना सफल नहीं हो सकती। कपटी और मायाचारी व्यक्ति साधना का दिखावा भले ही करता रहे और लोगों को भुलावे में डालकर अपनी प्रामाणिक साधना का दिखावा करता रहे, किन्तु इससे उसकी आत्मा को कुछ भी लाभ नहीं होता और जन्म-जन्मान्तर तक भी वह कर्म-बन्धनों से छूट नहीं सकेगा। ऐसा साधक परमात्म पद पाना तो दूर, उसके निकट भी नहीं पहुँच सकेगा। यही बात कबीर [illegible] और [illegible] शब्दों में कही है —

कै आवै हरि से मिलूँ, तो सब छाड़ो आस।
हरि दिल साँचे ऊजला, साँचा बसो निवास॥

ईसा ने [illegible] अपने [illegible] में कहा है— [illegible] के [illegible] और [illegible] [illegible] का दिखावा करते हैं [illegible] के [illegible]

[illegible] इन लोगो के विषय मे कहते थे—"ये सब लोग गणिका से भी [illegible] हैं। कम से कम गणिका अपने बुरे कार्य को छिपाती तो नही। [illegible] दंभ करने वाले व्यक्ति धार्मिक होने का दिखावा करते हैं [illegible] हृदय मे हलाहल विष भरा है। ऐसे व्यक्ति पापो का उपार्जन करने के अलावा और क्या कर सकते हैं।" जैन शास्त्र मे भी कहा गया है'—

पूयणट्ठा जसोकामी, माण-सम्माणकामए,
बहुं पसवइ पावं, मायासल्लं च कुव्वई।

—दशवैकालिक

अर्थात्—जो पूजा, यश और सन्मान का अर्थी होता है वह अनेकानेक पापो का उपार्जन करता है और माया का जाल रचता है।

कहने का तात्पर्य यही है कि मायावी साधक धर्म मे गति नही कर सकता, क्योंकि माया वक्र गति वाली है, और धर्म सरल-सीधा है। धर्म मे गति सरल हृदय वाले की ही हो सकती है। भगवान महावीर ने गौतम को निष्कपटता का परिणाम समझाया है'—

"अज्जवयाए काउज्जुययं, भावज्जुययं,
भासुज्जुययं, अविसवायणं जणयइ।"

—उत्तराध्ययन

अर्थात् निष्कपटता से काय की, भाव की और भाषा की सरलता उत्पन्न होती है। जहाँ सरलता है वहाँ किसी प्रकार का विसवाद नही होता।

मन वचन और काय से सरल रहने वाला साधक ही इस लोक मे श्लाघनीय जीवन व्यतीत कर सकता है। तथा अपनी आत्मा को न ठगते हुए बाह्य एव आभ्यंतर विशुद्ध धर्म का पालन कर मुक्ति को प्राप्त करने मे समर्थ होता है।

जिज्ञासा—साधक का अग [illegible] ज्ञासा है [illegible] को उत्कठा भी कहा जा सकता है। साधक [illegible] जीवन [illegible] समझने की, आत्मा और परमात्मा [illegible] करने की अभिलाषा होनी चाहि[illegible] प्राप्त नही कर सकता। मह[illegible]

"जिज्ञासा के वि[illegible] हृदय-मथन स[illegible]

जिज्ञासा ही सत्य को [illegible] पहचाना जाता है। जिज्ञास[illegible] पदार्थो मे भिन्नता नही कर [illegible]

अपनी उत्कंठा का त्याग कर देता है तो ज्ञान की दृष्टि से कोरा ही रह जाता है। कबीर के शब्दों में —

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ।
मैं बपुरा बूडन डरा, रहा किनारे बैठ॥

डूब जाने के डर से, पानी मे प्रवेश न करने वाला व्यक्ति जिस प्रकार समुद्र मे रहने वाले रत्नो को नही पा सकता, उसी प्रकार असफल हो जाने के डर से जो व्यक्ति सत्य को समझने का प्रयत्न नही करता वह जीवन और जगत के रहस्य को नही जान सकता, वह नाममात्र का साधक बनकर रह जाता है। जिज्ञासा बुद्धि को तीव्र बनाती है और सत्पथ का ज्ञान कराती है। एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है —

"Curiousity is one of the permanent and certain characteristic."

— सेमुअल जान्सन

अर्थात्—जिज्ञासा तीव्र बुद्धि का एक स्थायी और निश्चित गुण है।

जिज्ञासु साधक ही अपनी महत्वाकाक्षाओ को पूरी कर सकता है। महत्वाकाक्षा का अर्थ है, अपनी वर्तमान स्थिति से ऊँचा उठने की इच्छा। ससार मे कोई भी व्यक्ति ऐसा नही जो अपनी स्थिति से श्रेष्ठ स्थिति मे जाने की इच्छा न रखता हो। गरीब अमीर बनने की, मूर्ख विद्वान हो जाने की और बीमार जिस प्रकार स्वस्थ होने की आकाक्षा रखता है, उसी प्रकार साधना पथ-का पथिक भव-भ्रमण से मुक्त होने की महत्वाकाक्षा रखता है। किन्तु उसकी महत्वाकाक्षा तभी फलीभूत हो सकती है, जब वह अपनी साधना मे प्रयुक्त होने वाले साधनो के औचित्य और अनौचित्य को अपनी तीव्र जिज्ञासा से समझ ले। साधक को चाहिये कि वह आत्मा के स्वभाव का कर्म-बधन के कारणो का तथा उन्हे क्षीण करने के अमोघ साधन रूप ज्ञान, दर्शन एव चारित्र के गम्भीर रूप का अध्ययन करे। यह सब जिज्ञासा से ही जाना और समझा जा सकता है। अगर साधक मे वस्तु तत्त्व को समझने की उत्कठा और उत्साह नही होगा तो वह कभी भी साधना के सही मार्ग को प्राप्त नही कर सकेगा। अदम्य उत्साह होने पर ही वह परम दुर्लभ मोक्ष-धाम की ओर अग्रसर हो सकता है। उर्दू का एक शायर बुलबुल को उत्साह दिलाता हुआ कहता है —

न शाखे गुल ही ऊँची है,
न दीवारे-चमन बुलबुल।
तेरी हिम्मत की कोताही,
तेरी किस्मत की पस्ती है।

शायर की यह उक्ति साधक के लिये भी लागू होती है। अगर साधक मे तीव्र उत्कठा और साहस है तो असख्य योजन की ऊँचाई पर लोक के अग्रभाग मे स्थित सिद्ध-स्थान को वह एक समय मात्र के काल मे ही प्राप्त कर सकता है। 'समय' का प्रमाण सभवत आपको ज्ञात नही होगा। 'अनुयोग द्वार सूत्र' मे बताया गया है— एक शक्तिशाली नौजवान जुलाहा किसी जीर्ण वस्त्र को तेज झटके से विदीर्ण करे। उस समय वस्त्र का एक धागा टूटने मे जितनी देर लगती है उसमे ही असख्य समय बीत जाते हैं।

इस उदाहरण से आप समझ गए होंगे कि समय कितना स्वल्प है। किन्तु साधक अपनी आत्मा की असीम शक्ति से एक समय मात्र के स्वल्प काल मे भी सिद्धिक्षेत्र को प्राप्त कर सकता है। उच्च साधना के द्वारा वह इस जीवन मे भी अलौकिक शक्तियो का उपार्जन करके असंभव को संभव और असाध्य को साध्य बना सकता है।

उच्चाभिलाषा :—उच्चाभिलाषा साधक का एक और विशेष गुण है। इसमे निरंतर ऊपर उठने का भाव निहित है। जिस आशा या कामना से प्रेरित होकर मनुष्य उचित अनुचित का विवेक त्यागकर भले और बुरे, सभी कर्म करने को उद्यत हो जाता है, वह उच्चाभिलाषा नही कही जा सकती। उच्चाभिलाषी का शक्ति-स्रोत आत्मिक है। आत्मा के अंदर से ही वह प्रवाहित होता है और आत्मा को निरंतर शक्तिशाली बनाता हुआ उसे लौकिक सुखो और दुखो से ऊंचा उठाकर लोकोत्तर या अक्षय सुख का भागी बनाता है।

उच्चाभिलाषी साधक का साध्य भी अत्यंत उच्च और दिव्य होता है। भौतिक सुख और ऐश्वर्य उसकी दृष्टि मे कोई महत्व नही रखते। सम्पूर्ण मन और आत्मा की शक्ति से वह ऊँचा उठना चाहता है और ऊँचाई मुक्ति-पद के अलावा और कुछ नही होती। उच्चाभिलाषा रखने वाले साधक की आत्मा सासारिक चिन्ताओ, उत्पीडनो और विवशताओं से मुक्त होने के लिये छटपटाती रहती है। उसके हृदय मे उन्मुक्ति की चाह इतनी प्रबल हो उठती है कि प्रतिक्षण उसका मन यही कहता है —

"कब रुचि सौं पीवैं दृग चातक,
बूँद अखयपद घन की।
कब शुभ ध्यान धरौं समता गहि,
करूँ न ममता मन की।
दुविधा कब जहै या मन की।

अर्थात्—न जाने कब वह समय आएगा जब मेरे नेत्र रूपी चातक अक्षय

यह रूप धन की अमृतमयी बूँदों का परम तृप्ति के साथ रसास्वादन करेंगे ? कब आएगा वह समय, जब मेरा मन निराकुल होकर मोक्ष-पद की प्राप्ति के लिये अहर्निश चिन्तनशील रहेगा ? वह शुभ घड़ी कब आएगी, जब मेरी आत्मा में समता भाव जागृत होगा और मेरा चिन्तन आत्म-विशुद्धि की ओर अग्रसर होगा ? मुझे कब ऐसी अवस्था प्राप्त होगी जब मेरे मन में शरीर के प्रति लेश मात्र की ममता न रह जाएगी।

ऐसी उच्च अभिलाषा को ही सजोये साधक अपनी साधना करता है। आशा जब बलवती होती है तो निराशा हृदय में नहीं फटक पाती। आशा उज्ज्वल आलोक है और निराशा मन का अन्धकार। जहाँ आत्मा की शक्ति में विश्वास है और अपने साध्य के प्रति तन्मयता है तथा एकाग्रता है वहाँ निराशा का आगमन सम्भव नहीं होता। अंग्रेजी के कवि गोल्डस्मिथ ने आशा के विषय में बहुत सुन्दर विचार प्रकट किये हैं। कहा है —

Hope like glimmering taper's light
Adorns and cheers the way
And still the darker grows the night
Emits a brighter ray

अर्थात्—आशा लघु दीपक के उस झिलमिल प्रकाश की भाँति है जो मार्ग को अलंकृत और आनन्दपूर्ण कर देता है। और ज्यों-ज्यों रात अधिकाधिक अंधेरी होती है, त्यों-त्यों उससे उज्ज्वलतर प्रकाश-किरणें फूटती हैं।

बलवती आशा से हृदय बलवान होता है और पौरुष जागता है। आशा और निराशा के भावों से ही पता चलता है कि व्यक्ति में जीवन शक्ति है या नहीं। आशावान व्यक्ति प्रत्येक वस्तु का यथातथ्य रूप देखता है, उसकी पूर्णता में विश्वास रखता है। निराशावादी उसी को एकांगी दृष्टिकोण से विकृत रूप में देखता है। आशावादी अपनी बुद्धि की कसौटी पर प्रत्येक विचार को तोलता है और उसी के प्रकाश में आगे बढ़ता है। निराशावादी जड़ता के अन्धकार में भटकता रहता है।

उच्चाशा में सञ्जीवनी शक्ति होती है। वह जीवन को जगाए रखती है और मनुष्य को अपने लक्ष्य की ओर प्रेरित करती रहती है। जिसकी जीवनी-शक्ति सक्रिय है वह उत्साह को कभी क्षीण नहीं होने देता। उत्साही साधक के लिये कुछ भी दुष्कर नहीं है। उत्साह और उच्चाभिलाषा ही साधक को कार्य-सिद्धि करा सकती है। जिसके लिये हृदय में दृढ आशा होगी, उसी की प्राप्ति का दृढ निश्चय भी होगा।

दृढ इच्छा लक्ष्य के प्रति तन्मयता उत्पन्न करती है और तन्मयता से आत्म-

शायर की यह उक्ति साधक के लिये भी लागू होती है। अगर साधक मे तीव्र उत्कठा और साहस है तो असख्य योजन की ऊँचाई पर लोक के अग्रभाग मे स्थित सिद्ध-स्थान को वह एक समय मात्र के काल मे ही प्राप्त कर सकता है। 'समय' का प्रमाण सभवत आपको ज्ञात नही होगा। 'अनुयोग द्वार सूत्र' मे बताया गया है— एक शक्तिशाली नौजवान जुलाहा किसी जीर्ण वस्त्र को तेज झटके से विदीर्ण करे। उस समय वस्त्र का एक धागा टूटने मे जितनी देर लगती है उसमे ही असख्य समय बीत जाते हैं।

इस उदाहरण से आप समझ गए होंगे कि समय कितना स्वल्प है। किन्तु साधक अपनी आत्मा की असीम शक्ति से एक समय मात्र के स्वल्प काल मे भी सिद्धिक्षेत्र को प्राप्त कर सकता है। उच्च साधना के द्वारा वह इस जीवन मे भी अलौकिक शक्तियो का उपार्जन करके असंभव को संभव और असाध्य को साध्य बना सकता है।

उच्चाभिलाषा :—उच्चाभिलाषा साधक का एक और विशेष गुण है। इसमे निरंतर ऊपर उठने का भाव निहित है। जिस आशा या कामना से प्रेरित होकर मनुष्य उचित अनुचित का विवेक त्यागकर भले और बुरे, सभी कर्म करने को उद्यत हो जाता है, वह उच्चाभिलाषा नही कही जा सकती। उच्चाभिलाषी का शक्ति-स्रोत आत्मिक है। आत्मा के अंदर से ही वह प्रवाहित होता है और आत्मा को निरतर शक्तिशाली बनाता हुआ उसे लौकिक सुखो और दुखो से ऊँचा उठाकर लोकोत्तर या अक्षय सुख का भागी बनाता है।

उच्चाभिलाषी साधक का साध्य भी अत्यत उच्च और दिव्य होता है। भौतिक सुख और ऐश्वर्य उसकी दृष्टि मे कोई महत्व नही रखते। सम्पूर्ण मन और आत्मा की शक्ति से वह ऊँचा उठना चाहता है और ऊँचाई मुक्ति-पद के अलावा और कुछ नही होती। उच्चाभिलाषा रखने वाले साधक की आत्मा सासारिक चिन्ताओ, उत्पीडनो और विवशताओं से मुक्त होने के लिये छटपटाती रहती है। उसके हृदय मे उन्मुक्ति की चाह इतनी प्रबल हो उठती है कि प्रतिक्षण उसका मन यही कहता है —

"कब रुचि सौं पीवें दृग चातक,
बूँद अखयपद घन की।
कब शुभ ध्यान धरौं समता गहि,
करूँ न ममता मन की।
दुविधा कब जहै या मन की।

अर्थात्—न जाने कब वह समय आएगा जब मेरे नेत्र रूपी चातक अक्षय

८

साधन

विश्वास का जन्म होता है। इतिहास ऐसे महापुरुषो की कीर्तिगाथाओं से भरा पडा है जिन्होने महान् विपत्तियों और कठिनाइयो की घडियो को आत्म-विश्वास के द्वारा ही पार किया है। केवल आत्म-विश्वास और दृढ आशा के वल पर ही उन्होंने अपने उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त किया है।

प्रत्येक साधक ऊपर उठ सकता है, अपने लक्ष्य को निकट ला सकता है, प्राप्त कर सकता है। आवश्यकता इतनी ही है कि वह यह भूल जाय कि वह तुच्छ है, अपदार्थ है और पंगु है, कुछ कर नही सकता। निराशा का वीज अत्यन्त घातक होता है। उसके वृश्चिकदंश से आत्मा को वचाना आवश्यक है अन्यथा यह साधक की समस्त आत्म-शक्तियो का नाश कर देगा। निराशा चेतना के स्थान पर जडता और निश्चेष्टता की प्रतिष्ठा करती है तथा अध्यात्म भाव पर दुर्दिन की तरह छा जाती है।

जिस साधक की आत्मा मे उच्चाभिलाषा नही है, वह कभी भी सासारिक प्रपचो से ऊपर उठकर आत्मानद मे रमण नही कर सकता। उच्चाभिलापा प्रच्छन्न आत्मिक शक्तियो के द्वार खोल देती है और आत्मा की उन अलौकिक शक्तियो के द्वारा साधक लौकिक जगत के आकर्पणो पर विजय प्राप्त कर सकता है। सक्षेप मे उच्चाभिलाषा विजडित, शृंखलावद्ध आत्मा की मुक्ति दिलाने वाली है। आत्मा मे जो प्रकाश, आनन्द और प्राण-शक्ति है वह इसी कारण है।

जव तक साधक अपने अन्तर मे ससार से मुक्त होने की उत्कट अभिलापा नही जगा लेता तब तक वह संकल्प और विकल्प की वैतरणी मे डूवता उतराता रहता है। और नाना प्रकार के विकल्पो मे फंसा रहता है। विकल्प शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के होते हैं। जैसे—कामभोगचिन्तन एक अशुभ विकल्प है और पुण्य रूप धर्म शुभ विकल्प। कामभोग की आसक्ति के विकल्प को नष्ट करने के लिये सयम–अलोभ रूप धर्म साधना करना आवश्यक है। अर्थात् अशुभ विकल्प को दूर करने के लिये शुभ विकल्प उत्तम है किन्तु निर्विकल्प अवस्था उससे भी बढकर, अत्युत्तम और प्रधान साध्य है। जिस क्षण साधक विकल्पो से मुक्त हो जाएगा, उसी क्षण उसे आत्मा का साक्षात्कार हो जाएगा और फिर परमात्मा बनने मे देर नही लगेगी ?

परन्तु यह स्थिति तभी आएगी जब साधक आत्मस्वरूप को प्राप्त करने की उच्चाभिलाषा लेकर साधना पथ पर बढेगा और साध्य की प्राप्ति होने तक समय मात्र का भी विराम नही लेगा।

****

प्रत्येक ज्ञान पिपासु शिष्य, जो विनम्र बनकर गुरु के पास आता है, ज्ञान प्राप्त कर लेता है। गुरु किसी की जाति और कुल का विचार नही करता। वह केवल एक बात जो देखता है, वह है लगन। शुक्राचार्य ने शत्रुओ की ओर से आए हुए कच को भी सजीवनी विद्या दे दी थी। वह इसलिये कि कच अत्यन्त विनय पूर्ण भाव से उनके पास आया था।

भक्ति और लगन लेकर जो शिष्य गुरु के पास जाता है वह खाली हाथ नही लौटता, उनसे कुछ लेकर ही लौटता है। जिस प्रकार भ्रमर अधीर होकर पुष्प के पास जाता है और उसका रस पीते-पीते तल्लीन हो जाता है, उसी प्रकार सत् शिष्य गुरु के पास जाता है और उन्हे खाली करने के लिये व्याकुल रहता है। लेकिन गुरु को वह तभी खाली कर सकता है जब वह स्वय खाली होकर उनके पास जाए। सरल और नम्र हृदय से ही वह गुरु से ज्ञान उपलब्ध कर सकता है। नम्रता ज्ञान का सच्चा आरम्भ है। कुए के अपार पानी मे जिस प्रकार बरतन झुकने पर ही पानी ले सकता है, उसी प्रकार ज्ञान-सागर गुरु के सामने भी शिष्य झुकने पर ही ज्ञान ग्रहण कर सकता है। और उस ज्ञान से अपनी सुलक्षित साधना का प्रारम्भ कर सकता है। गुरु ही साधना का सर्व प्रथम साधन है, बिना उसकी सहायता के ज्ञान-प्राप्ति और फिर साधना का होना सभव नही है।

गुरु की महिमा को हमारे भारत ने जितना समझा है उतना निश्चय ही किसी अन्य देश ने नही। मनुस्मृति मे तो यहाँ तक कहा गया है :—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्व स्व चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवाः।

—मनु

अर्थात्—इसी देश के अग्रजन्मा गुरुओ से उपदेश ग्रहण करके ससार के अन्य देशो के निवासी अपना आचार सुधारा करते थे।

भारतीय सस्कृति मे गुरु को ऐसा-जहाज माना गया है, जो संसार-सागर मे डूबते हुए प्राणियो को पार लगा देता है। चर्म-चक्षुओ से मानव इस ससार को देख सकता है किन्तु आत्मा मे विद्यमान चिन्दानन्द को जिन ज्ञान नेत्रों से देखा जा सकता है, उन्हे गुरु के सिवाय और कोई नही खोल सकता। गुरु ही अज्ञान रूपी तिमिर से अधे हुए व्यक्ति के नेत्रो को ज्ञानाजन के द्वारा ज्योति पूर्ण बनाता है। गुरु नानक ने इसीलिये कहा है —

सतगुरु दा दुआर न मिलदा मर-मर के।
सतगुरु जे दयालू जेडे बड़े किरपालू,
तर जानगे भाइयो भगती कर करके।
सतगुरु पिंगा जो पाइया फेर कमियां न काइयां,
लेना ले लो हिलोरें मन भर-भर के,
सतगुरु दा दुआर न मिलदा मर-मर के।

कवि कहता है—भाइयो ! सत्गुरु का पता पाना अत्यन्त कठिन है। लाख कोशिश करने पर भी, वर्षों खोजने पर भी, सच्चे गुरु का द्वार नहीं मिलता है। किन्तु अगर भाग्यवश मिल जाता है तो उनके चरणो मे रहकर और शुद्ध भक्ति के द्वारा उन्हे सन्तुष्ट कर हम भव-समुद्र पार कर सकते हैं, सच्चे गुरु के मिल जाने पर फिर किसी भी प्रकार की कमी नही रह जाती। हम जी भर कर उनसे लाभ उठा सकते हैं और मुक्ति मार्ग पर बढ सकते है।

गुरु वाहर से कुछ उंडेल नही देता वरन् मनुष्य की आत्मा मे जो ज्ञान वीज रूप मे रहता है उसी को विकसित करने मे सहायक बनता है और वह सहायता, जो गुरु कृपा करके प्रदान करता है, मनुष्य को परम उच्चपद की प्राप्ति मे सहायक वनती है। गुरु के प्रति साधक की असीम श्रद्धा और विश्वास होना चाहिये। उसे समझना चाहिये कि जो मनुष्य परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह परमात्मा का ही स्वरूप बन जाता हैं और इससे सिद्ध होता है कि गुरु के आसन पर मनुष्य नही, किन्तु परमात्मा स्वयं आसीन रहते हैं। शर्त यही है कि वह सच्चा गुरु हो। ऐसा गुरु विरला ही मिलता है। चाणक्य ने कहा है :—

"गुरवो विरलाः संति शिष्यसंतापहारकाः।
गुरवः सुलभाः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः ॥"

अर्थात्—ऐसे गुरु विरले ही मिलते है जो अपने शिष्यो के कषाय-जनित कष्टो को और जन्म-मरण रूप संताप को मिटाने मे प्रेरणा और मार्ग-दर्शन प्रदान करते हो। हाँ शिष्यो के वित्त (धन) का अपहरण करने वाले गुरु गली-गली भटकते है।

आजकल ऐसे गुरुओ का मिलना दुष्कर हो रहा है। मनुष्य पहचान भी नही पाता कि मोक्ष-मार्ग को वताने वाले सच्चे पथ-प्रदर्शक कौन है ? परिणाम यह होता है कि साधक वाक्चातुर्य तथा वाह्य आडम्बर के धोखे मे आकर गलत पुरुषो का सहारा ले लेता है और कर्म-बंधनो को काटने के स्थान पर नये-नये

सद्ग्रन्थो का स्वाध्याय भी आवश्यक और अनिवार्य है। हमारे भारत में आध्यात्मिक ज्ञान की वृद्धि करने के लिये सत्साहित्य का अक्षय कोष विद्यमान है और इसीलिये भारत आध्यात्मिक ज्ञान की दृष्टि से सब देशो का सिरमौर कहलाता रहा है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है :—

अंधकार है वहाँ जहाँ आदित्य नहीं है।
मुर्दा है वह देश जहाँ साहित्य नहीं है।

प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्त-वृत्ति का परिवायक होता है। जिस देश का जैसा साहित्य होगा वैसी ही वहाँ के मनुष्यों की मनोवृत्ति होगी। पुस्तकें ही वे विश्वस्त दर्पण हैं जो संतों और वीरो के मस्तिष्क का परावर्तन हमारे मस्तिष्क पर करती है। एक पाश्चात्य विचारक ने भी पुस्तको का बडा महत्त्व माना है। कहा है :—

"Books are light houses erected in the great sea of time"

अर्थात्—पुस्तकें प्रकाशगृह हैं जो समय के विशाल समुद्र मे खडी की गई है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि समय-समय पर राष्ट्र नष्ट हुए हैं, समाज नष्ट हुए हैं, वश और कुल नष्ट होते रहे हैं किन्तु साहित्य का नाश नही हुआ और न कभी हो सकता है। आज भी हमारे प्राचीनतम आगम, वेद, उपनिषद्, दर्शन-शास्त्र आदि ग्रथ ससार को चमत्कृत करते हुए मार्ग-दर्शन कर रहे है। न केवल भारतीय विद्वान् अपितु पाश्चात्य विद्वान् भी इनकी श्रेष्ठता के सम्मुख नतमस्तक हुए है। अनेक ज्ञान-पिपासु विभिन्न देशो से आकर भारतीय विद्यापीठो मे धर्मग्रन्थों का अध्ययन करते थे। भारत के तक्षशिला और नालदा विश्वविद्यालय से अनेको ज्ञानार्थियो ने ज्ञानार्जन किया और दूरस्थ देशों मे जाकर उसका प्रचार भी किया।

कहने का आशय यही है कि मनुष्य को नियमित रूप से सद्ग्रन्थो का अध्ययन करना चाहिये। अगर थोडा-सा भी समय व्यक्ति अध्ययन अथवा स्वाध्याय के लिये प्रतिदिन नियत करले तो उसके बल पर वह उच्चकोटि का विद्वान् बन सकता है।

बरमौण्ट (अमेरिका) मे एक मोची था। नाम था चार्ल्ससी फ्रास्ट। उसने अपने कार्य के व्यस्त घटो मे से प्रतिदिन एक घण्टा बचाकर दस वर्ष तक नियमपूर्वक गणित का अध्ययन किया। केवल एक घंटा अध्ययन करके ही वह दस वर्ष मे उच्चकोटि का गणितज्ञ बन गया। प्राचीन ऋषियो और

मत मतान्तरो के झझट मे नही पडता। उसकी दृष्टि शुद्ध और दूरदर्शी हो जाती है। आध्यात्मिक ग्रन्थो और ज्ञान के अक्षय-कोष, शास्त्रो का अध्ययन और मनन करने से आत्मा निर्मल बनती हुई अनासक्त अवस्था को प्राप्त होती है। हमारे आचार्यों ने कहा है '—"**सर्वस्य लोचनं शास्त्रं।**" प्राणी मात्र की सर्वश्रेष्ठ आँख सात्विक ग्रथ-शास्त्र ही हैं। क्योंकि शास्त्रो से विश्व की तीनों काल की घटनाओ को जाना जा सकता है।

जहाँ सद्ग्रन्थो का अध्ययन होता है, वहाँ से लोभ, मोह, भ्रम और भय स्वत ही भाग जाते हैं। मनुष्य जितना अधिक अध्ययन करेगा उतना ही विकार रहित होता चला जाएगा। स्वामी शिवानन्द जी ने एक स्थान पर लिखा है —

"सद्ग्रन्थ इस लोक के चिन्तामणि है। उनके अध्ययन से सब चिन्ताएँ मिट जाती हैं। संशय पिशाच भाग जाते हैं और मन मे सद्भाव जागृत होकर परम शाति प्राप्त होती है।"

कैसा साहित्य पढ़ा जाये ?—प्रत्येक मनुष्य को और साधक को अध्ययन अथवा स्वाध्याय प्रारम्भ करने से पहले यह विचार कर लेना चाहिये कि हम कैसे ग्रन्थो का अध्ययन करे? अनार्ष, अश्लील और सिर्फ कुछ समय तक मनोरजन प्रदान करने वाली पुस्तको, उपन्यासो और नाटको को पढने का नाम स्वाध्याय नही हैं। इनसे मनुष्य का कल्याण नही होता, अपितु आत्मा का पतन होता है। कुसाहित्य पढना और विष-पान करना दोनो ही समान हैं। एक शरीर को निष्क्रिय बनाता है और दूसरा आत्मा को।

साहित्य वही पढा जाना चाहिये जिससे मनुष्य के विचार और आचार दोनो पर ही अच्छा प्रभाव पड़े। उत्तम विचार आचार को भी उत्तम बना देते हैं। कहा भी है —

"Great thoughts reduced to practice be come great acts"
— हैजलिट

अर्थात्—महान विचार कार्य रूप मे परिणत होने पर महान कर्म बन जाते हैं।

जिस प्रकार प्रकाश और प्रताप दोनों सूर्य के गुण हैं उसी प्रकार सिद्धात और क्रियाशीलता, ज्ञान और आचरण अथवा विचार और प्रयोग, सत्साहित्य के पठन और सद्ग्रन्थो के स्वाध्याय के गुण हैं। साधक की साधना मे विचार और आचार दोनो ही समान रूप से सहायक होते हैं। बिना विचार के आचार अधूरा और शक्तिहीन होता है, तथा बिना आचार के विचार जीवनहीन साबित

स्वस्थ शरीर—स्वस्थ शरीर साधक की साधना के लिये तीसरा साधन है। जिस प्रकार सच्चे गुरु और सत्साहित्य साधना मे सहायक होते है उसी प्रकार स्वस्थ शरीर भी साधना के लिये परमावश्यक है। कहा भी गया है :—

"धर्मार्थकाममोक्षाणाम् मूलमुक्तं कलेवरम् ।"

—धर्म कल्पद्रुम

अर्थात्—धर्म का, धन का, विविध इच्छाओ का और मोक्ष का साधन यह शरीर ही है।

यह शरीर वस्तुतः आत्मा का परिच्छद अर्थात् पोशाक है। हमारी चैतन्य शक्ति का आवरण है, और उसको क्रियात्मक रूप देने का साधन भी है। इस दृश्य शरीर के भीतर मन की अद्भुत अदृश्य शक्तियाँ, प्राण शक्ति का अटूट एव सनातन प्रवाह तथा आत्म-शक्ति की अमर प्रेरणाएँ भरी हुई है। इसलिये इसे स्वस्थ रखने से ही साधक अपनी सम्पूर्ण सत्ता और शक्ति का अनुभव कर सकता है।

प्रकृति ने मनुष्य को जो शरीर-यंत्र प्रदान किया है, वह इतना आश्चर्य-जनक और शक्तिशाली है कि ससार का कोई भी दूसरा यत्र उसकी तुलना मे नही ठहर सकता। अगर हम इसे पूर्ण स्वस्थ रखकर इसकी सहायता से आत्मोत्थान का प्रयत्न करे तो निश्चय ही अपने उद्देश्य मे सफल हो सकते हैं। इसी शरीर-यत्र और उसके अदर छिपी हुई मन शक्ति पर नियत्रण रखकर योगी असाधारण शक्तियाँ प्राप्त कर लेत हैं। वे अपने हृदय की क्रिया को रोक लेते है, रक्त प्रवाहिनी धमनियों को नियत्रित कर सकते है और कुछ काल तक श्वास-क्रिया बद करके भी जीवित रह जाते हैं। यह शक्ति स्वस्थ शरीर मे ही रह सकती है।

मन और शरीर का स्वाभाविक विकास और नियत कार्य करने की शक्ति का नाम ही स्वास्थ्य है। मनुष्य अपने कार्य के लिये चाहे कोई भी क्षेत्र क्यो न चुने, चाहे किसी भी सिद्धान्त का अनुयायी क्यो न हो, स्वास्थ्य उसके लिये प्रत्येक अवस्था मे सहायक है। जीवन की सफलता स्वस्थ शरीर पर ही निर्भर है। अस्वस्थ शरीर और उसमे रहने वाला अस्वस्थ मन दोनो ही मनुष्य की आत्मा को पगु बनाते है। इसलिये शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक ही नही वरन् अनिवार्य है। अंग्रेजी मे एक कहावत प्रचलित है :—

"Sound mind in a sound body"

अर्थात्—स्वस्थ शरीर मे ही स्वस्थ मन रह सकता है।

अस्वस्थ शरीर मे स्वस्थ मन रखना सबके लिये आसान कार्य नही है।

स्वस्थ शरीर—स्वस्थ शरीर साधक की साधना के लिये तीसरा साधन है। जिस प्रकार सच्चे गुरु और सत्साहित्य साधना में सहायक होते है उसी प्रकार स्वस्थ शरीर भी साधना के लिये परमावश्यक है। कहा भी गया है —

"धर्मार्थकाममोक्षाणाम् मूलमुक्तं कलेवरम्।"

—धर्म कल्पद्रुम

अर्थात्—धर्म का, धन का, विविध इच्छाओ का और मोक्ष का साधन यह शरीर ही है।

यह शरीर वस्तुतः आत्मा का परिच्छद अर्थात् पोशाक है। हमारी चैतन्य शक्ति का आवरण है, और उसको क्रियात्मक रूप देने का साधन भी है। इस दृश्य शरीर के भीतर मन की अद्भुत अदृश्य शक्तियाँ, प्राण शक्ति का अटूट एव सनातन प्रवाह तथा आत्म-शक्ति की अमर प्रेरणाएँ भरी हुई है। इसलिये इसे स्वस्थ रखने से ही साधक अपनी सम्पूर्ण सत्ता और शक्ति का अनुभव कर सकता है।

प्रकृति ने मनुष्य को जो शरीर-यंत्र प्रदान किया है, वह इतना आश्चर्य-जनक और शक्तिशाली है कि ससार का कोई भी दूसरा यत्र उसकी तुलना मे नही ठहर सकता। अगर हम इसे पूर्ण स्वस्थ रखकर इसकी सहायता से आत्मोत्थान का प्रयत्न करे तो निश्चय ही अपने उद्देश्य मे सफल हो सकते हैं। इसी शरीर-यत्र और उसके अदर छिपी हुई मन शक्ति पर नियत्रण रखकर योगी असाधारण शक्तियाँ प्राप्त कर लेत हैं। वे अपने हृदय की क्रिया को रोक लेते हैं, रक्त प्रवाहिनी धमनियों को नियत्रित कर सकते है और कुछ काल तक श्वास-क्रिया बद करके भी जीवित रह जाते है। यह शक्ति स्वस्थ शरीर मे ही रह सकती है।

मन और शरीर का स्वाभाविक विकास और नियत कार्य करने की शक्ति का नाम ही स्वास्थ्य है। मनुष्य अपने कार्य के लिये चाहे कोई भी क्षेत्र क्यो न चुने, चाहे किसी भी सिद्धान्त का अनुयायी क्यो न हो, स्वास्थ्य उसके लिये प्रत्येक अवस्था मे सहायक है। जीवन की सफलता स्वस्थ शरीर पर ही निर्भर है। अस्वस्थ शरीर और उसमे रहने वाला अस्वस्थ मन दोनो ही मनुष्य की आत्मा को पगु बनाते है। इसलिये शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक ही नही वरन् अनिवार्य है। अग्रेजी मे एक कहावत प्रचलित है :—

"Sound mind in a sound body"

अर्थात्—स्वस्थ शरीर मे ही स्वस्थ मन रह सकता है।

अस्वस्थ शरीर मे स्वस्थ मन रखना सबके लिये आसान कार्य नही है।

कहा जा सकता है कि आत्मिक गुणों के साथ शरीर की स्वस्थता का क्या सबध है ? उसका उत्तर यही है कि स्वस्थ शरीर के बिना धर्माचरण नहीं किया जा सकता —

"शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम् ।"

शरीर धर्मसाधना करने के लिये प्रधान साधन है। इस साधन के बिना साधना नही की जा सकती। जिस प्रकार शल्यचिकित्सक को शल्य क्रिया करने के लिये अपने औजार भली-भाति तैयार करके रखने पडते हैं, होशियार चित्र-कार को अच्छे रग और कूचियाँ चित्र बनाने के लिये आवश्यक होते है, उसी प्रकार साधक को साधना करने के लिये अपने शरीर को स्वस्थ रखना होता है। अन्यथा उसके हृदय मे चाहे जितनी धर्म-भावना हो पर धर्म करने के साधन, शरीर के स्वस्थ न होने से वह अपनी भावना को मूर्त-रूप नही दे सकता। इसलिये शरीर की अवज्ञा करना और इसे तुच्छ समझना वडी भारी भूल है। मनुष्य को इसके सरक्षण का और इसे स्वस्थ रखने का ध्यान रखना चाहिये। एक अग्रेज विद्वान् ने कहा है —

"Use three physicians—First doctor quiet, then doctor merry mind and then doctor diet"

अर्थात्—स्वास्थ्य सरक्षण के लिये तीन डॉक्टरो का सदैव उपयोग करना चाहिये – प्रथम मन की शाति, दूसरे चित्त की प्रसन्नता और तीसरे सात्विक पथ्य भोजन।

चाहे जैसी परिस्थिति क्यो न हो, उसमे भी मन को शान्त रखना, आपत्ति के समय चित्त को प्रसन्न रखना तथा संयम पूर्वक सात्विक पथ्याहार करना, ये तीनो शरीर को स्वस्थ सौर स्फूर्तिमय वनाते हैं। और शारीरिक स्वास्थ्य के ठीक होने से मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य भी ठीक रह सकता है।

मनुष्य को सदा स्मरण रखना चाहिये कि शरीर और मन की अपार शक्ति हमे जीवन के उच्च आदर्शों की सिद्धि के लिये प्राप्त हुई है, वृथा नष्ट करने या अपव्यय करने के लिये नही। अस्वस्थ मनुष्य जीवन मे कोई महत् कार्य नही कर सकता। वह लम्बी चौडी कल्पनाएँ करता है, पर कुछ कर नही पाता। उत्साह और उमग के अभाव मे वह भूल जाता है कि —

जिन्दगी केवल न जीने का बहाना,
जिन्दगी केवल न सांसों का खजाना।
जिन्दगी, सिन्दूर है पूरब दिशा का,
जिन्दगी का काम है सूरज उगाना।

जिसे जीवन में कुछ करना है, उसे जीवन के महत्व को समझना चाहिये, अपने पौरुष को जगाना चाहिये और अत्यन्त दुर्लभ मानव जीवन का लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिये। मनुष्य शरीर लाचारी का जीवन बिताने के लिये नही मिला है, वह मिला है, पौरुष से दीप्त, शक्ति और ओज से परिपूर्ण, शातिमय जीवन बिताते हुए अक्षय आनन्द की प्राप्ति करने के लिये। हमारे आचार्यों ने पुकार-पुकार कर कहा है—"मानव ! तुम जीवितो की तरह जिओ, समस्त प्राण-शक्ति के साथ जिओ, मृत्यु के बंधनो को छिन्न-भिन्न करके जिओ। प्र.ण-हीन ककाल की तरह मत जिओ।" उपनिषद मे कहा है —

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"

बलहीन व्यक्ति आत्मा को प्राप्त नही कर सकता। निर्बल सदा निराशा के गर्त मे पडे रहते हैं। आत्मा की अलौकिक शक्तियो के प्रति उन्हे विश्वास नही होता। ऐसे व्यक्तियो की प्राण-शक्ति सदा मूर्छितावस्था मे रहती है और पौरुष की उपासना का भूखा जीवन का देवता पुकार-पुकार कर थक जाता है। हीनता और अकर्मण्यता के मिथ्या विश्वास से ग्रस्त होकर सूर्य के समान प्रचण्ड आत्मशक्ति भी निराशा के घोर तिमिरावरण से आच्छादित वनी रहती है और मानव अनिश्चय, अस्पष्ट एव भ्रमात्मक विचारो की शृंखला मे पडा हुआ शिथिल और प्राणहीन जीवन बिताता चला जाता है। किन्तु इसके लिये प्राणी को भारी पश्चात्ताप तब करना पडता है, जब काल आकर उसके कान मे चुपके से कहता है —

तुम साफ लड़ाई हार चुके,
अब चलने मे मत देर करो।
गढ़ टूटा लश्कर भाग चुका,
अब तनका अपने ढेर करो।
तन सूखा कुबडी पीठ हुई,
घोडे पर जीन धरो बाबा !
अब मौत नकारा बाज चुका,
चलने की फिक्र करो बाबा !

कहते हैं मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म भर की घटनाएँ एक-एक कर सामने आती हैं। समय की धुध उन पर से हट जाती है। इसीलिये उस समय मनुष्य को अपने बिताए हुए सम्पूर्ण जीवन की सार्थकता और असार्थकता का ध्यान आता है।

यह बात कुछ महत्व नही रखती कि आदमी मरता क्यो है ? महत्व की वात तो यह होती है कि वह जिया कैसे ? उसने अपने जीवन काल मे मानव

शरीर का वास्तविक लाभ उठाया या नही ? जो इसका लाभ उठा लेते हैं उनके लिये मृत्यु दुखदायी नही होती, वरन् प्रभु का निमत्रण मालूम होती है, जो उन्हे पुन नया जीवन, नया साहस, नया आनन्द, नई शक्ति और नई शाति प्रदान करने वाला है।

बधुओ ! आशा है आपने साधक की साधना मे मुख्य रूप से सहायक मानव-शरीर का महत्व भली-भाति समझ लिया होगा। और यह भी समझ लिया होगा कि स्वस्थ शरीर मे ही स्वस्थ मन रहता है, जो अपनी सयमित साधना के द्वारा आत्मा को ऊँचाई के शिखर पर ले जाता है। स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन और इनसे पुष्ट होने वाली स्वस्थ बुद्धि ही साधक की साधना को अपने लक्ष्य की ओर ले जा सकती है।

आज हमने साधक और उसकी साधना मे सहायक साधनो के विषय मे विचार किया है। अब समय काफी हो चुका है अत कल इसी समय साधक की साधना कैसी हो ? तथा उसकी साधना का लक्ष्य क्या हो ? इस पर विचार करेंगे। इति।

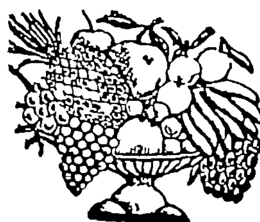


साध्य उच्च हो, साधन पवित्र हों और साधक दृढ निष्ठावान् हो, तो फिर कोई कारण नही कि साधना मे तेज न निखरे और सिद्धि का द्वार न खुले। ....

........वास्तव मे इन तीनो का सुमेल ही सच्ची साधना और फलवती साधना है ....।

—उपाध्याय अमरमुनि





१

साधना

महानुभावो !

आपको बताया जा चुका है कि साधक में क्या-क्या विशेषताएँ होनी चाहिये, और उसे अपनी साधना के लिये कौन-कौन से साधन अपनाने चाहिये ? आज हम विचार करेंगे कि साधक को किस प्रकार साधना करनी चाहिये ?

प्रत्येक साधक को यह भली-भाँति जान लेना चाहिये कि यद्यपि आत्मा अमर है, किन्तु यह जीवन अमर नही है। कभी भी और किसी क्षण भी यह समाप्त हो सकता है। इसीलिये समय रहते इसका जितना भी अच्छे से अच्छा उपयोग किया जा सके, कर लेना चाहिये। कोई भी कार्य कल के लिये छोडना बुद्धिमानी नही है। हम सदैव देखते हैं, क्षण भर पहले जो प्राणी हास्य-विनोद मे निमग्न रहता है, अगले क्षण ही हृदय का स्पन्दन अवरुद्ध होते ही भूमि पर लुढक जाता है —

अद्यैव हसितं गीत पठितं यैः शरीरिभिः।
अद्यैव ते न दृश्यन्ते कष्ट कालस्य चेष्टितम्॥

अर्थात्—अभी कुछ समय पहले जो प्राणी हँस रहे थे, मधुर गान गा रहे थे, उत्तम पदो का पाठ कर रहे थे, वे अभी-अभी दिखाई नही पडते—उनका शरीर दृष्टिगोचर नहीं होता। काल की क्रीडा कैसी कष्टकर है।

ऐसे अनित्य, अध्रुव, अस्थायी और क्षणभगुर जीवन को पाकर भी अगर व्यक्ति इसे सफल बनाने के लिये धर्म-क्रिया नही करता, तप और साधना नही करता तो उसका मानव जीवन पाना व्यर्थ हो जाता है। अगणित मनोरथो का सेवन करते हुए और कर्मों के नाश के प्रयत्नो को कल पर छोडते हुए अज्ञानी पुरुष बैठा रहता है। परिणाम यह होता है कि कल कभी नही आता और काल आ जाता है। उस समय एक क्षण भर भी अधिक जीवित रहने की शक्ति कोटि उपाय करने पर भी प्राणी कभी प्राप्त नही कर सकता। कहा भी है —

"नो शक्तास्त्रुटितंसुरासुरनरा· सन्धातुमायुर्वलम्।"

—वह्मानन्द

अर्थात् – टूटे हुए आयुष्य को जोडने मे न तो देवता और न दानव तथा न कोई मनुष्य-प्राणी भी समर्थ हो सकता है।

अतएव विवेकभूषित भव्य प्राणी का कर्त्तव्य है कि वह मृत्यु को ध्रुव, अनिवार्य और अनियत समझकर अपने जीवन को सफल बनाने के लिये कटिवद्ध हो जाए और पुन-पुन जन्म-मरण के चक्र मे न पिसने की आकाक्षा रखते हुए, अक्षयलोक की प्राप्ति के लिये अखण्ड साधना करे। ऐसी साधना के लिये क्या आवश्यक है ? अब हमे यही देखना है।

दृढ सकल्प—अव्याबाध सुख के इच्छुक साधक को दृढ संकल्प सहित साधना-पथ पर कदम रखना चाहिये। विचारो मे अनिश्चितता होने से मनुष्य का जीवन अस्त-व्यस्त और लक्ष्यहीन हो जाता है। भावनाओ का अन्तर्द्वन्द्व उसके व्यक्तित्व को असयत बनाकर खड-खड कर देता है। वह निर्णय ही नही कर पाता कि क्या करे और क्या न करे, परिणामत' कुछ भी नही कर पाता। फ्रास के महान् लेखक विक्टर ह्यूगो ने कहा है —

"People do not lack strength, they lack will."

अर्थात्—साधारणतया लोगो मे शक्ति का नही, वस्तुत सकल्प का अभाव होता है, जिसके कारण वे कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नही कर सकते।

महान् कार्य करने के लिये अथवा जीवन को ऊँचा उठाने के लिये मनुष्य की अपनी शक्ति और दृढ सकल्प ही कारगर हो सकता है। बिना स्वत· की इच्छा शक्ति के ससार की अन्य कोई भी शक्ति उसकी आत्मा को उन्नत

बनाने मे सहायक नही हो सकती और जो ऐसा करने जाता है उसकी दशा त्रिशकु जैसी होती है।

पौराणिक समय मे राजा त्रिशकु एक अन्यायी और महा अत्याचारी राजा के नाम से विख्यात था। राजमद मे चूर होकर उसने विचार किया कि ससार के समस्त प्राणी इस देह को छोडकर स्वर्ग जाते हैं किन्तु मैं तो सदेह स्वर्ग जाऊँगा।

अपनी इस आकाक्षा की पूर्ति के लिये उसने अपने राज्य के समस्त ऋषि-मुनियो, एव तपस्वियो को एकत्रित किया और उनके समक्ष अपनी यह अभिलाषा प्रकट की।

सुनकर सब चकित रह गए और बोले—"राजन्! आप स्वर्ग अवश्य जा सकते हैं लेकिन सशरीर नही। शरीर को तो यही छोडकर जाना होगा।,' किन्तु एकत्र तपस्वियो मे महर्षि विश्वामित्र भी थे। उन्होंने राजा से कहा—"आप निराश न हो, मैं आपको सदेह स्वर्ग भेज दूँगा।"

वैदिक पुराणो मे कहा जाता है कि विश्वामित्र ने अपने तपोबल से राजा त्रिशकु को पृथ्वी से ऊपर उठाकर स्वर्ग की ओर रवाना कर दिया। यह देखकर देवलोक मे खलबली मच गई। देवतागण सोचने लगे कि यह अत्याचारी राजा अगर स्वर्ग मे आ जाएगा तो स्वर्ग को भी नरक बना देगा। आखिर सब देव निश्चय कर इकट्ठे हुए और उन्होने त्रिशंकु को पुन पृथ्वी की ओर धकेल दिया।

त्रिशंकु ने घबराकर विश्वामित्र को पुकारा और कहा—"ऋषिराज! देवगण मुझे स्वर्ग मे नही आने दे रहे हैं, धक्के दे देकर धकेल रहे हैं।"

विश्वामित्र ने यह देखा, किन्तु सहसा ही उनके मुँह से निकल पडा—"बस, वही ठहर जा।" विश्वामित्र के मुँह से वचन निकले ही थे कि एक अद्भुत घटना घट गई। राजा त्रिशकु अधर मे ही लटका रह गया। न स्वर्ग मे ही पहुँच सका और न ही मर्त्यलोक मे उतर पाया।

कहने का तात्पर्य यही है कि आत्मा ऊँची उठ सकती है, अपनी करनी और शक्ति के बल पर। आत्मा परमात्मा बन सकती है अपनी साधना के बल पर। उधार ली हुई महत्ता उसके किसी काम नही आ सकती। मनुष्य के लिये कुछ भी पाना दुर्लभ नही है, किन्तु उसके लिये अपने ही सकल्प बल से प्रयत्न करना चाहिये। अन्यथा हालत त्रिशंकु के जैसी हो सकती है। देह को न छोडने के लालच ने उसे कही का न रखा। प्रत्येक मनुष्य को इससे शिक्षा लेना चाहिये और अपनी दृढ इच्छा शक्ति द्वारा मन को ससार के समस्त

नश्वर और भौतिक पदार्थों के प्रलोभन से बचाना चाहिये। गांधीजी ने एक स्थान पर लिखा है —

An abiding vow is like a fortress affording protections against, dangerous temptations. It cures one of weakness and vacillation.

अर्थात् दृढ सकल्प एक गढ के समान है जो भयकर प्रलोभनो से हमको बचाता है, दुर्वल और डाँवाडोल होने से हमारी रक्षा करता है।

जिम व्यक्ति के हृदय मे सच्ची लगन और विचारो मे दृढ सकल्प होता है, वह अपनी प्रच्छन्न शक्तियो का विकास करके अपने जीवन को ऊँचा उठा सकता है। मानव जैसा विचार करता है, वैसा ही बनता है। कुछ लोग समझते हैं कि जब तक हम कोई बुरा कर्म नही करते तब तक मन मे दूपित विचार आ जाय तो भी कोई विशेष हानि नही। यह धारणा गलत है। प्रत्येक विचार, जो मन मे उदय होता है, विद्युत् के समान प्रचण्ड शक्ति रखता है। स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा है —

"अगर कोई मनुष्य गुफा मे रहे, वही पर उच्च विचार करे और विचार करता हुआ ही मर जाय तो वे विचार कुछ समय पश्चात् गुफा की दीवारे फाडकर बाहर निकलेंगे और सब जगह छा जाएँगे तथा अत मे सारे मानव समाज को प्रभावित कर देंगे।"

कहने का तात्पर्य यही है कि विचारो मे अद्भुत शक्ति है अत दृढ सकल्प पूर्वक अपने विचारो पर नियत्रण रखना चाहिये। विचारो की महत्ता के विषय मे तो यहाँ तक कहा जाता है कि —

"Guard well they thoughts, our thoughts are heard in Heaven."

—श्रीमती स्वेटशीन

अर्थात्—अपने विचारो की अच्छी तरह रक्षा करो, क्योकि विचार स्वर्ग मे सुने जाते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने विचारो की जिस प्रचण्ड शक्ति का परिचय दिया है, श्रीमती स्वेटशीन का कथन भी उसकी पुष्टि करता है। वास्तव मे ही विचार महान्शक्ति से परिपूर्ण होते हैं। ऊँचे विचार शाश्वत होते है, वे किसी भौगोलिक सीमा मे नही बाँधे जा सकते और उनके हृदय से प्रसूत हो हो जाने पर उन्हे कार्य रूप में परिणत होने से नही रोका जा सकता :—

"Thought finds its way into action."

अर्थात्—विचार स्वय ही कार्य मे परिणत होने के लिये मार्ग ढूंढ लेता है।

इसलिये मनुष्य यदि कोई भी क्षुद्र विचार अपने मन मे आने देता है तो न केवल वह अपने मन को दुर्बल करता है और हीन कार्यों की ओर अपने को प्रवृत्त करने का बीज बोना है वल्कि विश्व के प्रत्येक प्राणी के जीवन को विषाक्त करने का अपराध भी करता है। मनुष्य विचारो से एक क्षण भी रिक्त नही रह सकता। वह प्रतिदिन अपने मस्तिष्क के चेतना-केन्द्र से अगणित विचार तरगें बाहर भेजता है और ग्रहण भी करता है। इससे ही हम उस हानि का कुछ अनुमान कर सकते है जो हीन, दुर्बल अस्वस्थ और अकल्याणकर विचारों वाला पुरुष अपनी और समग्र विश्व की करता है। इस विश्लेषण से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि अगर व्यक्ति उत्तम विचार करे तो वह अपना तथा दूसरो का कितना कल्याण-साधन कर सकता है।

जो साधक अपने विचारो के स्रोत पर नियन्त्रण रख सकता है, वह अपने मनोवेगो पर भी शासन कर सकता है। ऐसा व्यक्ति अपने सकल्प के सहारे अपनी विपुल आत्मशक्ति को प्रत्यक्ष कर सकता है। उसमे सोई हुई असीम शक्तियाँ जाग उठती हैं। और वह प्रत्येक उच्च कार्य को, उच्च प्रकार की साधना को करने मे सक्षम हो सकता है।

श्रेष्ठ सकल्प से शरीर के समस्त जीव-कोष्टक दृढ एव शक्तिमान् होते हैं, धारणा शक्ति सजीव होती है। यद्यपि विचार और सकल्प मानव की दृष्टि से अदृश्य होते हैं, परन्तु उनकी अद्भुत शक्ति को सबने स्वीकार किया है। अमेरिका और यूरोप के अनेक डॉक्टरो ने अपनी दृढ सकल्प-शक्ति से मानसिक एव स्नायविक रोगो की चिकित्सा मे पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। वास्तव मे ही विचारो को दृढ करके, सगठित करके मनुष्य सकल्पबल से अपनी वृद्धावस्था को युवावस्था मे भी बदल सकता है। हम प्राय. देखते हैं कि योगीजन अपने योगबल से काफी समय तक अपने स्नायु सचार को रोक देते हैं, कई-कई दिन तक अपनी प्राण-शक्ति को नियत्रित करके कब्र मे दबाए हुए शव के समान जमीन के अन्दर ध्यान मुद्रा मे बैठे रह जाते हैं। वह किस प्रकार? अपनी अटूट सकल्प शक्ति के वल पर ही तो।

सकल्प से आत्मप्रेरणा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमारी आत्मा जो प्रेरणा करती है, जो कुछ हमारा हृदय चाहता है, वह सब हमे मिल सकता है, आवश्यक यह है कि हम उसके लिये दृढ सकल्प करें। मनु महाराज ने कहा है —

संकल्पमूलः कामो यज्ञाः संकल्पसभवाः ।
वृत्तानि यम धर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥

—मनुस्मृति

अर्थात्—सभी कामनाओ का मूल कारण संकल्प है, सभी शुभ कार्य सकल्प से ही सिद्ध होते हैं। सभी व्यवहार, यम अर्थात् सत्य, अहिसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि और सभी धर्म संकल्प से ही उत्पन्न या सिद्ध होते हैं।

इतना ही नही, सकल्प अथवा मनोबल मे तो इतनी प्रबलता होती है कि मनुष्य आधे क्षण मे ही सातवी नरक का बध कर लेता है अथवा आधे क्षण मे ही समस्त कर्मो का नाश करके मोक्ष-पद को प्राप्त कर लेता है :—

"यः सप्तमीं क्षणार्धेन नयेद्वा मोक्षमेव च ।"

—योगसार

हीन सकल्प बध का और उच्च सकल्प मुक्ति का कारण बनता है। शुभ और श्रेष्ठ संकल्प सहित की हुई साधना निष्फल नही जाती। सकल्प मे अवर्णनीय बल होता है। मनुष्य आज जो कुछ है और जैसा कुछ है, वह अपने पूर्व सकल्प का फल है और भविष्य मे जैसा कुछ होगा अपने वर्तमान सकल्प के बल पर होगा। सकल्प ही मनुष्य का नाश करता है और सकल्प ही उसे अमरता प्राप्त करवाता है। रावण, कंस और दुर्योधन अपने हीन सकल्पो के कारण ही सम्पूर्ण कुल सहित नाश को प्राप्त हुए तथा महावीर और राम आदि महापुरुष अपने श्रेष्ठ सकल्पो के कारण युग-युग के लिये अमर हो गए।

दृढ सकल्प से असभव भी सभव हो जाता है और दुष्कर कार्य सहज बन जाते हैं। पडित बोपदेव दक्षिण के यादववशी राजा महादेव की सभा मे पडित थे। बचपन मे उन्हे व्याकरण याद नही होता था। इस कारण वे अनेको बार अपने गुरुजी द्वारा दण्डित होते थे।

बहुत अभ्यास करने पर भी जब उन्हे व्याकरण याद नही हुआ और मार खाना जारी रहा, तो अपने अप्रिय अध्ययन से बहुत निराश हो गए और एक दिन स्कूल से भागकर चिन्तामग्न अवस्था मे किसी कुँए की पाल पर बैठ गए।

बैठे-बैठे उनकी दृष्टि कुँए पर लगे हुए एक पत्थर पर पडी, जो पानी खेचने वालो की रस्सी की रगड से घिस गया था। उसे देखकर बोपदेव के मन मे एकदम विचार आया कि—'मेरा हृदय क्या पत्थर से भी गया बीता है? अगर रस्सी के बार-बार आने जाने से पत्थर घिस सकता है तो बार-बार याद करने मे क्या मुझे व्याकरण स्मरण नही हो सकता?"

उसी क्षण से बोपदेव ने व्याकरण को पुन याद करने का दृढ सकल्प

किया और अकथ परिश्रम करना शुरू कर दिया। सकल्प कर लेने पर क्या असभव होता है ? बोपदेव आगे जाकर प्रकाड विद्वान् बने और 'मुग्ध-बोध' नामक व्याकरण की रचना करने मे समर्थ हुए।

यहाँ एक बात और जानने योग्य है। मानव जीवन के दो पक्ष हैं। एक आध्यात्मिक और दूसरा भौतिक। एक मनुष्य के लिये श्रेय है और दूसरा प्रेय। दोनो ही मनुष्य के मन को आकर्षित करते हैं। और मनुष्य इनमे से किसी भी एक को अपना सकता है। किन्तु दोनो के मार्ग और उनसे प्राप्त होने वाले परिणाम एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। श्रेय और प्रेय जिस प्रकार भिन्न हैं उसी प्रकार मनुष्य के सकल्प भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। जो पुरुष श्रेय को अपनाने का सकल्प करते हैं वे प्रेय पदार्थों से मुँह मोडकर, इहलौकिक सुख को सुख न मानते हुए त्याग और तपस्यामय साधना से अंत मे ऐसा सुख प्राप्त कर लेते हैं जो अक्षय होता है। समस्त कर्मों का नाश करके वे मुक्त हो जाते हैं और पुन पुन जन्म-मरण के दुख नही भोगते।

किन्तु जो अबोध मनुष्य प्रेय की प्राप्ति का सकल्प करते हैं और उसी मे जुट जाते हैं वे ससार के समस्त भौतिक सुख प्राप्त करके भी सतुष्ट नही होते। कहा भी है —

कसिणं पि जो इमं लोगं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न सतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया।

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्—धन, धान्य, सोना चाँदी आदि समस्त पदार्थों से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि लोभी मनुष्य को दे दिया जाय, तब भी वह सन्तुष्ट नही होगा।

लोभी मनुष्य की प्रार्थना यदि ईश्वर सुन ले तो उसे भी दर-दर का भिखारी होना पडे, क्योंकि इस चराचर मे जो कुछ भी प्रभुता है, लोभी उस सबको पाकर भी हाय-हाय तो करता ही रहेगा। इसीलिये एक उर्दू के कवि ने कहा है —

मुँह से बस न करते, हरगिज खुदा के बन्दे।
इन हरीशों को खुदा गर सारी खुदाई देता॥

अभिप्राय यह है कि प्रेय-सकल्पी व्यक्ति को कितना भी धन, वैभव और भौतिक सुख सुविधाएँ क्यो न प्राप्त हो जाएँ, उसकी तृष्णा कभी खत्म नही होती। और उसी हालत मे जब जीवन समाप्त हो जाता है तब उसकी आत्मा नाना प्रकार की कष्टप्रद योनियो मे जन्म लेने के लिये चल पडती है। यह दुखद परिणाम हीन सकल्प के कारण सामने आता है।

मनुष्य संकल्पो की हीनता और उच्चता को समझकर ऐसे सकल्प करे, जिससे उसकी आत्मा श्रेय को प्राप्त करे। आत्मा के लिये श्रेयस्कर है कर्मो का नाश करना, और मुक्त अवस्था को प्राप्त होना। मुमुक्षु साधक को यही आकाक्षा रखते हुए शुभ सकल्पो के साथ साधना पथ पर बढना चाहिये। दृढ सकल्प के साथ साधना करने वाले साधक के मार्ग मे कोई भी शक्ति रुकावट नही बन सकती। सफलता स्वयं उसके चरण चूमती है।

अध्यवसाय - अध्यवसाय सकल्प की सतति है। जिस साधना के पीछे सकल्प के साथ अध्यवसाय नही है उसके पूर्ण होने की आशा नही की जा सकती। इस प्रकार साधना के लिये प्रथम सकल्प और उसके बाद अध्यवसाय आवश्यक है। सकल्प की शक्ति का अनुमान अध्यवसाय के द्वारा ही लगाया जा सकता है। दूसरे शब्दो मे यह भी कह सकते है कि सकल्प का कार्यमय शरीर अध्यवसाय है।

किसी भी कार्य के सिद्ध होने तक, निरन्तर किये जाने वाले प्रयत्न को अध्यवसाय कहते है। अध्यवसाय मे उद्देश्य सिद्धि के लिये किया जाने वाला परिश्रम और उसकी निरतरता दोनो तत्त्व शामिल हैं। बहुत से व्यक्ति किसी काम को प्रारम्भ करते हैं, आरम्भ मे उसके लिये उत्साहपूर्वक श्रम भी करते है, किन्तु शीघ्र फल-सिद्धि न होने पर अथवा किसी प्रकार का कठिनाई आ जाने पर उसे छोड देत है। फिर दूसरा कार्य प्रारम्भ कर देत हैं और उसका भी अत इसी प्रकार से होता है। बार-बार ऐसा होने से अत म वे अपने द्वारा किसो भी कार्य का होना असम्भव मान लत हैं। ऐसे निर्बल व्यक्ति जीवन मे कभी सफलता प्राप्त नही कर पाते। रवीन्द्रनाथ टैगौर की एक कविता मे सम्भव असम्भव से प्रश्न पूछता है—"तुम्हारा निवासस्थान कहाँ है ?" असम्भव उत्तर देता है—"निर्बल के स्वप्न मे।"

वास्तव मे असम्भव शब्द निबलो के तथा कायरो के कोष मे ही होता है। वाल्टर स्कॉट ने कहा है —

"To the timid and hesitating everything is impossible because it seems so"

अर्थात्—कायरो और सशयशील व्यक्तियो के लिये प्रत्येक वस्तु असम्भव है, क्योंकि उसे ऐसी ही प्रतीत होती है।

प्रत्येक कायर व्यक्ति कार्यारम्भ मे उत्साह, मध्य मे शिथिलता और अंत मे उदासीनता का पल्ला पकडते हुए अपने कार्य को त्याग देता है। प्रत्येक साधक को अर्थात् कर्मो का नाश करने की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु को साधना आरम्भ करने से पहले अपने पौरुष को जगाना आवश्यक है। जो अपनी आत्मा

की शक्ति को भूलकर कर्म शक्ति के सामने झुक जाते है, अपने अध्यवसाय को शिथिल बना देते हैं और अपनी साधना से हताश और निराश हो जाते हैं वे दुर्बल व्यक्ति कभी अपनी साधना के मधुर फल को प्राप्त नहीं कर सकते। बिना उत्साह के जो कार्य किया जाता है उससे आत्मा ऊब जाती है और उसकी कर्म-शक्ति मद पड जाती है। इसलिये अपने अध्यवसाय मे कभी भी शिथिलता अथवा अनुत्साह न लाते हुए साधक को लक्ष्य-प्राप्ति होने तक अनवरत साधना करनी चाहिये। परिश्रम और अध्यवसाय से मनुष्य वह कार्य भी सिद्धि कर लेता है जिसके लिये उसमे जन्मजात प्रतिभा नहीं है। तभी कहा जाता है :—

करत करत अभ्यास के, जडमति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते, सिल पर परत निशान।

अत्यन्त मंद बुद्धि वाला व्यक्ति भी अगर निरन्तर अभ्यास करे तो महा विद्वान् बन जाता है जैसे कठोरतम पत्थर रस्सी का बार-बार आघात पाकर घिस जाता है। कार्य कितना भी कठिन क्यो न हो, उसके पीछे अगर व्यक्ति पड जाय तो वह निश्चय ही सहज बन जाता है। सोचना उसे यह चाहिये —

'कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि।'

कार्य करके रहेंगे या शरीर ही त्याग देंगे। ऐसे निश्चय के साथ जुट जाने वाले व्यक्ति तो पहाड को भी अपने सम्मुख झुका सकते हैं। प्रत्येक महान कार्य के लिये, वर्षों तक निरन्तर श्रम करना पडता है। अनेक महापुरुषो की जीवनियाँ यही कहती हैं।

प्रसिद्ध वक्ता शेरिडन जब सर्वप्रथम पार्लियामेट मे बोले तो [illegible] प्रारम्भिक भाषण को सुनकर एक संवाददाता ने उनका उपहास कर[illegible] [illegible]-पूर्वक कहा—"क्षमा कीजिये, मुझे यह कहते हुए दुख होता है कि [illegible] आपकी शक्ति के बाहर है।"

सुनकर शेरिडन तनिक भी हताश नही हुए और बोले—"[illegible] काम बिलकुल मेरी क्षमता के भीतर है और इसका [illegible] ही आपको मिल जाएगा।"

शेरिडन निरतर अपने विषय के अध्ययन और [illegible] लगे रहे। अत मे वे इतने अच्छे वक्ता हो [illegible] के अग्रेज गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज के [illegible] के विरुद्ध दिये गए उनके भाषणो को [illegible] कि ऐसे भाषण पार्लियामेन्ट की सभा [illegible]। [illegible] के भाषण इस सबध मे ऐतिहासिक [illegible]

इतिहास हमे स्पष्ट बताता है कि ससार के प्रत्येक महान् कार्य के पीछे वर्षों का अनवरत श्रम छिपा हुआ है। साम्राज्ञी मुमताजमहल की यादगार मे बनाया हुआ ताजमहल ससार के समस्त स्त्री-पुरुषो के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। उसमे कितने वर्षों का श्रम लगा है? मिश्र के मैदान मे तैयार किये गए ससार प्रसिद्ध पिरामिड, यरुशलम के भव्य और विशालकाय मदिर क्या थोडे से श्रम से तैयार हुए हैं? आकाश को छूने वाले आल्पस पर्वत पर मनुष्यों के अभियान, और चन्द्रलोक की धरती पर पैर रखने के प्रयत्नो ने क्या थोडा सा समय और श्रम लिया है? नही, यह सब वैज्ञानिको के वर्षों के निरतर अध्यवसाय का फल है। वास्तव मे दृढ सकल्प पूर्वक अध्यवसाय किया जाय तो असभव भी सभव हो जाता है—

आगन वेदी वसुधा, कुल्या जलधिः स्थली च पातालम्।
वल्मीकश्च सुमेरुः, कृतप्रतिज्ञस्य धीरस्य॥

अर्थात्—दृढप्रतिज्ञ अध्यवसायी के लिये समस्त ससार घर के आगन समान, समुद्र एक क्षुद्र नदी के समान, पाताल स्थल के समान और सुमेरु पर्वत दीमक के घरौंदे के समान होता है।

सच्चा अध्यवसायी अपने कार्य मे लगने वाले समय को नही देखता, वह अपने कार्य के परिमाण को देखता है। प्रसिद्ध इतिहासकार गिबन ने बीस वर्ष मे रोम साम्राज्य का पतन' नामक महान् ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखा। वेबस्टर ने अग्रेजी का शब्दकोष छब्बीस वर्षों मे तैयार किया। हमारे देश का महाभारत ग्रन्थ लिखने मे तो न जाने कितना समय लगा होगा। इसका सस्कृत से अग्रेजी अनुवाद करने मे ही प्रतापचन्द्रपाल और किशोरीमोहन गागुली ने अपना सारा जीवन लगा दिया, जो सौ भागो मे छपने जा रहा था।

तात्पर्य यही है कि महान् कार्य के लिये कभी समय को नही देखा जाता, चाहे उसे करने मे सम्पूर्ण जीवन ही क्यो न व्यतीत हो जाए। ससार प्रसिद्ध वक्ता शेरिडन, जिसका मैंने अभी-अभी उदाहरण दिया है, उसने कहा है —

"A lif. spent worthily should be measured by deeds, not years"

अर्थात्—योग्यता से व्यतीत हुए जीवन को हमे वर्षों से नही, अपितु कर्मों के पैमाने से नापना है।

बधुओ! अध्यवसाय के महत्त्व को आपने समझ लिया होगा पर मैं जो अब कहने जा रही हूँ उसे और अधिक ध्यान देकर समझने की आवश्यकता है। मेरे कथन का आशय यह है कि भौतिक कार्यों की सफलता के लिये भी जब

मनुष्यो को वर्षों परिश्रम करना पडा, दूसरे शब्दो मे भौतिक वस्तुओ के निर्माण मे भी जब मनुष्यो के वर्ष के वर्ष समाप्त हो गए तो फिर अनन्त कर्मों का नाश करने मे भी अगर लम्बा काल और सम्पूर्ण जीवन लग जाए तो कौन सी बडी बात है ? कहाँ तो अनन्त जीवन के अनन्त कर्म और कहाँ इस छोटे से जीवन की थोडी सी साधना। सभव है कि कई जन्म भी कर्मों के इस पर्वत को चूर करने मे लग जायें।

एक बात मुझे और भी कहनी है। वह यही कि अनन्त कर्मो के नाश के लिये एक जीवन या अनेक जीवन लग सकते है यह समझकर आप हतोत्साह न हो जायें। मैं पहले भी बता चुकी हूँ कि दृढ सकल्प मे अद्भुत शक्ति होती है। अगर साधक की आत्मा अडिग सकल्प कर लेती है, उसमे आत्म-जागरण की ज्योति जल जाती है तो अनन्त कर्मों का नाश आधे क्षण मे भी हो सकता है। नवदीक्षित गजसुकुमाल ने सयम जीवन के प्रथम दिन ही अपनी अल्प काल की साधना से न जाने कितने जन्मो के कर्मों का क्षय कर दिया था और प्रतिदिन सात मनुष्यो के खून से हाथ रगने वाले महा हत्यारे अर्जुनमाली ने भी बहुत थोडे समय की साधना के बल पर अजर-अमर पद प्राप्त कर लिया था।

अखड साधना की शक्ति ऐसी ही होती है। कर्मों को आप लकडी का एक भारी लट्ठा ही समझिये। जिसे अनवरत घिसा जाय तो बहुत लम्बे काल मे वह समाप्त हो पाएगा, किन्तु उसी मे अगर आग लगा दी जाए तो अल्प समय मे ही उसकी राख हो जाएगी। साधना भी वह्नि के समान ज्वलत बन सकती है और समस्त कर्म समय मात्र मे ही उसमे भस्म किये जा सकते हैं। आवश्यकता है आत्मा की ज्वलत शक्ति को जगाने की। सभी की आत्मा मे वह छिपी रहती है, सुप्तावस्था मे बनी रहती है उत्कट साधना से उसे सिर्फ उभाडने की आवश्यकता है। बाहर कहीं ढूढने जाने की जरूरत नही। एक उर्दू कवि ने मूर्तिकार को सबोधित करते हुए कहा है, बुतसाज ! तुमने जिस पत्थर को तराश कर मूर्ति का रूप दिया है वह तो उसमें पहले से ही थी —

तू क्या समझेगा ऐ बुतसाज !
यह परदे की बातें हैं।
तराशा जिसको, थी पहले से,
वह तसवीर पत्थर मे।

कितना सुन्दर उदाहरण है ! आत्म-शक्ति के सबध मे भी यही बात है। शक्ति आत्मा मे ही रहती है। किन्तु उसकी पहचान हमे गुरु कराते हैं।

मूर्तिकार पत्थर मे से मूर्ति निकालकर उसकी हमारे बाह्य नेत्रो को पहचान कराते हैं और गुरु हमारी अन्तर्दृष्टि को खोलकर आत्म-शक्ति का दर्शन कराते हैं। इसीलिये मैंने कल कहा था कि साधक की साधना मे सर्व प्रथम सहायक और साधन गुरु ही हैं। माता-पिता शरीर देते है किन्तु इस पार्थिव शरीर से, अक्षय सुख कैसे प्राप्त किया जाता है, यह गुरु ही बताते हैं। सद्गुरु के सहवास मे रहने से ही आत्मा पर विकारो के जो परदे पडे रहते हैं वे हट सकते हैं और आत्मा निर्मल तथा शक्तिमान बन सकती है। बुद्ध चरित्र मे एक छोटी सी कहानी आती है · —

एक बार भगवान बुद्ध किसी नगर के बाहर एक विशाल उद्यान मे ठहरे थे। प्रतिदिन जनता उनके दर्शनार्थ जाया करती थी। अमीर और गरीब सभी की बुद्ध के प्रति अपार भक्ति थी। एक दिन नगर का राजा उनके दर्शनार्थ जा रहा था। उधर से एक धनी व्यापारी भी उसी उद्देश्य से निकला।

रास्ते मे उन्हे एक माली मिला, जिसके पास एक सुन्दर और सुगंधित कमल का फूल था। राजा और व्यापारी दोनो ने ही कमल खरीदकर बुद्ध के चरणो मे चढाना चाहा। व्यापारी ने पहले माली से कमल की कीमत पूछी। माली ने चार पैसे बताई।

राजा बोला—"मैं दो आने दूँगा कमल मुझे दे दो।"

साहूकार कैसे पीछे रहता। उसने तो पहले ही दाम पूछा था। बोला—"मैं चार आने दूँगा।"

राजा ने फिर कहा—"मुझसे आठ आने ले लेना।"

तब साहूकार ने एक रुपया निकाल कर कमल माँगा।

इस प्रकार कमल की कीमत बढती गई। यह देखकर माली ने विचार किया 'ये लोग जिसके पास कमल ले जाना चाहते हैं यदि उसके पास मैं ही ले जाऊँ तो मुझे बहुत कीमत मिलेगी।' इस विचार से माली बोला—"मैं आप दोनो मे से किसी को भी कमल नही दूँगा। आप लोग पधारिये।"

राजा और व्यापारी जाने लगे तो माली भी उनके पीछे-पीछे चलता हुआ बुद्ध के समीप पहुँचा। राजा और साहूकार की तरह उसने भी नमस्कार किया और भगवान बुद्ध के चरणो मे कमल रखकर एक ओर बैठ गया।

बुद्ध के दर्शन करते ही कमल की कीमत लेने का तुच्छ विचार माली के मन मे से निकल गया और वह बुद्ध का अनुगामी बन गया।

जब क्षण भर के दर्शन का ही इतना प्रभाव पड सकता है तो फिर गुरु-समागम मे अगर अधिक समय रहा जाय तो क्यो नही मन निर्मल बनेगा और

आत्मा उन्नत होगी ? निर्भय, निस्पृह, निरहंकार और संयमी गुरु निश्चय ही साधक को साधना का सही मार्ग बताएँगे और अटूट अध्यवसाय की शक्ति पैदा करेंगे। जो कर्मों का नाश करने का कारण बनेगी।

निस्सन्देह कर्म बलवान होते हैं, क्योकि उन्ही के कारण जीव नाना योनियो मे भ्रमण करता है, नाना प्रकार के भयंकर दु खो को भोगता है। किन्तु यह मत भूलिये कि कर्मों को उत्पन्न करने वाली आत्मा ही है। अत कर्म कितने भी बलवान क्यो न हो, आत्मा की शक्ति के समक्ष हीन ही साबित होंगे। अगर उन्हे नष्ट करने का सकल्प कर लिया जाएगा तो उनका क्षय हुए बिना नही रह सकेगा। आत्मा अपने को बधनो मे बाँधती है तो उसे मुक्त करने की भी शक्ति रखती है। जिस समय यह अज्ञान और मिथ्यात्व के पाश मे बंधी रहती है, अपने स्वरूप को भूली रहती है और यह भूल ही समस्त बुराइयो का कारण बनती है।

इसलिये आत्मा-स्वरूप को समझना आवश्यक है और इसी को साधना कहते हैं। प्रत्येक साधक के हृदय मे दृढ विश्वास होना चाहिये कि मैं अनन्त शक्ति-सम्पन्न हूं और अनन्त कर्मों का नाश करने की क्षमता रखता हूँ। जिस क्षण उसका यह विश्वास जागृत हो जाएगा उसी क्षण से कर्म-बन्धनो को छिन्न-भिन्न कर देने का अध्यवसाय आरम्भ हो जाएगा।

साधना करने के लिये समय और साधन की प्रतीक्षा मे बैठे रहना अपने जीवन के अमूल्य क्षणो को नष्ट करना है। क्योकि यह नश्वर देह किसी दिन निश्चेतन हो जाएगी इसका कोई पता नही। हो सकता है साधक को अपना अध्यवसाय प्रारम्भ करने के लिये सोचा हुआ क्षण कभी आए ही नही। महर्षि वसिष्ठ ने समय की प्रतीक्षा करने वाले प्राणियो से प्रश्न किया है —

ये शूरा ये च विक्रान्ता, ये प्राज्ञा ये च पडिता ।
तैस्तैः किमिव लोकेस्मिन्, वद दैव प्रतीक्ष्यते ॥

—योगवाशिष्ट

अर्थात्—जो लोग शूर हैं, पराक्रमी बुद्धिमान् हैं, ज्ञानी हैं—बतलाओ उनमे से कौन इस ससार मे भाग्य की प्रतीक्षा करता है ?

अध्यवसायी के लिये प्रत्येक मुहूर्त शुभ होता है। सुअवसर की प्रतीक्षा मे बैठना भारी नादानी है। जो व्यक्ति काम को टालते हैं वे अपने ही साथ विश्वासघात करते हैं। एक अग्रेज कवि ने बडी सुन्दर पक्तियाँ लिखी हैं —

"Tomrrow I will live—The fool doth say.
Today itself is too late, The wise men lived yesterday."

—Cowley

अर्थात्—वह मूर्ख है जो कहता है कि मैं आगामी दिन से अपना जीवन कार्य प्रारम्भ करूँगा; आज ही बहुत विलम्ब हो गया है, बुद्धिमान् लोग तो कल ही अपना कार्य समाप्त कर चुके हैं।

वास्तव मे बुद्धिमान् वही है जो भविष्य के भरोसे नही बैठता। साधनो की कमी का बहाना करके अपने अध्यवसाय की शक्ति मे जंग नही लगने देना चाहिये। अध्यवसाय मे एक ऐसा बल होता है कि समस्त प्रतिभा और योग्यता भी उसके साथ जादू की तरह कार्य करने लग जाती है।

कर्म फलाशा का त्याग—साधक को अपनी साधना दृढ संकल्प और अटूट अध्यवसाय के साथ करनी चाहिये, किन्तु साधना से प्राप्त होने वाले फल की कामना नही करना चाहिये। साधना के फल की चाह के साथ अगर अध्यवसाय किया जाएगा तो साधना सफलीभूत नही होगी, उसमे शिथिलता आ जाएगी। साधना के फल के प्रति साधक की आत्मा मे विश्वास होना चाहिये, चाह नही। कर्म फल मे चाह होने से फल के प्रति आसक्ति और लोलुपता बनी रहती है तथा विश्वास होने पर उसकी ओर से उपेक्षा हो जाती है। जब तक कर्म फल की आकाक्षा साधक के मन मे बनी रहती है, उत्कंठा और अधीरता उसके मन को घेरे रहती है तथा का हुई साधना का लेखा-जोखा किया करती है। परिणाम यह होता है कि समय और श्रम का परिणाम तनिक भी ज्यादा होते ही साधक के मन मे साधना के फल के प्रति सन्देह, निराशा और निरुद्यमता अपना घर करने लग जाते है।

एक बालक आम की गुठली को जमीन मे गाडता है। उसके मन मे मीठा आम खाने की लालसा बडी तीव्र होती है। अधीरता के कारण एक-दो दिन मे ही वह उसे खोदकर देखता है कि गुठली मे अकुर फूटा या नही ? कई बार इस प्रकार करने पर आम की गुठली मे अंकुरित होने की शक्ति ही नही रह जाती और कुछ दिन बाद बालक निराशा और क्षोभ के मारे गुठली को खोद कर फेक देता है।

यही हाल फल की आकाक्षा रखने वाले व्यक्ति की साधना का होता है। यदि गहराई के साथ विचार किया जाय तो महसूस होगा कि मनुष्य का सच्चा आनन्द कर्म मे होता है, उसके फल मे नही। जैसा कि अभी थोडी देर पहले मैंने बताया था कि इगलैण्ड के प्रसिद्ध इतिहासकार गिबन ने बीस वर्षो मे "रोम साम्राज्य का पतन" नामक बडा ऐतिहासिक ग्रन्थ पूरा किया। किन्तु जिस दिन वह समाप्त हुआ उस दिन रात्रि को गिबन रोता रहा और रोते-रोते ही उसने चद पक्तियाँ लिखी—"अब कल मैं क्या करूँगा ? कल यह आनन्द कहाँ रहेगा ? अब मैं क्या पढूँ ? क्या लिखूँ ?"

कर्म के प्रति कितनी लगन और तल्लीनता थी गिबन मे? वर्षों के परिश्रम का फल पाकर भी उसे उतनी खुशी नहीं हुई, जितना कार्य की निरन्तरता टूट जाने से दुख हुआ। महापुरुषो का यही स्वभाव होता है। श्रीकृष्ण ने गीता मे कहा है —

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

अर्थात्—कर्म मे ही तुझे अधिकार है, उससे उत्पन्न होने वाले फलो मे कदापि नही। कर्म का फल तेरा हेतु न हो। कर्म न करने का भी तुझे आग्रह न हो।

हमारी आध्यात्म प्रधान भारतीय सस्कृति भी ऐसी ही साधना करने की प्रेरणा देती है। कहती है—कर्म करो किन्तु फल के लिये लालायित मत रहो, विह्वल मत बनो और अधीरता त्यागो! महान् फल चुटकी बजाते ही नही मिल जाया करते, उसके लिये अनन्त साधना और अविरत अध्यवसाय की आवश्यकता रहती है। वटवृक्ष दो दिन मे पूरा नही बढ जाता, अनेक वर्ष उसे खडा होने मे लगते हैं, किन्तु उसके बाद वह हजारो पथिको को छाया देता है, उनकी थकावट को दूर करता है और इस प्रकार वर्षों तक प्राणियो को सुख प्रदान करता रहता है।

साधक के लिये भी यही बात है। उसे साधना का उत्कृष्ट फल पाने के लिये उसकी आकाक्षा का त्याग करना चाहिये तथा कर्म मे ही तन्मयता पूर्वक रम जाना चाहिये। क्योकि कदम-कदम पर फल का चिन्तन करने से उसके जीवन का बहुत सा अमूल्य समय चिन्तन मे ही व्यर्थ चला जाता है। पुराण-साहित्य कहता है—बालक ध्रुव ईश्वर-प्राप्ति के चिंतन मे इतना तल्लीन रहा कि उसके सामने भगवान् जब प्रत्यक्ष आकर खडे हो गए तब भी उसके नेत्र बन्द ही रहे। साधना मे ऐसी ही समरसता होनी चाहिये।

निराशा के चगुल से बचे—कर्म-फल-त्यागी साधक कभी निराश नही होता क्योकि उसकी दृष्टि फल की ओर जाती ही नही। इसके विपरीत जो निरन्तर अपने कर्म के फल के लिए चिंतन करता रहता है, वह फल प्राप्ति मे विलम्ब होने पर दुखी तथा निराश होता है। और कभी-कभी तो हतोत्साह होकर अध्यवसाय को छोड ही देता है। ऐसे अस्थिर चित्त वाला साधक अपनी साधना मे कभी तल्लीन नही हो सकता, साध्य की प्राप्ति नही कर सकता। किसी कार्य को प्रारम्भ कर देना ही पर्याप्त नही होता उसे करते समय अखड तन्मयता और निरन्तरता भी आवश्यक है जो ऐसा नही कर सकता, उसकी साधना फल प्रदान नही करती। कवि विशाखदत्त ने लिखा है —

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारब्धमुत्तमजनाः न परित्यजन्ति।

—मुद्राराक्षस

कवि ने कहा है—नीच मनुष्य विघ्न के भय से कार्य आरम्भ ही नहीं करते, मध्यम श्रेणी के मनुष्य कार्य को आरम्भ करके विघ्न-बाधाएँ आते ही छोड देते है, किन्तु उत्तम पुरुष बारम्बार विघ्न आने पर भी आरम्भ किया हुआ कार्य नही छोडते।

यद्यपि कार्य करने की क्षमता सभी प्राणियो की आत्मा मे समान होती है। किन्तु निराशा का जन्म जिसकी आत्मा मे हो जाता है, उसकी क्षमता तिरोहित हो जाती है। निराशा वह राक्षसी है, जो प्रतिक्षण मनुष्य के अध्यवसाय का नाश करने की ताक लगाए रहती है।

विनता और कद्रू की एक प्रसिद्ध कथा है। कद्रू के यहाँ सर्प के एक हजार बच्चे पैदा हुए। यह देखकर विनता अत्यन्त दुखी और अधीर हो गई। उसने भी एक अण्डा फोड दिया। किन्तु वह परिपक्व नही हुआ था अत उसमे से लंगडा-लूला अरुण निकला। उस देखकर विनता अत्यन्त दुखी हुई किन्तु निराश नही हुई और भविष्य मे अधीरता न करने का निश्चय किया। इस निश्चय को लेकर उसने दूसरे अंडे को नही फोडा और एक हजार वर्ष तक ठहरी रही। एक हजार वर्ष के बाद उस अडे मे से पक्षीराज गरुड बाहर निकला जो भगवान् विष्णु का वाहन बना।

सिर्फ मनुष्यो को ही नही, अध्यवसाय तो देवताओ को भी करना पडता हैं। हम सभी जानते हैं :—

रत्नैर्महाब्धेस्तुतुषुर्न देवा,
न भेजिरे भीमविषेण भीतिम्।
सुधां बिना न प्रयमुर्विरामं,
न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः॥

—भर्तृहरि

देवता अमूल्य रत्न पाकर भी सन्तुष्ट नही हुए; उन्होंने समुद्र मन्थन जारी रखा। और जब उसमे से भयानक विष निकला, तब भी उससे भयभीत होकर अपने उद्योग को नही त्यागा। अमृत निकाले बिना उन्होने विश्राम ही नही लिया। इससे सिद्ध हो जाता है कि धीर पुरुष बिना साध्य की सिद्धि किये पुरुषार्थ मे विरत नही होते।

यदि साधक भी अपनी साधना का सुफल चाहता है तो उसे सैकडो वर्षों तक, इतना ही नही, जन्म-जन्मान्तर तक भी साधना करने के लिये तैयार रहना चाहिये। निराशा और अधीरता को निकट भी नही फटकने देना चाहिये। एक छोटा सा उदाहरण है —

दो भक्त भगवान् के साक्षात्कार करने के लिये तपस्या कर रहे थे। कुछ समय पश्चात् एक देवदूत आया और उसने एक भक्त से पूछा—"क्यो भाई! तुम्हारी समझ से कब तक तुम्हे ईश्वर का साक्षात्कार होगा?"

भक्त बोला—"इसी क्षण, मै बहुत अधीर हो गया हूँ।" देवदूत उससे यह कहकर चलता बना—"हजारो वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी तुम्हे ईश्वर का साक्षात्कार नही होगा।"

इसके बाद देवदूत दूसरे भक्त के पास आया और उससे भी वही प्रश्न पूछा। उत्तर मे भक्त ने देवदूत से ही प्रश्न किया—"मुझे कितने वर्षों मे साक्षात्कार हो सकेगा?"—देवदूत बोला—दस हजार वर्षों मे।"

यह सुनकर भक्त गद्गद होकर बोला—"भगवान् के साक्षात्कार मे तो करोडो वर्ष लग जाते हैं, क्या मुझे इतनी जल्दी भगवान् दर्शन दे देगे?" कहते हैं कि उसके यह कहते ही, भगवान् वहाँ आ गए और बोले—"मैं तेरे हृदय मंदिर मे ही रहूँगा।"

भक्ति और साधना एक ही चीज है। ध्येय प्राप्ति का प्रयत्न ही साधना अथवा भक्ति के नाम से पुकारा जाता है। साध्य प्राप्ति के लिये कितनी भी साधना साधक क्यो न करे, उसे थोडी ही समझे। फल चाहे मिले या नहीं, वह साधना करता चला जाय और फल की चाह त्याग दे। उसे अपना कर्म ही कर्म प्रतीत होना चाहिये, यह अनुभूति होनी चाहिये कि मेरा प्रत्येक कदम कर्म-सिद्धि है। साधन ही उस समय साध्य-रूप मे प्रतीत होना चाहिये। ऐसा निश्चय होने पर उसकी साधना का कोई भी क्षण व्यर्थ नही जाएगा।

एक मजदूर हाथ मे हथौडा लिये पत्थर पर चोटें मारता है। अगर पत्थर दस चोट मे नही टूटा और ग्यारहवी चोट मे टूट गया तो क्या उसकी पहली दस चोटें व्यर्थ मानी जाएँगी? नही, प्रत्येक प्रहार पत्थर के अणुओ पर आघात कर रहा था, उसके अणुओ को अलग कर रहा था। प्रत्येक चोट मजदूर को पत्थर तोडने के ध्येय की ओर ले जा रही थी और इसीलिये ग्यारहवी चोट पर पत्थर टूट सका।

संशय का परित्याग—साधना का मार्ग प्रारम्भ से अंत तक कठिनाइयो

से भरा हुआ है। किन्तु साधक को उनसे घबरा कर अपनी कार्य-क्षमता मे तथा उससे प्राप्त होने वाले फल मे सन्देह नही करना चाहिये। सन्देह जहाँ पैदा हुआ कि साधक की कर्म करने की शक्ति नष्ट हुई समझो। सन्देह उसे प्रसुप्त और नैराश्यपूर्ण बना कर ही छोडेगा। कहा भी है —

"Doubt is brother devil to despair."

—ओरेली

अर्थात्—सदेह नैराश्य का भ्राता है।

मानव-प्रकृति का यह अवगुण है कि जब थोडा सा भी सदेह हो जाता है तो साधारण से भी साधारण घटनाएँ उसे सदेह पूर्ण दिखाई देने लगती है। जिस प्रकार धूमकेतु की रेखा आकाश मे एक छोर से दूसरे छोर तक फैली रहती है, उसी प्रकार सन्देह साधना के प्रत्येक भाग पर छा जाता है। और उसे खोखली बना देता है।

शकाशीलता के कारण मानव की समस्त क्षमताएँ दब जाती हैं। न उसे अपनी कार्य-क्षमता पर विश्वास रहता है और न कार्य के द्वारा प्राप्त होने वाले लाभ पर। परिणाम यह होता है कि साधना के नाम पर उसकी जीवन-शक्ति का अपव्यय होता रहता है। ससार की असारता से विरक्त होकर कर्मों के नाश की आकाक्षा रखता हुआ साधक भी अपने उठाए हुए कदम मे विश्वास न रखने के कारण लक्ष्यहीन हो जाता है। वह अपनी शिथिल साधना पर स्वर्ग, नरक और मोक्ष की विभिन्न काल्पनिक चूँनडियाँ ओढाया करता है। वह कहता है :—

सोचता हूं जिन्दगी को कौन से रथ पर चढाऊँ।
साधना पर कल्पना की कौन सी चुनरी उढाऊँ ?
ऊब मैं इतना गया हूं, इस जगत के बधनो से,
हर डगर पर मृत्यु है, पग कौन से पथ पर बढाऊँ ?

बधुओ ! आपने समझ लिया होगा कि सशय किस प्रकार साधक की भावना को गतिहीन बना देता है ? आत्म-विश्वास की कमी उसके जीवन को कैसे लक्ष्यहीन बनाकर छोडती है। इसीलिये गीता मे कहा गया है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानस्य, सशयात्माविनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

अर्थात्—जो अज्ञानी, श्रद्धारहित और सशयवान है, उसका नाश होता है। सशयवान के लिये न यह लोक है, न परलोक है। उसे कही भी सुख नहीं है।

विधाता की इस सृष्टि मे मनुष्य को अन्य समस्त प्राणियो की अपेक्षा उत्तम शरीर, उत्तम हृदय और उत्तम मस्तिष्क मिला है। इनके द्वारा वह अपनी आत्मा को परमात्मा बना सकता है, अनन्त सुख को प्राप्त कर सकता है। किन्तु सन्देह रूपी घुन उसके साधनामय जीवन को अन्दर ही अन्दर खोखला बना दे, इससे बढकर दुर्भाग्य उसके लिये और कुछ नही हो सकता। उसे महापुरुषो की जीवनियो से शिक्षा लेनी चाहिये, जिनकी जिन्दगियाँ विपत्तियो के पहाड टूट पडने पर भी विपरीत दिशा मे नही मुडी और नियति को चुनौती देती रही —

कटकों की सेज पर भी गुनगुनाती ही रही है।
जिन्दगी हर मरहले पर गीत गाती ही रही है।
है चुनौती नियति के निर्मम सपेरे के लिये यह,
नागमणि - सी बाँबियो मे जगमगाती ही रही है।

साधक की जिंदगी ऐसी ही होनी चाहिये। उसे सन्देह, निराशा, उत्साह-हीनता तथा अधीरता, सभी का त्याग कर अपनी साधना को निष्काम बनाना चाहिये। तथा फलाफल की चिन्ता न करते हुए कर्म-रत होने का प्रयत्न करना चाहिये। निष्काम कर्म का अर्थ है ऐसा कर्म, जो आत्म भावना से किया जाए। इस भावना से किया हुआ कर्म किये जाने पर भी नवीन बन्धन उत्पन्न नहीं करता। इसी बात को गीता मे कृष्ण ने समझाया है —

न मा कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मा योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

अर्थात्—कर्म के फल की मुझे इच्छा नही, इसलिये कर्म मुझसे चिपट नही सकते। ऐसा जानकर जो कर्म करता है, उसे कर्मों का बन्धन कभी बाँधता नही।

इस प्रकार जो साधक दृढ सकल्प, अनवरत अध्यवसाय तथा निष्काम भावना रखता हुआ साधना करता है वह अपने लक्ष्य को अवश्य प्राप्त कर लेता है। जीवन का अध्ययन करने पर स्पष्ट विदित होता है कि साधना करने मे न तो किसी प्रकार की असमर्थता है और न असिद्धि, क्योकि उसके लिये किसी अप्राप्त बल, वस्तु अथवा व्यक्ति आदि की अपेक्षा नही है और न उस ज्ञान को आवश्यकता है जो साधक की आत्मा में नही है। आत्मा अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति से परिपूर्ण है। आवश्यकता है सिर्फ उसे पहचानने की और उसको शक्तियो को उपयोग मे लाने की।

कोई भी साधक किसी भी परिस्थिति मे यह नही कह सकता कि वह

साधना करने मे असमर्थ है क्योकि साधना का सम्बन्ध बाह्य पदार्थों से नही होता । वह आत्मा की योग्यताओ पर निर्भर रहती है । आत्मा की शक्तियो को अगर जगा लिया जाय तो अन्य कोई भी कारण नही है जो साधना के मार्ग मे रुकावट वन सके । । दुर्भावो का परित्याग कर निरन्तर पवित्र भावो का आश्रय लेने से आत्मा मे ज्ञान चेतना बलवती होती है और जब ज्ञान चेतना वलवती हो जाती है तो वह नवीन कर्मों के आगमन को रोक देती है । साथ ही तपस्या आदि के द्वारा साधक पूर्व सचित कर्मो का भी क्षय कर डालता है । यही साधना कहलाती है और ऐसी साधना करने वाला साधक निश्चय ही निष्कर्म दशा अर्थात् मुक्त अवस्था को प्राप्त करके अनन्त और अव्याबाध सुख का अधिकारी बनता है ।



१०

साध्य

समुद्र को रत्नो का भंडार माना जाता है। अपने उदर मे वह असख्य रत्न और मोती छिपाए रहता है। मानव उन्हे प्राप्त करने की इच्छा करता है किन्तु अगर वह ऊपर ही ऊपर तैरता रहे तो उसे कभी भी उन अमूल्य रत्नो की प्राप्ति नही हो सकती, उन्हें वही पुरुष पु गव प्राप्त कर सकता है जो सागर मे गहरी डुबकी लगा सके, गहराई तक पहुँच सके। प्राणो का मोह त्यागकर जो व्यक्ति समुद्र मे गोता लगाता है वही अपने लक्ष्य की प्राप्ति करता है, अर्थात् रत्नो को उपलब्ध करता है।

आत्मा मे भी अनन्त गुण-रूपी रत्न हैं। प्रत्येक साधक उन्हे प्राप्त करना चाहता है, किन्तु पा वही सकता है जो एकनिष्ठ होकर उनके लिये साधना करता है। साधक ससार मे अनेक हैं किन्तु सम्पूर्ण चेतना और इच्छा शक्ति को एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित करके साधना-पथ पर बढने वाले साधक विरले ही होते हैं। साधना गहरी तन्मयता और एकाग्रता चाहती है। इस स्थिति मे साधक से लक्ष्य के अन्तर का लोप हो जाता है, और लक्ष्य उसके समीप आ

जाता है। साधक और लक्ष्य की एकता अथवा अभिन्नता की अनुभूति से साधक की आत्मा मे आत्मविश्वास और शक्ति की अक्षय धाराएँ फूट पडती है। सम्पूर्ण दुर्बलताओ का अन्त हो जाता है।

आज मनुष्य ने भौतिक क्षेत्र मे जो उन्नति और प्रगति की है, प्राकृतिक शक्तियो पर विजय प्राप्त करने मे जो अपूर्व सफलता प्राप्त की है, वह आत्मा की प्रचण्ड शक्ति का ज्वलन्त प्रमाण है। जल और स्थल पर तो उसने अपना अधिकार जमा ही लिया है, अब वह आकाश मे उडता हुआ चन्द्रलोक मे भी अपना राज्य स्थापित करने जा रहा है। परमाणु का पता लगाकर उसने अक्षय शक्ति के भडार को अपने कब्जे मे कर लिया है और इस प्रकार विराट भौतिक शक्ति को अपनी मुट्ठी मे बद कर रखा है। यह सब आत्मा की अनन्त शक्ति के कारण ही सम्भव हुआ है।

किन्तु बाह्य भौतिक शक्तियो पर अपना सिक्का जमाकर भी मानव अपने आतरिक क्षेत्र मे हारता जा रहा है। प्रकृति को जीतकर विजय-दुन्दुभि बजाने वाला अपने ही केन्द्र मे पराजित हो रहा है। आन्तरिक क्षेत्र और अपने ही केन्द्र से मतलब है—शरीर, इन्द्रियाँ और मन। मन के केन्द्र मे जो इच्छाओ की तरग उठ रही है, भौतिक सुख सुविधाओ को प्राप्त करने की जो लालसा बलवती होती जा रही है, मनुष्य अपने ही शरीर का, इन्द्रियो का और मन की इच्छाओ का दास बनता जा रहा है, यह कैसी विडम्बना है।

प्रकृति से सघर्ष करके, पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि आदि तत्त्वो पर विजय प्राप्त करके आखिर क्या हासिल होगा ? यश, प्रतिष्ठा और क्षणिक सुख ही तो। पर इससे आत्मा का क्या भला होगा ? कुछ भी नही, उलटे वह बन्धनो मे जकडता चला जाएगा। एक-एक इच भूमि के लिये मनुष्य कितनो का खून बहाता है। एक-एक पैसे के लिये अमीर कितने गरीबो को भूखा रखता है। जल के वक्ष को चीरते हुए तथा आकाश मे उडते हुए वह कितने निरपराधो पर बम गिराकर उन्हे इस लोक से विदा कर देता है। परिणाम क्या होता है ? यही न, कि जिन पाप-कर्मो को मनुष्य अपनी विजय समझता है वे उसकी आत्मा को जन्म-मरण के चक्र मे अधिकाधिक पिसने को बाध्य कर देते है। तो फिर ऐसे बाह्य सघर्ष से क्या लाभ ? आत्मा का लाभ तो आत्मा के आन्तरिक शत्रुओ से संघर्ष करने मे है। अगर उन्हे जीत लिया जाय तो आत्मा हनकी हो सकती है। भगवान् महावीर ने भी यही कहा है —

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेवमप्पाण, जइत्ता सुहमेहए ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्—आत्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिये, बाहर के युद्ध से क्या लाभ है ? आत्मा से आत्मा को जीतने से ही सच्चा सुख मिलता है।

आत्मा से आत्मा को जीतना चाहिये, इसका तात्पर्य है आत्मशक्ति के द्वारा अनादि काल से आत्मा मे रहे हुए आत्मा के शत्रुओ को पराजित करना। आत्मा के शत्रु हैं, राग, द्वेष, विषय विकार आदि। ये सब आत्म-गुणो के घातक हैं, और इनका विनाश किये बिना आत्मा कर्म-बधनो से मुक्त होकर हलकी नहीं हो सकती। जब तक आत्मा कर्म रहित नही होगी, वह अनत सुखमय अक्षय-लोक को नही पा सकती।

प्राणी अनादिकाल से आनन्द की खोज कर रहा है। आनन्द ही उसका चरम लक्ष्य है, अन्तिम प्राप्तव्य है। अपनी इस खोज मे उसे आनन्द मिला है। भौतिक सुख सुविधाएँ उपलब्ध हुई हैं। उन्ही मे मनुष्य उलझ रहा है, उन्हे ही अपना प्राप्तव्य मानकर सन्तुष्ट हो रहा है। सासारिक सुखो को ही अपने जीवन का साध्य मानकर उनमे सुख का अनुभव करता रहा है।

किन्तु वह यह नही समझता कि यह समस्त आनन्द क्षणिक है, दुख-सपृक्त भी है। इसकी स्थिति विषमय मिष्टान्न जैसी है जिसका आस्वादन करने पर जिह्वा को अवश्य कुछ समय तक आनन्द का अनुभव होता है किन्तु उसका परिणाम प्राणनाश है। समस्त भौतिक सुखो का भी यही परिणाम है। इन्हें भोगते समय तो मन और इन्द्रियो को आनन्द का अनुभव होता है किन्तु इसका परिणाम, आत्मा का निबिड कर्म-बधनो से जकडना होता है जिनसे मुक्त होना उसके लिये दुष्कर हो जाता है।

इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह उस दिशा मे श्रम और साधना करे जिससे आत्मा का कल्याण हो। आत्मा कर्मों से निवृत्त हो सके। मनुष्य को साधना की आवश्यकता तो भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनो ही क्षेत्रो मे होती है। दोनो प्रकार की सिद्धियो के लिये उसे श्रम करना पडता है। किन्तु भौतिक सिद्धियो को प्राप्त कर लेने से उसकी आत्मा को कोई वास्तविक लाभ नही होता क्योकि वे नाशवान होती हैं। अनेक साधक अखड साधना करते हैं, घोर तप करते हैं, किन्तु लक्ष्य सही न होने से उस तप और साधना से उचित फल की प्राप्ति नही कर पाते। एक उदाहरण से इस बात को समझाया जा सकता है।

किसी तपस्वी साधक ने अठारह वर्ष तक उग्रतप किया, अनवरत साधना की। फलस्वरूप उसे पानी पर चलने की सिद्धि प्राप्त हो गई। सिद्धि प्राप्त कर साधक अत्यन्त प्रसन्न हुआ और अपने गुरु के पास दौड़ा आया। बोला—

"महाराज ! मेरी अठारह वर्ष की साधना सफल हुई। मुझे पानी पर चलने की सिद्धि प्राप्त हो गई।"

सुनकर महात्मा ने उत्तर दिया—"इससे क्या हुआ ? तुम भारी घाटे मे रहे। यह कार्य तो मल्लाह दो पैसे मे कर देता है। अठारह वर्ष तक घोर तपस्या क्या तुमने इस तुच्छ शक्ति को पाने के लिये ही की थी ? अगर तुम चाहते तो इतने वर्षो के घोर तप द्वारा तो भगवान् को ही प्राप्त कर लेते। सुनकर साधक अत्यन्त लज्जित हुआ और पश्चात्ताप करता हुआ लौट गया।

ऐसा परिणाम होता है लक्ष्यहीन अथवा गलत लक्ष्य निर्धारित करके साधना करने का। ससार मे ऐसे व्यक्ति कदम-कदम पर पाए जाते हैं, जो अपने जीवन का बडा लम्बा और अमूल्य समय विद्या की साधना मे गुजारते हैं। किन्तु उसके बाद किसी स्कूल या दफ्तर म नौकरी पाकर कृतार्थ हो जाते है, अपनी साधना को सफल हुई मान लते हैं। क्या यह सिद्धि बाबा जी की सिद्धि से अधिक मूल्यवान है ?

मै सोचता हू कि वर्षो तक किये हुए जिस विद्याध्ययन के प्रभाव से मानव नौकरी क बधन मे बधकर अपनी आत्मा को दब्बू और पराधीन बना लेता है, क्या उसी अध्ययन के प्रभाव से वह कर्म-बधनो क नाश का प्रयत्न कर आत्मा को सदा के लिये मुक्त नही बना सकता ?

आज हम देखते हैं कि अनेक विद्या-वारिधि अपने सिर पर असीम ज्ञान का गट्ठर लादे घूमते ह। किन्तु उससे लाभ क्या उठाते ह ? तर्क-वितर्क करके औरो को निरुत्तर कर देना या अपना वाक् पटुता द्वारा लोगो को मुग्ध कर वाहवाही हासिल करना। एसा विद्या को हम दो पैस की क्यो न मान ? कौन सा लक्ष्यवेध किया ऐस लागो न विद्या हासिल करक ? विद्या का महत्व हमारे शास्त्रो म बताया है। वास्तव म विद्या वही है जो मुक्ति प्रदान करती है :—

"सा विद्या या विमुक्तये।"

विद्या प्राप्त करने का अथवा ज्ञान लाभ करने का वास्तविक उद्देश्य यही होना चाहिये कि उसके द्वारा वह आध्यात्मिक साधना करे और कर्मबन्धनो को तोडने का प्रयत्न करे। कहा भी है :—

"ज्ञान - भावनया कर्माणि नश्यन्ति न सशयः।"

अर्थात्—सम्यग् ज्ञानपूर्वक सात्विक भावनाओ की आराधना करने से कर्म नष्ट होते है, इसम सशय नही है।

शास्त्रकारो ने आध्यात्म साधना का बडा महत्त्व बताया है। उन्होने कहा है, जो साधक अपनी आध्यात्म-साधना के बदले मे सासारिक सुख अथवा

स्वर्ग-सुख की कामना करता है वह उसी अज्ञानी व्यक्ति के समान है जो चिन्तामणि रत्न के बदले शाक-भाजी जैसी तुच्छ वस्तुएँ क्रय कर लेता है। सासारिक वैभव और स्वर्ग का साम्राज्य भी आध्यात्म-साधना की तुलना मे अत्यन्त हीन कोटि का साबित होता है। विश्व का समस्त धन, और इन्द्र का समग्र साम्राज्य भी उसके सामने कुछ नहीं है। जो साधक अपनी आध्यात्म साधना के बदले सासारिक वैभव, यश, अथवा प्रतिष्ठा प्राप्त कर सतुष्ट हो जाता है, समझना चाहिये कि उसने अपनी अमूल्य साधना को कौडियो के मोल लुटा दिया है।

साधक अपनी साधना द्वारा ही साध्य की प्राप्ति करता है। अत साधना प्रारम्भ करने से पहले उसे अपने साध्य का भली-भाति चुनाव कर लेना चाहिये। हमारी आध्यात्म-साधना का लक्ष्य और ध्येय यश, प्रतिष्ठा, अथवा भौतिक सुख प्राप्त करना नहीं है। उसका एकमात्र लक्ष्य है आध्यात्म-भाव, विकारो से मुक्ति और कर्मों का नाश। इसे ही हम मोक्ष कहते हैं।

साधना के क्षेत्र मे साधक जो कुछ भी करे निष्काम भाव से करे। मन मे किसी प्रकार का स्वार्थ, भौतिक अथवा स्वर्गिक सुख की कामना और अभिलाषा न रखे। जिस साधना के पीछे कोई कामना होगी, उसे आध्यात्म-साधना नही कहा जाएगा। न ही उस साधक को साधक कहा जाएगा जो साधक का बाना मात्र पहनकर साधना पथ पर अग्रसर हो रहा है। और मनोयोग के बिना केवल तन से ही साधना करता हुआ दिखाई देता हो।

केवल तन के द्वारा जो तपस्या की जा सकती है उससे मर्त्यलोक तथा स्वर्गलोक के सुखो को प्राप्त किया जा सकता है —

"तपो मूलमिदम् सर्वं दैवं मानुषकं सुखम्।"

—मनुस्मृति

अर्थात्—देवता सबधी और मनुष्य सबधी सभी सुखो की जड तप ही है।

किन्तु इस प्रकार का तप कितना भी घोर क्यो न हो, उससे मोक्ष-पद की प्राप्ति नही की जा सकती। जन्म-मरण के बन्धनो से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। शास्त्रो मे कहा है —

मासे मासे उ जो बालो,
कुसग्गेण तु भुंजए।
ण सो सुअक्खाय धम्मस्स,
कलं अग्घइ सोलसिं।

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्—अज्ञानी पुरुष एक-एक महीने की घोर तपस्या करते हैं और उसके पश्चात् पारणा के दिन मात्र कुश के अग्रभाग जितना आहार ग्रहण करते हैं फिर भी उनकी तपस्या अरिहत देवो द्वारा प्ररूपित धर्म की सोलहवी कला के बराबर नही है।

अभिप्राय यह है कि तन से की जाने वाली तप-क्रिया मे अगर मन साथ नही है, तो वह क्रिया निर्जीव हैं और उससे आत्मा का कल्याण नही हो सकता। व्रत-उपवास करके या पचाग्नि तप के द्वारा शरीर को सुखा देने पर भी जब तक मन पर सयम नही किया जाएगा, आत्मा की साधना नही हो सकेगी। क्योकि पाप-कर्म शरीर के द्वारा नही होते, वे मन के द्वारा किए जाते हैं .—

"मनसैव कृतं पापं, न शरीरकृतं कृतम् ॥"

अर्थात्—पाप शरीरकृत नही, मनस्कृत ही होता है।

इसलिये साधक को सर्वप्रथम अपने मनको वशीभूत करने का प्रयत्न करना चाहिये। चित्त जितने अंश मे आत्मा मे स्थिर रहता है, उतना ही वह निगृहीत समझा जाता है। मन पर विजय पा लेने वाला साधक ही आत्मा के समस्त विकारो को जीत सकता है और इसी को आध्यात्म साधना कहा जाता है। शास्त्र मे कहा है —

एगे जिए जिया च, पच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं।

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्– एक मन को जीत लेने पर पाँच (इन्द्रियो को) जीत लिया जाता है और पाँच को जीत लेने पर दस (मन, पाँच इन्द्रियाँ और चार कषाय) जीत लिये जाते हैं। इन दस को जिसने जीत लिया, उसने समझो समस्त आत्मिक शत्रुओ को जीत लिया।

आत्मा के ये शत्रु ही उसे बन्धन मे जकडे रखते हैं। किन्तु जब वह इन पर काबू पा लेती है, उसमे शुद्धोपयोग की धारा प्रवाहित होने लगती है, समाधि भाव और समदर्शन जाग उठता है तब वह सम्यग् ज्ञान की उज्जवल ज्योति से अज्ञानाधकार का नाश कर मुक्ति की ओर अग्रसर हो जाती है। मुक्ति ही आध्यात्म-साधना का सच्चा साध्य है।

जो साधक, ससार से मुक्त होकर अक्षय सुख की प्राप्ति करने को ही अपना लक्ष्य मानते हैं, वे अनिश्चय, भ्रम, भेद और सन्देह से ऊपर उठ जाते हैं। उनके सामने एक ही प्रश्न रहता है, लक्ष्यवेध कैसे होगा ? अपने लक्ष्य के

अलावा उनकी दृष्टि अन्य किसी ओर नही जाती। पाण्डु-पुत्र अर्जुन की तरह उनकी तन्मयता और एकाग्रता अपने लक्ष्य पर ही अविचलित रूप से बनी रहती है।

घटना महाभारत काल की है और प्रसिद्ध है। आचार्य द्रोण राजकुमारो को बाण-विद्या सिखा रहे थे। शिक्षा समाप्त होने पर अन्तिम परीक्षा के लिये समस्त राजकुमारो को एकत्र किया गया।

आचार्य ने एक वृक्ष पर स्थापित की हुई चिडिया की एक आँख की पुतली का लक्ष्य-वेध निर्धारित किया। निशाना साधते समय द्रोण ने प्रत्येक राजकुमार से क्रमानुसार पूछा—"तुम्हे क्या दिखाई देता है ?"

किसी ने कहा, वृक्ष की टहनी पर चिडिया बैठी है। उसकी आँख दिखाई दे रही है। किसी ने बताया, चिडिया को देख रहा हूँ और उसकी आँख पर निशाना लगा रहा हूँ। मतलब यही कि किसी ने कुछ उत्तर दिया और किसी ने कुछ। पर सभी को अनेक पदार्थ दिखाई देते रहे। अन्त मे अर्जुन की बारी आई। आचार्य ने उससे भी वही प्रश्न पूछा। अर्जुन ने उत्तर दिया—

"गुरुदेव, मुझे तो आँखो की पुतली के अलावा और कुछ भी दिखाई नही देता।"

आचार्य ने हर्षित होकर कहा—"वत्स! इतने राजकुमारो मे सिर्फ तुम ही लक्ष्य-वेध कर सकते हो।"

साधक की दृष्टि भी अपने साध्य की ओर ऐसी ही होनी चाहिये। मन की सम्पूर्ण चेतना और इच्छा शक्ति अपने लक्ष्य पर ही केन्द्रित रहना चाहिये। साध्य की सिद्धि एकाग्रता और तन्मयता से ही हो सकती है। अस्थिर चित्त व्यक्ति की मेधा-शक्ति कितनी भी प्रबल क्यो न हो, कितनी भी उच्च बौद्धिक शक्तियो का वह अधिकारी क्यो न हो, कभी भी अपने साध्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

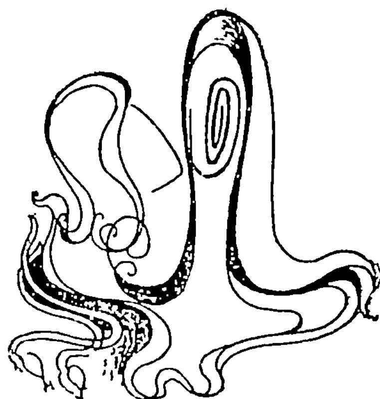
एस० डी० कालरिज महाविद्वान् और मेधावी था किन्तु अनिश्चित मन का था। कभी एक काम करता और कभी दूसरा। कभी किसी विषय पर लिखता और कभी किसी पर। इस अनिश्चय और चचलता ने उसका समस्त जीवन-सत्व नष्ट कर दिया। वह बहुत कुछ करना चाहता था पर कुछ न कर सका और इसी स्थिति मे एक दिन ससार से विदा हो गया।

मृत्यु के उपरान्त जब उसके पढने लिखने के कमरे की खोज की गई तो लगभग चालीस हजार निबन्ध उसके कागज पत्रो मे से निकले। सब दर्शन और मनोविज्ञान से सम्बन्धित थे। किन्तु सब अधूरे थे, एक भी पूरा नही था।

एकाग्रता की कमी के कारण उसकी प्रतिभा व्यर्थ चली गई। ससार उसकी शक्ति और ज्ञान से कोई लाभ नही उठा सका।

साधक के लिये भी यही बात है। अगर यह मानव जीवन के लक्ष्य को हृदयगम नही कर लेता है तो उसकी साधना सही पथ पर नही चल सकती। जैसा साध्य होता है साधना भी उसके अनुरूप ही करनी पडती है। अन्यथा सिद्धि प्राप्त नही हो सकती। आत्मा का लाभ संसार से मुक्त होने मे है, अतः साधक को यही लक्ष्य ध्यान मे रखते हुए समस्त विषय-विकारों का त्याग करना चाहिये तथा आध्यात्म-भाव की ओर उन्मुख होना चाहिये। जिस साधना का लक्ष्य आध्यात्म भाव नही होता वह स्थायी एवं स्थिर नही रह पाती। खोखली हो जाती है। और तब उसका करना और न करना समान साबित होता है।

इसके विपरीत जो साधक मन वचन और काय से एकाग्रतापूर्वक आध्यात्म साधना करते हैं वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निराकार, निष्कलुष और शुद्ध चेतनामय बन जाते हैं।



११

मानवता की कसौटी, कर्त्तव्यपालन

[प्रथम खण्ड]

धर्म प्रेमी बंधुओ !

आज कर्त्तव्य पालन के सम्बन्ध मे कुछ विचार करना है। कर्त्तव्य शब्द अत्यन्त जाना-पहचाना और छोटा सा है, किन्तु कर्त्तव्य का पालन करना सरल नही है। कर्त्तव्य की कसौटी पर मनुष्य अपने बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक कसा जाता है किन्तु उस पर कसा जाकर सदा खरा नही उतर पाता। कोई विरला व्यक्ति ही खरा उतरता है और जो उतरता है संसार के लिये आदर्श बन जाता है, अमर हो जाता है। ससार मे जितने भी महापुरुष हुए हैं, और जिनकी कीर्ति से मनुष्य जाति का इतिहास प्रकाशित है, वह सब अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा का ही मधुर फल है। ससार की कठिनाइयो और उलझनो से जो कभी भयभीत नही हुए, प्राणनाश की सम्भावना से डरकर भी जिन्होंने कर्त्तव्य-मार्ग से अपने चरण नही मोडे, वही पुरुष युग पुरुष कहलाए। उनके समक्ष कर्त्तव्य शब्द एक ज्वलत सत्य के समान बना रहता था। उनका मन प्रतिपल एक ही बात विचारता था —

कर्त्तव्यमेव कर्त्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
अकर्त्तव्य न कर्त्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥

अर्थात्—भले ही प्राण क्यो न चले जायँ, मनुष्य को अकर्त्तव्य न करके कर्त्तव्य का ही पालन करना चाहिये ।

कर्त्तव्य का पालन करने से आत्मा मे साहस और शक्ति की वृद्धि होती है । इतना ही नही, कर्त्तव्यपालन वह सीढी है जिसके द्वारा मनुष्य उच्चता की ओर चढता चला जाता है । अगर एक कर्त्तव्य पूरा कर लिया जाय तो वह स्वत ही दूसरे कर्त्तव्य का पालन करने की प्रेरणा प्रदान करता है । एक पाश्चात्य विद्वान् ने भी कर्त्तव्य पालन का महत्त्व बडे सुन्दर शब्बो मे बताया है । कहा है'—

"The reward of one duty done is the power to fulfil another."
—जार्ज इलियट

अर्थात्—एक कर्त्तव्य-पूर्ति का पुरस्कार है, दूसरे कर्त्तव्य को पूर्ण करने की योग्यता ।

ये शब्द अक्षरशः सत्य हैं । मानव अगर अपने एक भी कर्त्तव्य का सही रूप से पालन कर लेता है तो उसे अन्य अनेक कर्त्तव्यो का पालन करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है । शर्त यही है कि वह अपने कर्त्तव्यो का पालन निस्वार्थ भाव से करे। निस्वार्थ भाव से किये गए कर्त्तव्य ही मधुर फल प्रदान करते हैं । गीता मे कहा भी गया है —

तस्मादसक्त सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचारन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

—भगवद्गीता

अर्थात्—फल की इच्छा छोडकर निरन्तर कर्त्तव्य-कर्म करो । जो पुरुष फल की अभिलाषा छोडकर कर्म करते हैं उन्हे अवश्य मोक्ष-पद प्राप्त होता है ।

जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को नही पहचानते वे मानव होते हुए भी पशु के समान जीवन-यापन करते हैं, वल्कि अनेक पशु-पक्षी तो अपनी थोडी सी बुद्धि के द्वारा भी अपने कर्त्तव्य को जान लेते हैं और उसकी पूर्ति मे प्राणो को भी त्यागना पडे तो त्याग देते हैं । कुत्तों की स्वामिभक्ति के अनेक उदाहरण इस ससार मे मिलते हैं, जो अपने स्वामी की प्राण रहते तक जी जान से सेवा करते है । जटायु एक पक्षी था पर सीता की रक्षा करने के प्रयत्न मे उसने अपने प्राणो का वलिदान कर दिया था ।

मगर देखना यह है कि कर्त्तव्य क्या है ? जीवित रहने के नाते कुछ न

कुछ करते रहना ही कर्त्तव्य या कर्म नही कहलाता। कर्त्तव्य वे ही कार्य कहलाते हैं, जिन्हे करने से स्व और पर का हित होता हो। अन्यथा प्रत्येक जीवित प्राणी के हाथ पैर कुछ न कुछ क्रिया तो करते ही हैं। उस व्यर्थ क्रियाओ को हम कर्त्तव्य नही कह सकते। महात्मा कबीर ने कहा है :—

एक कर्म है बोना, उपजै बीज बहूत।
एक कर्म है भूंजना, उदय न अकुर सूत॥

काम वही करना चाहिये जिससे कुछ न कुछ लाभ हो। लाभ भी सिर्फ शरीर का ही नही वरन् आत्मा का भी होना चाहिये। अपने श्रेष्ठ कर्मो से मनुष्य अपनी तथा औरो की आत्मा को निर्दोष बनाए तथा ऊँचा उठाने का प्रयत्न करे तभी उसका कर्म करना सार्थक है। एक सुप्रसिद्ध विचारक ने लिखा है —

"There is a perennial nobleness and even sacredness in work" —कारलाइल

अर्थात्—कर्म मे निरतर श्रेष्ठता तथा पवित्रता भी होती है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक समाज मे रहता है। उसे अपने परिवार के, पडौसियो के, नगरनिवासियो के तथा देशवासियो के सम्पर्क मे आना पडता है। जिनमे उसके माता-पिता, पत्नी, पुत्र, गुरु और आगे चलकर शिष्य आदि सभी सम्मिलित हो जाते हैं। उन सभी के प्रति उसका कैसा व्यवहार होना चाहिये ? भिन्न-भिन्न सम्बन्धियो और सपर्क मे आने वाले व्यक्तियो के प्रति उसे किस प्रकार अपने कर्तव्य अदा करने चाहिये, यह जानना मानव के लिये आवश्यक ही नही, वरन् अनिवार्य है। समाज और देश का प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्यो को समझे और उसके अनुसार आचरण करे तभी देश मे शाति और सुव्यवस्था हो सकती है। कर्तव्य का अर्थ है, दूसरो के साथ वैसा व्यवहार करना जैसा कि हम स्वय दूसरो के द्वारा अपने प्रति चाहते है। सस्कृत भाषा मे कहा गया है :—

"आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्।"

अर्थात्—जो वस्तु हमारे मन के प्रतिकूल है, दूसरे के लिये हम वैसा व्यवहार न करें।

इसके अलावा कर्त्तव्य-पालन के समय भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के साथ जो व्यवहार किया जाता है उसमे भी सावधानी रखना आवश्यक हो जाता है। अपने से बडो के प्रति जैसा व्यवहार किया जाता है, वैसा ही छोटो से नहीं किया जाता। अनुभव, ज्ञान और बुद्धि से श्रेष्ठ व्यक्तियो के प्रति जहाँ हम

आदर, श्रद्धा और सम्मान का भाव प्रकट करते हैं वहाँ हमे छोटो के प्रति वात्सल्य, करुणा और मार्गदर्शन की भावनाओ से पूर्ण व्यवहार करना होता है। इन्ही विचारो को लेकर आज मैने यह विषय अपने कहने के लिये चुना है। ससार में आपसी सबध सैकडो प्रकार के होते हैं किन्तु कुछ मुख्य-मुख्य सबधो को लेकर आज हम सक्षेप मे विचार विमर्श करेगे। सर्व प्रथम गुरु और शिष्य के आपसी व्यवहारो अथवा कर्त्तव्यो के विषय मे विवेचन करना उपयुक्त होगा।

मार्गदर्शक गुरु—इस ससार मे मनुष्य के लिये गुरु से बढकर और कोई हितैषी नही होता। गुरु अपने शिष्य के उन ज्ञान-नेत्रो को खोलता है, जिनके द्वारा वह अपने अतर मे स्थित चिदानन्द का साक्षात् कर सकता है। अज्ञान रूपी तिमिर से आच्छादित चक्षुओ को ज्ञानाजन की शलाका से उन्मीलित करने वाला सिर्फ गुरु ही होता है। गुरु को परमात्मा का ही स्वरूप माना जाता है क्योकि वह परमात्मा का ज्ञान प्राप्त किये हुए होता है, और इस प्रकार गुरु के आसन पर मनुष्य नही, किन्तु परमात्मा स्वय ही आसीन रहते है।

गुरु की अपेक्षा न रखने वाला शिष्य भले ही जीवन भर पुस्तको का पारायण करता रहे और विद्वान वन जाए किन्तु उस वुद्धि और ज्ञान से उसकी अतरात्मा को कोई लाभ नही हो सकता, उसकी आत्मा का कल्याण नही हो सकता। गुरु प्रदत्त ज्ञान के द्वारा ही उसके आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक दुखो का नाश हो सकता है। गुरु के समीप रहे बिना तथा उनके कठोर अनुशासन का पालन किये विना शिष्य सस्कार सम्पन्न नही वन सकता, उसका जीवन उच्च नही हो सकता। इसीलिये कहा जाता है :—

गीर्भिर्गुरूणा परुषाक्षराभि,
स्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्।
अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणा,
न जातु मौलौ मणयो वसन्ति॥

—भामिनीविलास

अर्थात्—गुरु के कठोर वचनो से जिनका तिरस्कार होता है, वे ही मनुष्य महत्त्व को प्राप्त होते हैं, विना खराद पर चढाई हुई मणियाँ राजमुकुटो मे कदापि नही जडी जाती।

जिस प्रकार अत्यन्त सावधानीपूर्वक मणियो को खराद पर चढाकर मुकुट मे जडे जाने योग्य वनाया जाता है और जिस प्रकार पत्थर पर एक-एक टाँची लगाकर उसे पूजा के योग्य प्रतिमा का रूप दिया है, ठीक उसी प्रकार

गुरु, शिष्य की प्रत्येक क्रिया तथा प्रत्येक व्यवहार को अपने सुनिर्देशो द्वारा समीचीन तथा शुद्ध बनाता है। मूर्तिकार के प्रयत्न के बिना जैसे पत्थर मूर्ति बनकर पूजा नही पाता, उसी प्रकार गुरु के सजग परिश्रम के बिना शिष्य सर्वगुण सम्पन्न बनकर समाज मे सम्मान प्राप्त नही कर सकता तथा अपने जीवन को परिपूर्ण नही बना सकता। तभी कहा जाता है —

गुरु कारीगर सारिसा, टाँची वचन विचार।
पत्थर से प्रतिमा गढ़े, पूजा लहे अपार॥

गुरु के अलावा किसी मे भी इतनी सामर्थ्य नही है कि वह दुर्जन को सज्जन और मानव को महामानव बना सके। इंगलैंड का बादशाह जेम्स उपाधियाँ बेचा करता था, और आने वाले द्रव्य से अपने खजाने को भरता था। वह सोचता था कि किसी उपाधि या लकब से ही कोई महान् नही बन जाएगा महान् बनने के लिये तो सद्गुण चाहिये। किन्तु यह जानते हुए भी वह मूर्ख व्यक्तियो की इच्छा पूर्ति करने के साथ-साथ अपना स्वार्थ साधन किया करता था।

एक दिन एक व्यक्ति सम्मान प्राप्त करने की आकाक्षा लेकर राजा के दरबार मे आया। राजा ने उससे प्रश्न किया—तुम्हे क्या चाहिये ?

आगन्तुक बोला—मुझे सज्जन बना दीजिये ताकि ससार मुझे सम्मान प्रदान करे।

यह कार्य राजा के वश का नही था। उसने इन्कार करते हुए कहा—"मैं तुम्हे लार्ड, ड्यूक वगैरह बना सकता हूँ, लेकिन सज्जन बनाना मेरी ताकत से बाहर है। तुम्हे सज्जन तो तुम्हारे गुरु ही बना सकते हैं।"

सच्चे गुरु का कर्त्तव्य है कि वह शिष्य को सद्विद्या प्रदान करे। ऐसी विद्या, जिसके द्वारा शिष्य के सासारिक ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ उसका आत्मिक विकास भी होता जाए, गुरु प्रदत्त वह विद्या मिथ्यात्व का परदा हटाकर ज्ञान चक्षुओं को उघाड दे, तथा मन की पाशविक प्रवृत्तियो पर दैवी गुणो का विजय करा दे। महापुरुषो का कथन है —

सा विद्या या विमुक्तये।

अर्थात्—सच्ची विद्या वही है जो हमे मुक्त करती है।

मुक्त होने से तात्पर्य है ससार से मुक्त होना। अर्थात् इस ससार के पुन पुन जन्म और मरण के दुखो से छूट जाना। वही सच्ची विद्या है, जो हमे हमारी आत्मा के दिव्य सदेश को सुनने मे समर्थ बनाती है। आज विद्या के

आदर, श्रद्धा और सम्मान का भाव प्रकट करते हैं वहाँ हमे छोटो के प्रति वात्सल्य, करुणा और मार्गदर्शन की भावनाओ से पूर्ण व्यवहार करना होता है। इन्ही विचारो को लेकर आज मैने यह विषय अपने कहने के लिये चुना है। ससार में आपसी सबध सैकडो प्रकार के होते हैं किन्तु कुछ मुख्य-मुख्य सबधो को लेकर आज हम सक्षेप मे विचार विमर्श करेगे। सर्व प्रथम गुरु और शिष्य के आपसी व्यवहारो अथवा कर्त्तव्यो के विषय मे विवेचन करना उपयुक्त होगा।

मार्गदर्शक गुरु—इस ससार मे मनुष्य के लिये गुरु से बढकर और कोई हितैषी नही होता। गुरु अपने शिष्य के उन ज्ञान-नेत्रो को खोलता है, जिनके द्वारा वह अपने अतर मे स्थित चिदानन्द का साक्षात् कर सकता है। अज्ञान रूपी तिमिर से आच्छादित चक्षुओ को ज्ञानाजन की शलाका से उन्मीलित करने वाला सिर्फ गुरु ही होता है। गुरु को परमात्मा का ही स्वरूप माना जाता है क्योकि वह परमात्मा का ज्ञान प्राप्त किये हुए होता है, और इस प्रकार गुरु के आसन पर मनुष्य नही, किन्तु परमात्मा स्वय ही आसीन रहते है।

गुरु की अपेक्षा न रखने वाला शिष्य भले ही जीवन भर पुस्तको का पारायण करता रहे और विद्वान बन जाए किन्तु उस बुद्धि और ज्ञान से उसकी अतरात्मा को कोई लाभ नही हो सकता, उसकी आत्मा का कल्याण नही हो सकता। गुरु प्रदत्त ज्ञान के द्वारा ही उसके आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक दुखो का नाश हो सकता है। गुरु के समीप रहे बिना तथा उनके कठोर अनुशासन का पालन किये विना शिष्य सस्कार सम्पन्न नही वन सकता, उसका जीवन उच्च नही हो सकता। इसीलिये कहा जाता है :—

> **गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभि,**
> **स्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्।**
> **अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणा,**
> **न जातु मौलौ मणयो वसन्ति॥**
>
> —भामिनीविलास

अर्थात्—गुरु के कठोर वचनों से जिनका तिरस्कार होता है, वे ही मनुष्य महत्त्व को प्राप्त होते हैं, विना खराद पर चढाई हुई मणियाँ राजमुकुटो मे कदापि नहीं जडी जाती।

जिस प्रकार अत्यन्त सावधानीपूर्वक मणियो को खराद पर चढाकर मुकुट मे जडे जाने योग्य बनाया जाता है और जिस प्रकार पत्थर पर एक-एक टाँची लगाकर उसे पूजा के योग्य प्रतिमा का रूप दिया है, ठीक उसी प्रकार

गुरु, शिष्य की प्रत्येक क्रिया तथा प्रत्येक व्यवहार को अपने सुनिर्देशो द्वारा समीचीन तथा शुद्ध बनाता है। मूर्तिकार के प्रयत्न के बिना जैसे पत्थर मूर्ति बनकर पूजा नही पाता, उसी प्रकार गुरु के सजग परिश्रम के बिना शिष्य सर्वगुण सम्पन्न बनकर समाज मे सम्मान प्राप्त नही कर सकता तथा अपने जीवन को परिपूर्ण नही बना सकता। तभी कहा जाता है —

गुरु कारीगर सारिसा, टाँची वचन विचार।
पत्थर से प्रतिमा गढ़े, पूजा लहे अपार॥

गुरु के अलावा किसी मे भी इतनी सामर्थ्य नही है कि वह दुर्जन को सज्जन और मानव को महामानव बना सके। इगलैड का बादशाह जेम्स उपाधियाँ बेचा करता था, और आने वाले द्रव्य से अपने खजाने को भरता था। वह सोचता था कि किसी उपाधि या लकब से ही कोई महान् नही बन जाएगा महान् बनने के लिये तो सद्गुण चाहिये। किन्तु यह जानते हुए भी वह मूर्ख व्यक्तियो की इच्छा पूर्ति करने के साथ-साथ अपना स्वार्थ साधन किया करता था।

एक दिन एक व्यक्ति सम्मान प्राप्त करने की आकाक्षा लेकर राजा के दरबार मे आया। राजा ने उससे प्रश्न किया—तुम्हे क्या चाहिये ?

आगन्तुक बोला—मुझे सज्जन बना दीजिये ताकि ससार मुझे सम्मान प्रदान करे।

यह कार्य राजा के वश का नही था। उसने इन्कार करते हुए कहा—"मैं तुम्हे लार्ड, ड्यूक वगैरह बना सकता हूँ, लेकिन सज्जन बनाना मेरी ताकत से बाहर है। तुम्हे सज्जन तो तुम्हारे गुरु ही बना सकते हैं।"

सच्चे गुरु का कर्त्तव्य है कि वह शिष्य को सद्विद्या प्रदान करे। ऐसी विद्या, जिसके द्वारा शिष्य के सासारिक ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ उसका आत्मिक विकास भी होता जाए, गुरु प्रदत्त वह विद्या मिथ्यात्व का परदा हटाकर ज्ञान चक्षुओ को उघाड दे, तथा मन की पाशविक प्रवृत्तियो पर दैवी गुणो को विजय करा दे। महापुरुषो का कथन है —

सा विद्या या विमुक्तये।

अर्थात्—सच्ची विद्या वही है जो हमे मुक्त करती है।

मुक्त होने से तात्पर्य है ससार से मुक्त होना। अर्थात् इस ससार के पुन पुन जन्म और मरण के दुखो से छूट जाना। वही सच्ची विद्या है, जो हमे हमारी आत्मा के दिव्य सदेश को सुनने मे समर्थ बनाती है। आज विद्या-के

नाम से जो शिक्षा स्कूलो और कालेजो मे विद्यार्थियो को दी जाती है वह कोरी किताबी शिक्षा ही होती है और उसे प्राप्त करने का ध्यय सासारिक सुखो की अधिक से अधिक प्राप्ति करना ही होता है। ऐसी शिक्षा से कभी ससार-मुक्त नही हुआ जा सकता क्योकि जिस शिक्षा का उद्देश्य धन और भौतिक सुखो की प्राप्ति हो, वह शिक्षा आत्मा को अनासक्त नही बना सकती।

हमारा भारत आध्यात्मवादी देश है। यहाँ के शिक्षा गुरु प्राचीन समय से जो शिक्षा देते आए हैं वह शिक्षा इहलौकिक सुख को नही बताती। 'खाओ पीओ और मौज उडाओ' इस सिद्धान्त का समर्थन नही करती। भारत के मनीषियो ने सदा से जिस शिक्षा प्रणाली को अपनाया है वह शिक्षार्थियो मे विनम्रता, मधुरता, सद्व्यवहार पर-दुख कातरता, परोपकार, प्रेम, सयम तथा सतोष आदि अनेक प्रकार के गुणो को जगाती है तथा विद्यार्थी के चरित्र को उज्ज्वल बनाती है। कहा भी है :—

'The end of all knowledge must be the building of character.'

—महात्मा गाँधी

अर्थात्—विद्या का अन्तिम लक्ष्य चरित्र निर्माण होना चाहिये।

कहने का तात्पर्य यही है कि शिक्षार्थियो की शिक्षा तब तक अधूरी रहेगी, जब तक उनमे धार्मिक विचारो का समावेश न होगा। प्राचीनकाल मे प्रकृति की सुरम्य गोद मे गुरुकुलो का निर्माण किया जाता था। वहाँ आचार्य अपने समस्त शिष्यो को बिना किसी भेदभाव के तथा बिना किसी प्रकार के पक्षपात के एकसा ज्ञान प्रदान करते थे। सदीपनि ऋषि का नाम आपने सुना होगा। जहाँ तीन खड के भावी सम्राट कृष्ण और दीनहीन कुलोत्पन्न सुदामा एक साथ पढते थे। दोनो को समान रूप से लकडियाँ लेने जगल मे जाना होता था और आश्रम के समस्त नियमो का समान भाव से पालन करना पडता था। कृष्ण को राजकुमार होने के कारण कोई विशेष सुविधा नहीं दी जाती थी। दरिद्र-पुत्र होने के कारण सुदामा को कोई असुविधा नही होती थी। ऐसी पक्षपात रहित शिक्षा से ही जीवन मे सद्गुणो का समावेश होता है। कृष्ण मे अन्य अनेकानेक गुणो के साथ-साथ मैत्रीभाव इतना कूट-कूटकर भरा था कि वर्षो बाद मे सुदामा के प्रति उन्होने बचपन की मित्रता के समान मित्रता का पालन किया। कवि रहीम के शब्दो मे :—

जो गरीब सो हित करें, धनि रहीम वे लोग।
कहा सुदामा बापरो, कृष्ण मिताई जोग।

कहने का अर्थ यही है कि गुरु, शिक्षक अथवा आचार्य का सबसे बडा कर्त्तव्य यही है कि वह बिना किसी लोभ-लालच के, बिना किसी स्वार्थ-भावना

के तथा विना किसी भी प्रकार के भेद-भाव के अपने समस्त शिष्यो को एक सरीखी स्नेह भावना से ज्ञान दान दे। और वह ज्ञान ऐसा हो, जिससे शिष्य का इहलोक और परलोक दोनो ही सुधर जायें। वह ज्ञान, ज्ञान नही है जिसके द्वारा मनुष्य सिर्फ अर्थोपाजन मे कुशल वन जाय, और उसके प्राप्त कर लेने पर भी हृदय के विषय विकारो का शमन न हो पाए। हमारे आचार्यों ने कहा भी है —

"तज्ज्ञानमेव न भवति यस्मिन्नुदिते विभाति रागगण.।"

—ज्ञान-सार

अर्थात्—वह ज्ञान सम्यक् ज्ञान की सज्ञा प्राप्त नही कर सकता है, जिसकी उपस्थिति मे राग और द्वेष स्वच्छदता पूर्वक अपना विकास करते रहते हैं।

गुरु का दायित्व अत्यन्त महान् होता है। छात्र के जीवन-निर्माण की तथा उसके आध्यात्मिक विकास की वडी भारी जिम्मेदारी उस पर होती है। अत' उसे अत्यन्त सजगता तथा सतर्कता से शिष्य को ज्ञान-दान देना चाहिये।

शिष्य कैसा हो?—अभी मैंने आपको गुरु का महत्त्व तथा उसके कर्त्तव्य के विषय मे वताया है। अव हमे यह देखना है कि शिष्य का कर्त्तव्य क्या होता है? उसे किस प्रकार अपने गुरु से सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना चाहिये तथा किस प्रकार मधुर व्यवहार से गुरु को सतुष्ट करते हुए सद्गुणो का सचय करना चाहिये? गुरु कितना भी ज्ञानी और महान् क्यो न हो, अगर शिष्य मे ज्ञान प्राप्ति की उत्कठा और आतुरता न होगी तो वह गुरु के ज्ञान-सागर मे से रचमात्र भी ग्रहण न कर सकेगा। ज्ञान-प्राप्ति तभी हो सकती है जव शिष्य अपनी सुख-सुविधाओं की परवाह न करके अनवरत ज्ञान-साधना मे तत्पर रहे। गीता मे कहा है—"**विद्यातुराणा न सुख न निद्रा।**" अर्थात् जिन्हे विद्या प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा है, वे न तो सुख की आकाक्षा करते हैं और न ही प्रमाद अथवा निद्रा मे अपना समय नष्ट करते है।

ज्ञानार्थी के लिये सर्वप्रथम अपने गुरु के हृदय मे स्थान प्राप्त करना आवश्यक है। गुरु के अथवा अन्य वडो के हृदय मे स्थान प्राप्त करने के लिये नम्रतापूर्ण व्यवहार होना चाहिये। सुवर्ण जव नरम होता है तभी उसमे नग जडा जाता है। इसी प्रकार जव शिष्य नम्र वनते है तभी ज्ञान के अधिकारी वन सकते है। विनयी शिष्य गुरु के असीम स्नेह के साथ-साथ ही असीम ज्ञान भी प्राप्त कर लेते हैं। हमारे शास्त्र मे वताया गया है कि जिस प्रकार गोपालक गायो की सार सँभाल करता है, उनके चारे पानी का ख्याल रखता है तथा धूप से छाया मे और छाया से पुन धूप मे सर्दी व गर्मी का वचाव करने के

लिये गायो को बाँधता है, उस सेवा से प्रसन्न होकर गाये उसके पात्रो को दूध से भर देती हैं। इसी प्रकार शिष्य की सेवा, सहिष्णुता और विनयपूर्ण व्यवहार से सन्तुष्ट गुरु भी शिष्य के हृदयरूपी घडे को अपने ज्ञान-रूप-दुग्ध से भर देते हैं। इसके विपरीत जो शिष्य अविनीत होते हैं वे अपनी उद्दण्डता, तथा अहकार के कारण गुरु के समीप रहकर भी ज्ञान-लाभ नही कर पाते। वे कोरे के कोरे ही बने रहते हैं। कहा भी है :—

जे य चंडे मिए थद्धे,
दुव्वाई नियडी सढे।
वुज्झई से अविणीअप्पा,
कट्ठं सोअगयं जहा॥

—दशवैकालिक सूत्र

अर्थात्—जो क्रोधी, अहंकारी, कटुवादी, कपटी और अविनीत शिष्य होते है वे जल के बहाव मे पडे हुए काष्ठ के समान ससार-समुद्र मे बह जाते है।

भावार्थ इसका यही है कि अविनयी शिष्य अपने आचार्य के समीप रहकर भी सम्यक् ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। उसके अभाव मे उसकी आत्मा कषायो से परिपूर्ण बनी रहने के कारण सदा ससार मे जन्म और मरण के कष्ट भोगती रहती है। आधुनिक काल के स्कूलो और कॉलेजो के छात्र शिक्षको के अनुशासन का पालन करना तो दूर, अवसर पाते ही उनसे झगडने तथा उनकी निन्दा करने के लिये कमर कसे रहते है। कई बार तो छात्रो के द्वारा अध्यापको की हत्या कर देने के समाचार भी अखबारो मे आया करते हैं। ऐसी मन स्थिति और दुर्व्यवहार को लेकर क्या छात्र अपनी आत्मा को निर्मल बना सकता है ? कभी नही। आत्मा को सस्कारयुक्त और पावन बनाने के लिये शिष्य के हृदय मे गुरु के प्रति अखड श्रद्धा और असीम विश्वास होना चाहिये। विश्वास योग्यता को वढाता है, वल को दूना करता है मानसिक शक्तियो का पोषण करता है और मनुष्य को सच्चा मनुष्य ही नही वरन् ईश्वरत्व तक पहुँचने की सामर्थ्य-प्रदान करता है। 'टालसटाय' ने कहा है :—

"Faith is the force of life".

अर्थात्—विश्वास ही जीवन की शक्ति है।

एक गुरु और शिष्य कार्यवशात् कही जा रहे थे। दोपहर हो जाने से धूप कडी हो गई थी अत दोनो कुछ देर विश्राम करने के लिये मार्ग मे एक सघन पेड की छाया मे वैठ गए। शिष्य वालक था अत गुरु ने उसे स्नेहपूर्वक तनिक देर वही सो जाने की आज्ञा दी। शिष्य ने आज्ञा शिरोधार्य की और

अपने गुरु के समीप ही लेट गया। थोडी देर मे ही थकान के कारण शिष्य को निद्रा आ गई।

उसी समय गुरु ने देखा कि एक सर्प फन उठाए हुए शिष्य की ओर चला आ रहा है। घबराकर उन्होंने उसे हटाने की चेष्टा की। पर सर्प ने कहा— "मेरा इससे पूर्व जन्म का वैर है, अत इसका खून पिये विना मे हरगिज नही लौटूँगा।"

गुरु और कोई उपाय न देखकर पास ही पडा हुआ एक टूटा हँसिया उठा लाए और उससे उन्होने शिष्य की गर्दन की एक नस काट दी। दर्द महसूस होने के कारण शिष्य की निद्रा भग हुई। उसने आँख खोली तो गुरु को हाथ मे हँसिया लिये अपनी गर्दन पर झुका हुआ देखा, किन्तु दूसरे ही क्षण वह पुन: उसी निश्चितता से सो गया। गुरु ने शिष्य की गर्दन से निकला हुआ खून सर्प पर छिडक दिया और सर्प उतने से ही सतुष्ट होकर अपने स्थान की ओर चला गया।

निद्रा पूर्ण होने पर शिष्य उठा और गुरु के चरणो मे नमस्कार कर उनके समीप बैठ गया। गुरु ने स्नेह पूर्ण दृष्टि से उसे देखते हुए पूछा—'क्यो बेटा! तुम्हे डर नही लगा था क्या?'

शिष्य ने विनय पूर्वक भोलेपन से उत्तर दिया—डर किस बात का लगता भगवन्? आप जो थे मेरे समीप।

गुरु के प्रति कैसा विश्वास और कितनी श्रद्धा थी शिष्य मे? ऐसे विनीत शिष्य ही गुरु से सच्चा और आत्मा के लिये कल्याणकारी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। आवश्यकता है नम्रता की। नम्रता धारण किये बिना ज्ञान प्राप्ति की आशा दुराशा मात्र है। विद्वान् मोण्डर ने तो यहाँ तक कहा है —

"Humility is the foundation of every virtue"

अर्थात्—प्रत्येक सद्गुण की नीव नम्रता है।

कहने का तात्पर्य यही है कि विद्यार्थी जीवन सद्गुणो के सचय करने तथा जीवन को निर्दोष बनाने का समय होता है। उस समय मे छात्र को गुरु के पूर्ण अनुशासन मे रहते हुए उनकी आज्ञा पालन मे तत्पर रहना चाहिये तथा ससार के समस्त भौतिक सुखो से विमुख होकर अनवरत ज्ञान-साधना करनी चाहिये। मन के विकारो का जब तक नाश नही हो जाता तब तक हृदय पवित्र नही होता और हृदय की पवित्रता के बिना उसमे ज्ञान की ज्योति प्रज्ज्वलित नही हो सकती। इसलिये अहकार, क्रोध, तथा मानापमान की भावनाओ को त्यागकर ही शिष्य गुरु-प्रदत्त ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करे, ऐसा हमारे शास्त्रकारो का वचन है। 'स्थानाग सूत्र' मे कहा गया है:—

"चत्तारि अवायणिज्जा पण्णत्ता, तं जहा अविणीए, विगइपडिबद्धे, अविओसवियपाहुडे, माई।"

अर्थात्—अविनीत, भोज्य पदार्थों के लोलुप, तीव्र क्रोधी और छल-कपट से परिपूर्ण हृदय वाले शिष्य ज्ञान-प्राप्ति के लिये अनुपयुक्त होते हैं।

आदर्श शिष्य उपमन्यु की गुरु भक्ति के विषय मे आप मे से बहुतो को मालूम होगा। उसके गुरु जी ने एक बार नाराज होकर उसका भोजन बन्द कर दिया तथा दूसरी बार आहार लाने से रोक दिया। उसके बाद जब वह गाय का दूध पीने लगा तो उसके लिये भी इन्कार कर दिया और अन्त मे वह गाय के बछड़ा के मुँह से गिरे फेन को ग्रहण करके रहने लगा तो उसके लिये भी रोक लगा दी। किन्तु इतने पर भी उपमन्यु की गुरु भक्ति और ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा मे तनिक भी अतर नही आया।

इतिहास के पन्नो मे ऐसे अनेक आदर्श शिष्यो के उदाहरण आते है, जिनके हृदय मे गुरु के द्वारा दी गई ताडना, तिरस्कार या अपमान से भी कोई विकार नही आता। उलटे उनका हृदय अपने गुरु या आचार्य के प्रति कृतज्ञता के भावो से कूट-कूटकर भरा रहता है तथा प्रतिक्षण यही सोचता है :—

अहो अहो श्री सद्गुरु, करुणासिंधु अपार,
आ पामर पर प्रभु कर्यु घणो घणो उपकार।
शु प्रभु चरण कने धरू, आत्मा थी सहु हीन,
ते तो प्रभुए आपीयो, वरतू चरणाधीन।

हृदय मे ऐसी भावनाओ के रहने पर ही शिष्य सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकता है तथा अपने जीवन को समुज्ज्वल बना सकता है। प्रत्येक शिष्य जब इस प्रकार अपने कर्त्तव्य का पालन करेगा तभी वह आगे जाकर अपना तथा अपने सपर्क मे आने वाले सभी प्राणियो का हित कर सकेगा।

शासक का दायित्व—बधुओ! गुरु और शिष्य के कर्त्तव्य के विषय मे संक्षिप्त विचार करने के बाद अब हम देखेगे कि शासक का दायित्व क्या होता है, और शासितो का कर्त्तव्य क्या होता है? हम भली-भाँति जानते हैं कि प्रत्येक देश अपने यहाँ रामराज्य की स्थापना करना चाहता है। रामराज्य से तात्पर्य है देश मे पूर्ण शाति, सुव्यवस्था तथा समस्त प्रजाजनो का सुखी और सतुष्ट होना। किन्तु ऐसा कब हो सकता है? जब देश का शासक या शासक वर्ग न्यायी, निस्वार्थी और प्रजा के हित का आकाक्षी हो। आज हमारे देश मे प्राचीनकाल की तरह राजा या बादशाह शासन नही करते, किन्तु शासन की शक्ति तथा सत्ता कुछ चुने हुए व्यक्तियो के हाथो मे सौंप दी जाती

है और वह शासक वर्ग ही देश के शासन का अधिकारी माना जाता है। अगर शासक वर्ग योग्य हो और शासनसूत्र को सभालने मे कुशल हो तो जनता सुखी और सम्पन्न बन सकती है। शासक वही उत्तम है जो अपने अधीनस्थो को सुखी रख सके। रामायण मे कहा भी गया है :—

राजा सत्यं च धर्मश्च, राजा कुलवतां कुलम्।
राजा माता-पिता चैव, राजा हितकरो नृणाम्।

—वाल्मीकि

राजा सत्य है, राजा धर्म है, राजा कुलीन पुरुषो का कुल है, राजा ही माता और पिता है, तथा राजा, समस्त मानवो का हित-साधन करने वाला है।

भावार्थ इसका यह है कि राजा एक साधारण मानव नही अपितु अलौकिक व्यक्ति के रूप मे देशवासियो का मगल करने वाला होता है। राजा को 'सत्य' इसलिये कहा है कि वह मन, वचन और कर्म से सत्यवादी बने। 'धर्म' कहा गया है, इसलिये, धर्मपरायण बने, और माता-पिता इस दृष्टि से कि, प्रजा की रक्षा तथा उसकी सुख सुविधा का ध्यान ठीक उसी प्रकार रखे, जिस प्रकार माता-पिता अपनी सतान का रखते हैं। किसी भी राज्य को चलाने के लिये कानूनो की उतनी जरूरत नही होती जितनी अच्छे शासक की होती है। प्रजा का पुत्रवत् पालन करने वाले शासक के शासन मे कोई दुखी और दरिद्र नही रहता, ऐसा शासन वास्तव मे ही सराहनीय होता है :—

रहिमन राज सराहिये, ससि सम सुखद जो होय।
कहा बापुरो भानु है, तप्यो तरैंमन खोय॥

अत्याचारी और निरकुश राजा की प्रजा कभी अपने राजा को सम्मान की दृष्टि से नही देखती। हिटलर की तानाशाही के समान किसी दिन उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है। अत्याचार का निश्चित परिणाम अराजकता है। क्योकि जो शक्ति कानूनो से सीमित नही होती, उसकी रक्षा कानून भी नही कर सकता।

शासक का दायित्व अत्यत महत्त्वपूर्ण होता है। लाखो और करोडो व्यक्तियो के हितो का उसे ध्यान रखना पड़ता है। ऐसी स्थिति मे उसे अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओ का त्याग किये विना शासन कार्य मे सफलता नही मिल सकती। राज-धर्म के विषय मे कहा गया है —

पातकं वा सदोषं वा कर्तव्य रक्षता सदा।
राज्यभारनियुक्तानामेष धर्मसनातनः॥

—रामायण

अर्थात्—जिसके कधो पर शासन भार हो, उसे व्यक्तिगत पाप और दोष

का विचार त्यागकर सदा प्रजा के हित का ध्यान रखना चाहिये। यही सनातन राजधर्म है।

महाराज चेटक बारहव्रतधारी श्रावक थे, किन्तु अपने शरणागत दौहित्र हल और विहल की रक्षा करने के लिये उन्हे राजा कोणिक से युद्ध करना पडा। उस युद्ध मे करोडो व्यक्तियो के प्राण गए। किन्तु एक राजा होने के नाते उन्होने शरणागत की रक्षा करने से मुँह नही मोडा। अहिंसा को ढाल बनाकर उन्होने कायरता नही दिखलाई।

आज हमारे देश मे चारो ओर अशांति का साम्राज्य है। जनता दरिद्रता और बेकारी की चक्की मे पिस रही है। इसका कारण है शासक वर्ग मे अनीति और स्वार्थपरता का जाग जाना। शासन-केन्द्र के पदाधिकारियो मे रिश्वत की भूख बढ गई है। छोटे क्लर्क से लेकर शासन के सूत्रधार मिनिस्टर तक इसके लिये मुँह बाएँ रहते है। किसी गरीब को अपनी दरख्वास्त उच्च-पदाधिकारी तक पहुँचाना है, किन्तु, जब तक वह चपरासी के हाथ मे एक-दो रुपये न टिकाए, उसकी दरख्वास्त प्रवेश नहीं पा सकती। चपरासी नि सकोच कह देता है :—

सौ बातो की एक बात है तात!
दूल्हा के इशारे पर चलती है बरात।
अपन तो·
जैसा देखते हैं सरकार का रग,
वैसी ही उडाते हैं पतंग।

इतना ही नही, आज के नेता, चाहे उनमे कार्य करने की योग्यता हो या न हो, चुनाव मे तो खडे होते ही हैं। जीत जाएँ तो पौ-बारह और हार गए तो भी कोई नुकसान नही। किसी कवि ने व्यगात्मक भाषा मे इसका कारण बताया है —

जिस पार्टी ने टिकिट दिया था,
दस हजार उससे ले आया।
साम दाम औ, दण्ड भेद से,
इतना ही चन्दा कर लाया।
पूरे बीस हजार हो गए,
लेकिन खर्च हुए हैं आधे।
शेष रकम ठाकुर जी की है,
भज गोविन्दम् राधे राधे।

बन्धुओ, ऐसे व्यक्ति चुनाव जीतकर भी जनता का कितना भला करते होंगे, यह अन्दाज लगाना कठिन नहीं है। उनकी ऊँची ऊँची कोठियो और नित्य बदलती हुई कारें देखकर आप सहज ही सत्य का अन्वेषण कर सकते हैं। जनता के गाढे पसीने से पैदा किये हुए पैसो का वे बराबर सदुपयोग कर लेते हैं, लेशमात्र भी हिचकिचाहट उन्हे नही होती। माता धरित्री के हृदय पर नर्तन करती हुई इस अनीति को देखकर भारतवासी विकल हो उठते हैं और कहते हैं :—

खत्म नहीं होगा क्या कुहरे का दायरा,
मुक्त नहीं होगी क्या देवकी वसुन्धरा।
कब तक रहेगी, आखिर कब तक विश्व मे,
दुर्योधन कंस, जरासध की परम्परा ?

हमे अपने देश मे दुर्योधन, कस और जरासध जैसे शासक नही, राम और कृष्ण सरीखे शासक चाहिये, जो दण्ड की अपेक्षा शिक्षा को, भय की अपेक्षा विवेक को, कानून की अपेक्षा धर्म को और पुलिस की अपेक्षा आत्मा को महत्त्व देते हो। आत्मा के महत्त्व को समझने वाला शासक अन्याय और अनीति के माग पर कभी नही चलेगा। वह यही प्रयत्न करेगा :—

धर्मेण राज्य विन्देत धर्मेण परिपालयेत्।

—महाभारत

अर्थात्—धर्म से राज्य प्राप्त करे और धर्म से ही उसका पालन करे।

सक्षेप मे शासक का यही कर्त्तव्य है जिसे वह सदा स्मरण रखे। कहते हैं कि बादशाह हसन जब गद्दी पर बैठे तो किसी व्यक्ति ने उनसे प्रश्न किया—"हुजूर! बिना द्रव्य और सैनिक-सामग्री के ही आप बादशाह किस प्रकार बन गए ?"

बादशाह हसन ने उत्तर दिया—"भाई! मित्रो का शुद्ध प्रेम, शत्रुओ के प्रति उदारता, प्रत्येक व्यक्ति के प्रति सद्भावना आदि इतनी सामग्री तो मेरे पास इस समय है ही, और इसे भविष्य मे भी सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता हूँ। मैं समझता हूँ कि किसी भी व्यक्ति को सुल्तान बनने के लिये यह सामग्री पर्याप्त है।"

वास्तव मे, अगर प्रत्येक शासक अथवा शासक-वर्ग का प्रत्येक सदस्य इन बातो का ध्यान रखे तो वह जनता के हृदय मे अत्यन्त सम्मानित स्थान प्राप्त कर सकता है। जनता की रुचि और इच्छा के बिना अपनी आज्ञाओ का जनता से जबर्दस्ती पालन करवाना शासन नही कहलाता, वह अत्याचार और तानाशाही की श्रेणी मे आ जाता है। एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है —

"The sovereign is a tyrant who knows, no law but his own caprice." —वाल्टेयर

अर्थात्—वह शासक अत्याचारी है जो अपनी रुचि के अतिरिक्त और कोई नियम नही जानता। महाभारत मे भी कहा गया है .—

न राज्य प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसाम्प्रतम्।
श्रिय ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम्॥

अर्थात्—राज्य प्राप्त हो गया, ऐसा समझकर अनुचित व्यवहार नही करना चाहिये। उद्दण्डता महिमा को उसी प्रकार नष्ट कर देती है जैसे सुन्दर रूप को वृद्धावस्था।

शासक युगनिर्माता होता है। अपने समय मे वह शासन का जैसा आदर्श उपस्थित करता है उसी के अनुसार इतिहास निर्मित होता है।

नागरिको का सद्व्यवहार—जिस प्रकार प्रत्येक देश को अच्छे शासक की आवश्यकता है, उसी प्रकार अच्छे नागरिको की भी जरूरत है। विशेषकर प्रजातन्त्र राज्य मे तो प्रजा का ही महत्त्व अधिक है, क्योंकि इस प्रणाली के अनुसार चलने वाले राष्ट्रो मे शासन सूत्र को चलाने वाले व्यक्ति प्रजाजनो द्वारा ही चुने जाते हैं। अत प्रत्येक प्रजाजन की कर्त्तव्यनिष्ठा प्रजातन्त्रीय शासन की सफलता का मूल सिद्धान्त है। इसलिये अगर कोई भी प्रजातन्त्रीय देश अपने आपको उन्नत, समृद्ध और गौरवान्वित देखना चाहता है तो उसे अपनी प्रजा के एक-एक व्यक्ति को शिक्षित, सदाचारी और सुयोग्य बनाना होगा।

हमारा भारत धर्मप्रधान देश है। इसकी हर सास मे धर्म है। इसके जीवन की ज्योति धर्म है। धर्म ही इसका रक्षक है और धर्म ही इसका ध्येय है। अपनी आध्यात्मिकता की प्रखर प्रभा से इसने समग्र विश्व को प्रकाशित किया है और उसका नेतृत्व किया है। आध्यात्मिक ज्ञान भारत का सबसे बडा और प्राचीन भण्डार है। भारतीय सस्कृति मे आत्मसयम, आत्म-साक्षात्कार, मुमुक्षुत्व, निष्कामता, विवेक, सत्य, शुद्धता, भक्ति तथा विश्व प्रेम का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, और इसीलिये यह सब देशो का सिरमौर माना जाता रहा है। यह नही कि भारत के शासक ही आध्यात्मिक भावना के केन्द्र थे, वरन् इसलिये कि भारतवासी आध्यात्मिकता के पुजारी थे। वे यही मानकर चलते थे कि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य आत्मदर्शन है और उसकी सिद्धि का मुख्य एव एकमात्र उपाय पारमार्थिक भाव से जीवमात्र की सेवा करना है। सच्चा जीवन ज्ञान और भावनाओ तथा बुद्धि और विवेक के सम्मिश्रण से बनता है।

दुख इस बात का है कि आज के भारतवासियो मे जीवन के प्रति इस

प्रकार का दृष्टिकोण नही रहा। आज के मानव वैज्ञानिक क्षेत्र मे मे बहुत आगे बढ गए है। चन्द्रलोक तक जाकर आ गए हैं किन्तु अपनी निकटवर्ती आत्मा को भूल गए हैं। उसे भूलने का या जानते हुए भी न जानने का परिणाम हुआ है आत्मा के सद्गुणो का लोप हो जाना। आज का नागरिक बहुत कुछ सीखा है, किन्तु अपने कर्त्तव्य को भली भांति नही समझा। अपनी स्वार्थपरता और धनलिप्सा के कारण वह दूसरो के मन को दुखाने वाला बन गया है। वह भूल गया है कि :—

न तत्परस्य सदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः
एष सक्षेपतो धर्म कामादन्य प्रवर्तते ॥

—महाभारत

अर्थात् जो अपने को प्रतिकूल अर्थात् दुखदायक प्रतीत होता हो वैसा व्यवहार दूसरो के साथ न करे। सक्षेप मे यही धर्ममय कर्त्तव्य है। अन्य व्यवहार स्वार्थमूलक है।

आज के नागरिक के कर्त्तव्य दोहरे हैं। प्रथम कर्त्तव्य है उसका शासन के प्रति। देश मे शान्ति तथा सुव्यवस्था की स्थापना के लिये शासन केन्द्र या सरकार के द्वारा जो नियम और कानून बनाए जाते हैं उनका पालन करना और इस प्रकार शासन को सहयोग देना। जब तक देश का प्रत्येक नागरिक शासक वर्ग द्वारा बनाए गए नियमो का पालन नहीं करेगा और उन्हे उल्लघन करने को तत्पर बना रहेगा, देश मे शान्ति की स्थापना नही हो सकेगी। क्योंकि अच्छा शासन-विधान बनाना कठिन नही है, कठिन है नागरिको का उसके अनुसार आचरण करना। आदर्श नागरिक वही है, जो अपने देश के कानूनो का सम्मान करता है और उनके प्रति वफादारी रखता है। कानूनो का भग करना निश्चय ही कुशासन को निमन्त्रण देना है।

नागरिक का दूसरा कर्त्तव्य है अन्य नागरिको के प्रति सद्व्यवहार रखना। यह कर्त्तव्य प्रथम कर्त्तव्य की अपेक्षा कठिन, किन्तु सुखदायक है। प्रत्येक मानव को स्मरण रखना चाहिये कि जैसे निष्कपट, सच्चे और सरल-व्यवहार को वह दूसरो से अपेक्षा रखता है वैसा ही व्यवहार दूसरे व्यक्ति भी उससे चाहते हैं। व्यवहार की भिन्नता ही अपनो को पराया और परायो को अपना बना देती है। कहा भी है :—

न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं, न कश्चित्कस्यचिद्रिपु ।
व्यवहारेण मित्राणि, जायन्ते रिपवस्तथा ॥

—हितोपदेश

अर्थात्—न कोई किसी का मित्र है, और न कोई किसी का शत्रु है। व्यवहार से ही मित्र तथा शत्रु बन जाते है।

प्रत्येक नागरिक के कर्त्तव्य ज्ञान और उसके पालन पर ही समाज और देश का भविष्य निर्भर होता है। जिस समाज का वह सदस्य है उसके प्रति उसकी पूर्ण शुभाकाक्षा और कल्याण-भावना होनी आवश्यक है। नागरिकता की भावना वस्तुत एक कुटुम्बभाव की अनुभूति के प्रसार की भावना है। देश का प्रत्येक व्यक्ति अगर यह सोच ले कि मेरा पडौसी भी मेरी तरह ही सुखी व सम्पन्न रहे तो अमीर और गरीब के मध्य मे बनी हुई खाई स्वय ही पट जाए तथा स्वार्थपरता के कारण कदम-कदम पर पडने वाली आपसी फूट नष्ट हो जाए। एक पजाबी कवि ने कहा है —

फुट वाला मेला यारो, देश विच आ गया।
देख के ए समय मेरा, दिल घबरा गया॥
अपने फर्ज नू भुले होये इन्सान ने।
छड़े कारनामे अज वीरां दी सन्तान ने॥
कृष्णानद आखे समय डाडा बुरा आ गया।
देख के ए समय मेरा दिल घबरा गया॥

एक नागरिक के जो आचरण उसके पडौसियो तथा देशवासियो के हित के विरुद्ध है वे सब अनागरिक आचरण हैं और दिलो मे फूट डालने वाले हैं। जिस दिन देश का प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करने लगेगा कि उसके हित के साथ अनेक का हित सम्बद्ध है, उसके सुख-दुख मे दूसरो का सुख-दुख है, उसकी उन्नति अवनति के साथ दूसरो का उत्थान-पतन जुडा हुआ है, उस दिन उसका सकुचित स्वार्थभाव नष्ट हो जाएगा और वह अपनी मानवता की प्रथम अनुभूति प्राप्त करेगा, तथा मनुष्यता की मर्यादा का सम्मान करने लगेगा। प्रत्येक प्रभात उसको जागरण का सन्देश देगा तथा प्रत्येक सध्या उसकी सफल जिन्दगी की सराहना करेगी। कहा है —

कण्टको की सेज पर भी गुनगुनाती ही रही है,
जिन्दगी हर मरहले पर गीत गाती ही रही है।
है चुनौती नियति के निर्मम सँपेरे के लिये यह,
नागमणि सी बाँबियो मे जगमगाती ही रही है।

जिस दिन भारत का प्रत्येक नागरिक इस प्रकार की जिन्दगी बिताना सीख जाएगा, जिस दिन वह जीवन के सही उद्देश्य को समझ लेगा तथा स्नेह,

मैत्री, सद्भावना, सहयोग और निस्वार्थता के महत्त्व को समझ लेगा वह दिन उसके जीवन का स्वर्ण-दिवस होगा। उस दिन अनायास ही वह सच्चे कर्त्तव्य-पथ पर चल पड़ेगा तथा इस धरा पर ही स्वर्ग-सुख का अनुभव करने लगेगा। अपनी आत्मा को सन्मार्ग पर चलाकर उसे जिस दिव्य-आनन्द की अनुभूति होगी उसके सामने संसार का प्रत्येक सुख उसके लिये सुखाभास साबित होगा। इस पृथ्वी पर ही आत्मानन्द के असीम सुख का अनुभव न करके चन्द्रलोक की ओर भागने वाले प्राणियों पर उसे तरस आएगा और उसका हृदय विगलित होकर कहेगा :—

क्या हुआ इनको कि भागे जा रहे हैं,
घर, डगर, गिरिवर छलांगे जा रहे हैं।
कौन सा सुख आज धरती पर नहीं है,
खोज में जिसकी अभागे जा रहे हैं।

वास्तव में ही यह ज्वलंत सत्य है। ऐसा कोई भी सुख नहीं है, जिसको इस पृथ्वी पर रहकर अनुभव नहीं किया जा सकता। बल्कि कहना तो यह चाहिये कि स्वर्ग में रहने वाले देवता भी जिस अक्षय सुख का अनुभव नहीं कर सकते उसको मनुष्य मर्त्यलोक की इस धरा पर रहकर प्राप्त कर सकता है। मानव जीवन का ध्येय आत्मा को कर्म-बन्धनों से मुक्त करना, अर्थात् सदा के लिये जन्म-मरण के दुःखों से निवृत्त हो जाना है। उसके लिये जिस साधना की आवश्यकता होती है वह स्वर्ग में रहने वाले देवता नहीं, वरन् इस पृथ्वी पर रहने वाले मानव ही कर सकते हैं। ऐसी पृथ्वी को छोड़कर चन्द्रलोक में जाना और वहाँ निवास करने की आकांक्षा रखना मानव की नादानी नहीं तो क्या है?

तात्पर्य यह है कि मानव अपने कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ भी संसार में अनासक्त रहकर यदि आत्म-साधना में लगा रहे तो उसका इहलौकिक जीवन तो सफल होगा ही, साथ ही परलोक भी सुधर जाएगा। गांधीजी कहते हैं कि 'जहाँ देह है, वहाँ कर्म तो है ही, उससे कोई मुक्त नहीं है। तथापि शरीर को प्रभु मन्दिर मानकर उसके द्वारा आत्मा की शुद्धि का प्रयत्न करना चाहिये।'

मनुष्य के कर्म में [illegible] और पवित्रता होनी चाहिये, ऐसा होने पर कोई भी विघ्न-बाधा उसके कर्म को अवरुद्ध नहीं कर सकती। कर्मवीर पुरुष का ध्येय सिर्फ [illegible] से नहीं वरन् [illegible] का लाभ उठाना होता है। उसकी प्रत्येक धड़कन यही कहती है :—

जिन्दगी केवल न जीने का बहाना,
जिन्दगी केवल न सांसों का खजाना।
जिन्दगी सिन्दूर है पूरब दिशा का,
जिन्दगी का काम है सूरज उगाना।

वही मानव सच्चे अर्थों मे मानव कहलाने योग्य है जो कर्त्तव्य-पथ पर चलता हुआ अपने उत्तम कर्मों से समाज और देश को गौरवान्वित करे तथा अपनी आत्मा को निर्विकार, निर्विकल्प तथा अनासक्त बनाकर उसमे ज्ञान का आलोक भरता चले।

न्याय की कुर्सी, केवल न्याय के लिये—न्याय विभाग शासन का सर्वोच्च विभाग होता है। उसे अधिकार है कि अगर देश का शासक कानून का उल्लघन करे तो उसे भी दड दे, तथा अधिकारो का दुरुपयोग न होने दे। ऐसे महत्त्व-पूर्ण अधिकारो का हस्तगत होना ही साबित करता है कि न्यायदाता का दायित्त्व कितना उच्च है। न्याय की कुर्सी पर बैठकर तनिक भी असावधानी की जाय तो भारी अनर्थ का कारण बन जाती है। उसके इंगित मात्र से पल भर मे अमीर गरीब और गरीब अमीर हो जाता है, जघन्य अपराधी बरी होकर गुलछर्रे उडाता है और निर्दोष व्यक्ति फाँसी के फन्दे पर लटका दिया जाता है।

इसलिये आवश्यक ही नही वरन् अनिवार्य है कि न्यायदाता अपने महान् कर्त्तव्य का पूर्ण सतर्कता, दक्षता, निर्लोभता, और निष्पक्षता पूर्वक पालन करे। वह कभी न भूले कि ईश्वरीय न्याय से पूर्व न्याय करने का अधिकार सिर्फ उसी का है तथा मानव के समस्त कर्मों मे दिव्य कर्म न्याय करना है।

न्यायकर्त्ता के प्रतिष्ठित और गरिमामय पद पर आरूढ होना मनुष्य के लिये कठिन नही है, कठिन है उस उच्च आसन पर आसीन होकर उस पद के अनुरूप निष्पक्ष न्याय करना। न्यायाधीश बनने से पूर्व व्यक्ति को अनेक बातों का दृढता पूर्वक सकल्प करना आवश्यक है, जिनकी सहायता से वह सच्चा न्याय प्रदान कर सके। सुकरात ने बताया है :—

Four things belong to a judge, to hear courteously, to answer wisely, to consider soberly and to decide impartially.

—सुकरात

न्यायाधीश मे चार बातें होनी चाहिये—शिष्टतापूर्वक सुनना, बुद्धिमत्ता पूर्वक उत्तर देना, गभीर होकर विचार करना और निष्पक्ष होकर न्याय करना।

न्यायाधीश का सबसे बड़ा गुण निष्पक्ष होना है। किसी के प्रति द्वेष या पक्षपात की भावना न्याय का गला घोंट देती है। न्यायासन पर बैठने पर उसे अपने पराये का, अमीर-गरीब का या राजा-प्रजा का ध्यान न रखकर केवल सच्चे दोषी और निर्दोष को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिये तथा निर्दोष को दण्ड न मिले इसकी चेष्टा करनी चाहिये। दोषी के रूप में चाहे राजा भी उसके समक्ष क्यों न आए, न्याय के नाते उसे भी किसी प्रकार की सुविधाएँ देना न्यायाचरण से परे होना है। काजी सिराजुद्दीन के एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है।

एक बार दिल्ली के बादशाह गयासुद्दीन के हाथ से अकस्मात् ही तीर छूट गया और एक लड़के के शरीर में जा लगा। तीर लगते ही लड़का मृत्यु को प्राप्त हो गया। लड़के की गरीब माँ काजी सिराजुद्दीन के पास गई और उनसे फरियाद की। न्यायनिष्ठ काजी ने बादशाह को उस फरियाद की सूचना दी और उन्हें न्यायालय में उपस्थित होने की आज्ञा दी।

बादशाह ने आज्ञा का पालन किया और निश्चित समय पर न्यायालय में उपस्थित हुआ। काजी ने अदालत के नियमानुसार बादशाह को साधारण अभियुक्त की भाँति कटहरे में खड़ा रखा और उनके अपराध का गंभीरता-पूर्वक विचार करके उनके विरुद्ध फैसला दिया।

बादशाह ने भी अपना अपराध स्वीकार किया और अपनी असावधानी के लिये मृत लड़के की निर्धन माता से क्षमा मांगी। इतना ही नहीं, उनके भरण पोषण के लिये भी बहुत सा द्रव्य उसे दिया। इसके पश्चात् काजी ने बादशाह को अभियोग से मुक्त कर दिया।

बादशाह को अभियोग से मुक्त करने के पश्चात् काजी सिराजुद्दीन अपनी कुर्सी से उतरकर नीचे आए और उन्होंने बादशाह को सम्मानपूर्वक सलाम किया।

बादशाह ने अपने कपड़ों में गुप्त रखी हुई तलवार को निकाल कर काजी से कहा—"काजी साहब, तुम्हारी हिदायत का पालन करने के लिये तथा कुरान शरीफ के कायदे को इज्जत देने के लिये ही मैं इस अदालत में हाजिर हुआ हूँ। मैंने भली-भाँति जान लिया है कि तुम अपने न्याय-मार्ग से विचलित नहीं हुए हो। अगर आज तुम न्याय के मार्ग से विचलित हो जाते तो मैं इस तलवार से तुम्हारी गरदन काट डालता। वास्तव में मेरे राज्य में तुम्हारे जैसे ही न्यायाधीश की आवश्यकता है।"

उत्तर में काजी ने अपने हाथ की बेंत दिखाते हुए कहा—"हुजूर, मैं भी

खुदा को हाजिर नाजिर करके सत्य कहता हूँ कि अगर आप अदालत मे मेरे हुक्म की तामील न करते तो मैं इस बेत से आपको पीटता।"

वहाँ उपस्थित जनता इस वार्तालाप को सुनकर दंग रह गई। उसकी दृष्टि मे बादशाह और काजी दोनो ही सच्चे न्यायाधीश साबित हुए।

होना भी यही चाहिये। किन्तु आज के युग मे सच्चा इन्साफ लोगो को मिलना मुश्किल हो गया है। झूठे और धन से खरीदे हुए गवाहो के आधार पर किया हुआ झूठा इन्साफ ही लोग प्राप्त कर पाते हैं। ऐसा मालूम होता है कि आज के मनुष्यो के हृदयों मे सत्य का नामोनिशान भी नही रह गया हैं। छल कपट और असत्य का जो दौर इस युग मे चल रहा है, इसमे सच्चाई की आशा करना वृथा साबित हो रहा है। किसी पजाबी कवि ने भी यही कहा है —

दौर हुण देश दिच, चलया ए पाप दा।
गला जादा घुटया ए अज इन्साफ दा॥
दिल मे सचाई नूँ ताँ, रहन दिंदे लोग ना।
रेंदी होगी कदे ऐथे, अज मिले खोज ना॥
छल कपट झूठ बढ़ता दिन दिन जापदा।
गला घुटया जादा ए अज इन्साफ दा॥

इन्साफ करने वाले को पक्षपात अथवा रिश्वतखोरी को विष के समान मानकर त्याग करना चाहिये। आधुनिक युग मे रिश्वत एक ऐसा चिन्तामणि रत्न है जिसका उपयोग करके मनुष्य जो भी चाहे हासिल करता है, जिसे चाहे खरीद सकता है। तथा चाहे तो खुले आम किसी का खून करके उसे भी पचा सकता है। इसीलिये इगलैंड के सर्वोच्च धर्माधिकारी ने कहा है —

"न्यायाधीश और सेनेट के सदस्य भी रिश्वत के द्वारा मोल लिये गये हैं।"

—पोप

मानव जब मानवता से गिर जाता है तो वह चाहे उच्च से उच्च पद पर ही क्यो न आसीन हो, अपने, देश, धर्म, जाति तथा कुल सभी के गौरव को नष्ट कर देता है। भारतवासियो ने भी अपने अनेक दुर्गुणो के कारण प्राचीन काल से अब तक के उपार्जित यश को कलक की कालिमा से धूमिल कर दिया है और तारीफ यह है कि उसका दोष ईश्वर पर मढकर उसे ईश्वर की देन माना है। एक पजाबी कवि ने बडे सुन्दर ढग से बताया है कि ईश्वर ने बटवारा करते समय किस-किस देश को क्या-क्या दिया है, और हिन्दुस्तान के पल्ले क्या पडा है :—

रब्ब करनन वेतकशीम लगा,
खूबसूरती दित्ती ईरानियां नूं ।
दित्ती रजक ते दौलत अमरीका नूं,
वतनपरस्ती जापानियां नूं ।
दित्ती फैशन-परस्ती फ्रांस ताई,
नाजो इज्जम दिता जर्मनवालियां नूं ।
कालापन अफरीका ते हबशिया नूं,
उत्ते बेइमानी इंगलिशस्थानियां नूं ।
दित्ता एकता दा सबक रूस ताई,
गिदहवाग वसना इटली वालियां नूं ।
फिरका दारी ते ऐंक वाकी दे दित्ती,
रिश्वतखोरियां ते हिन्दुस्तानियां नूं ।

भारतीयो के इस अधःपतन का मूल कारण है, उनका अपनी आत्मा के सद्गुणो पर विश्वास न होना तथा अनीति और अन्याय से अर्जित कर्म-बंधनो के परिणामो से भयभीत न होना। हमारे आगमकारो ने कहा है —

सुचिणाकम्मा सुचिणफला भवन्ति ।
दुच्चिणाकम्मा दुच्चिणफला भवन्ति ।

—दशाश्रुत स्कंध

अर्थात्—शुभ कर्म शुभ फल प्रदान करते हैं तथा अशुभ कर्म अशुभ फल प्रदान करते है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को, चाहे वह साधारण नागरिक मात्र हो अथवा उच्चपदस्थ अधिकारी, सत्य एवं न्याय के मार्ग पर ही चलना चाहिये। असत्य और अन्याय के पथ पर चलने वाला जीवन मे आत्म-संतोष आत्म-सुख का अनुभव नही कर सकता। कहा भी है —

He who commits injustice is ever made more wretched than he who suffers it.

——प्लेटो

अर्थात्—अन्याय सहने वाले की अपेक्षा अन्याय करने वाला अधिक दुखी होता है।

भले ही यह दुख अन्याय के साथ-साथ या तुरंत बाद ही सहन न करना पड़े, किन्तु उस पाप से आत्मा को छुटकारा नही मिलता। पृथ्वी पर की समस्त सांसारिक अदालतो से ऊपर जो ईश्वरीय अदालत है, वहाँ आत्मा के साथ किसी

१२

मानवता की कसौटी, कर्त्तव्यपालन

[द्वितीय खण्ड]

उपस्थित सज्जनो !

मानव अगर अपने देश, समाज, पड़ौस और परिवार, सभी स्थानों में प्रसन्नता, खुशहाली और शान्तिमय वातावरण देखना चाहता है, तो उसे अपने समस्त कर्त्तव्यों का ईमानदारी से पालन करना चाहिये। कर्त्तव्य पालन में अद्भुत आनन्द छिपा हुआ होता है और उसका अनुभव कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति ही कर सकता है। जिस देश की प्रजा में सच्ची कर्त्तव्यनिष्ठा पाई जाती है, वह देश सदा सम्पन्न रहता है तथा सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक सभी दृष्टियों से प्रगति करता हुआ संसार के समक्ष अपना उच्च आदर्श स्थापित कर सकता है।

एक सरीखी विचारधारा, संस्कृति और सभ्यता के व्यक्तियों का समूह समाज कहलाता है और विभिन्न समाज मिलकर देश का निर्माण करते हैं। समाज की रचना ही कुछ इस प्रकार की होती है कि अगर उसका साधारण से

साधारण सदस्य भी अपने कर्त्तव्यो की उपेक्षा करे तो उसका कुप्रभाव सम्पूर्ण समाज पर पडता है तथा उससे अनैतिकता का प्रसार होने लगता है। फिर अगर समाज के गणमान्य तथा प्रतिष्ठित माने जाने वाले व्यक्ति अपने ऐश्वर्य या विद्वत्ता के गर्व मे चूर होकर अकर्त्तव्य-कर्म करने लग जाएँ तब तो समाज रसातल मे जाए विना रह ही नही सकता। कहा भी है —

बहवो यत्र नेतारः सर्वे पंडितमानिनः।
सर्वे महत्वमिच्छन्ति तद्वृन्दमवसीदति ॥

अर्थात्—जहाँ बहुत से नेता हैं, सभी अपने को पंडित मानने वाले हैं और सब अपनी बडाई चाहने है वह समाज नष्ट हो जाता है।

अपने आपका ऐश्वर्यशाली, महान् और सर्वगुण सम्पन्न समझने वाले व्यक्ति समाज के साधारण सदस्यो का कोई महत्त्व नही समझते, वे अपने धन तथा व्यक्तित्व के मद मे चूर होकर निर्धनो और निर्वलो पर नाना प्रकार के अत्याचार व अन्याय करना प्रारम्भ कर देते है। अधिक से अधिक धन इकट्ठा करने के प्रयत्न मे वे निर्धनो को मजदूर, नौकर और देनदार बनाकर उनका शोषण करते हैं। परिणाम यह होता है कि विभिन्न वर्ग स्थापित हो जाते हैं और उनमे वैर, विरोध और ईर्षा द्वेष की भावनाएँ पनपने लगती है। हत्याओ तक की नौबत आ जाती है। उसके बाद रगमच पर दिखाई देते है वकील और बैरिस्टर, जिनकी शरण मे पीडित और त्रस्त व्यक्ति पहुँचते हैं।

वकीलो के चमत्कारपूर्ण कारनामे—आज के युग मे झूठ को सच और सच को सफेद झूठ साबित करने वाला कोई जीवित यन्त्र है, तो वह सिर्फ वकील ही है। बडे से बडा अपराध करके भी कोई व्यक्ति अगर किसी चालाक वकील के पास जाएगा तो वह भारी फीस लेकर सर्वप्रथम तो उस व्यक्ति को अभियोग स्वीकार ही न करने की हिदायत देगा और उसके बाद गवाहो की खरीदी करके उनके बयानो द्वारा सत्य को झूठ साबित करके पौने सोलह आना तो अभियुक्त को दण्ड से मुक्त करा ही देगा। हाँ अगर विधि ही वाम हो जाए तो बात दूसरी है।

अभी हाल ही की बात है। अजमेर जिले का एक नवयुवक, जिसे मैं जानती हूँ पर नामोल्लेख करना उचित नही समझती, दो साल से शासकीय सेवा (सर्विस) प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था। पर रिश्वत देने की सामर्थ्य न होने के कारण उसे कोई सर्विस प्राप्त न हो सकती। अन्त मे हारकर उसने नेवी सेना मे भर्ती होना तय कर लिया और अपना नाम उससे सम्बन्धित अधिकारी को लिखवा दिया।

किन्तु जल-सेना मे भर्ती होने के लिये अविवाहित होना आवश्यक था। युवक विवाहित था अत उसने इस विषय मे जोधपुर के एक होशियार तथा ख्यातिप्राप्त वकील से सलाह ली। वकील ने उसे प्रथम तो यह सलाह दी कि वह अपनी पत्नी को तलाक दे दे। युवक ने घर जाकर अपनी पत्नी को समझाया बुझाया और कहा "कि यह तलाकनामा सिर्फ सर्विस पाने के लिये ही चाहिये। वास्तव मे तो हम जैसे है वैसे ही रहेगे तुम मेरे घर ही सदा रहोगी।"

किन्तु युवक की पत्नी आगबबूला हो उठी उसने इकना मे उस सत्परामर्श को नामजूर कर दिया तथा तलाकनामे से सम्बन्धित किसी भी कागज पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। लाचार युवक पुन वकील की शरण मे गया और उसे अपनी असफलता की सूचना दी।

पर वकीलो के लिये तो कभी निराश होने की कोई बात ही नही होती। उस वकील ने भी युवक को आश्वासन दिया और अगले दिन ही एक ईसाई कन्या को चालीस रुपये देकर बुला लिया। प्रथम तो दम्पती के रूप मे उस ईसाई कन्या के साथ युवक का फोटो फोटोग्राफर को कुछ रुपये देकर खिचवा लिया और फिर कोर्ट मे दोनो ने अपने को पति पत्नी मजूर किया। एक सप्ताह तक यह नया सम्बन्ध कोर्ट की साक्षी से बना रहा। उसके बाद युवक और कन्या की वह फोटो पेश करके वकील ने तलाक के लिये कोर्ट मे दरख्वास्त दे दी और दो सौ रुपये गवाहो को देने के लिये युवक से मांगे।

मै पहले ही बता चुकी हूँ कि युवक निर्धन था। सर्विस प्राप्त करने के लोभ मे बडी कठिनाई से दो सौ, अठारनी रुपये का इन्तजाम उसने किया था। उनमे से ईसाई कन्या को, फोटोग्राफर को, और बचे हुए सब रुपये वकील साहब की भेट पहले ही चढ चुके थे और कार्य हुआ था उनको 'लव मैरिज' तक का ही। अब तलाक के लिये पुन दो सौ रुपया वह किसी भी प्रकार नही ला सका और अपना-सा मुँह लेकर लौट आया। नौकरी प्राप्त करने की अभिलाषा वकील के अनैतिक रूप से तैयार किये जाल मे उलझ कर रह गई।

कहने का तात्पर्य यह है कि आजकल वकीलो के द्वारा भी अन्याय को प्रश्रय मिलता है। देखा जाय तो न्याय की रक्षा का बहुत कुछ उत्तरदायित्व वकीलो पर होता है, किन्तु चांदी की चमक मे जब उन्हे न्याय और अन्याय मे विवेक नही ज्ञान पडता तो न्याय का गला घुट जाता है। अनेक वकील जजो और मजिस्ट्रेटो की आंखो मे धूल झोककर उन्हे भी अन्याय की ओर प्रेरित कर देते है। तथा झूठे रुपये देकर लिखवा करके न्यायाधीशो के सन्निकट मे अभियोगो का जो रूप बिठा देते है, उसी के अनुसार वे निर्णय दे दिया करते है।

न्यायाधीशों के नेत्र वकील ही होते हैं अतः प्रायः वकीलों के इंगितानुसार वे इन्साफ कर दिया करते हैं। परिणाम यह होता है कि पैसा खर्च करके भी सच्चा व्यक्ति अदालत से न्याय नहीं पाता। इसीलिये कवि कहता है :—

सच्चे कोई डरदे कचहरी नहीं जान दे।
झूठे जाके थैलियां वकीलां नूं फड़ावदे।
सच्चे नूं वनाना झूठा कम्म वाएँ हाथ दा।
गला जादा घुटया ए अज इन्साफ दा।

आदर्श वकील का कर्त्तव्य यही है कि वह असत्य पक्ष की पुष्टि न करे तथा कानून की बारीकियों मे उलझाकर न्याय को छिन्न-भिन्न न करे। यह नहीं भूलना चाहिये कि असत्य एक घास के ढेर के समान है, जिसे सत्य की एक ही चिनगारी किसी दिन भस्म कर सकती है। जो श्रेष्ठ पुरुष सत्य को अपना लेता है वह स्वयं न्यायमार्ग पर चलने लगता है, तथा असत्य के साथ ही साथ अन्याय का नाश हो जाता है।

चिकित्सक का चातुर्य—प्रत्येक काल मे राजा, प्रजा, न्यायाधीश, वकील तथा शिक्षकों का दायित्व महान् होता है, उनके ऊपर देश और समाज की सुव्यवस्था और शान्ति निर्भर होती है किन्तु उन सबसे भी अधिक जिम्मेदारी का कार्य होता है डाक्टरों का। डाक्टर अथवा चिकित्सक, मरीजों को नवजीवन प्रदान करते है यथा साध्य या असाध्य, प्रत्येक रोग से मुकाबला करके उसे परास्त करने का प्रयत्न करते है। हजारों, लाखों व्यक्तियों की प्राणरक्षा उनकी कार्य कुशलता और कर्त्तव्य परायणता पर निर्भर होती है। तनिक भी असावधानी या असतर्कता किसी भी व्यक्ति के प्राणनाश का कारण बन सकती है।

इसलिये डॉक्टर को प्रत्येक रोगी के प्रति ईमानदार रहना अनिवार्य है। फीस के लोभ मे आकर अगर वह निर्धन रोगियों की उपेक्षा करता है तथा उनकी चिकित्सा सावधानी से नहीं करता तो समझना चाहिये कि वह बड़ा भारी पाप कर रहा है। आज हम देखते है कि जो ऐश्वर्यशाली पुरुष अनाप-शनाप पैसा खर्च कर सकते हैं उनके तो साधारण से साधारण रोगों का भी डॉक्टर दत्तचित्त होकर इलाज करते हैं और अगर वे अस्पतालों मे होते हैं तो उन्हे अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करते हैं, किन्तु दरिद्रता के अभिशाप से पीडित दीन-हीन व्यक्ति जब अस्पतालों मे जाते हैं तो जिन रोगियों को अविलम्ब चिकित्सा की आवश्यकता होती है, कई दिनों तक उनकी जाँच ही नहीं हो पाती और तुरन्त चिकित्सा के अभाव मे वे दम तोड देते हैं। रोगियों

के प्रति डॉक्टर का ऐसा व्यवहार भारी अन्याय और ऐसा पाप है, जिसकी तुलना अन्य किसी भी पाप से नहीं की जा सकती। डॉक्टर के विषय में किसी विचारक ने कहा है —

"A good surgeon must have an eagle's eyes, a lion's heart and a lady's hand"

अर्थात्—एक निपुण शल्यचिकित्सक के पास गिद्ध की आँखें, शेर का हृदय और नारी जैसा कोमल हाथ होना चाहिये।

चिकित्सक की गिद्ध-दृष्टि से तात्पर्य है, उसकी दृष्टि अत्यन्त पैनी हो। रोगी के विवरण की तथा उसके इलाज की उसको पूरी जानकारी हो तथा रोगी के शरीर में कौन सा रोग है इसका निदान करने की अपूर्व क्षमता है क्योंकि —

समुद्र इवहि गम्भीरं नैव शक्यं चिकित्सितम्,
वक्तु निर्विशेषेण श्लोकानामयुतैरपि।

—सुश्रुतसंहिता

चिकित्सा विज्ञान असीम, अगाध जलधि के सदृश है। उसका विवरण हजारों श्लोकों में भी नहीं किया जा सकता।

जब तक चिकित्सक रोगी के रोग का सही निदान न जान ले तथा उसकी चिकित्सा करने में पहले अपने आपको पूर्ण समर्थ न समझ ले उसे रोगी की चिकित्सा अपने हाथ में नहीं लेनी चाहिये। अन्यथा उसकी चिकित्सा रोगी का इलाज न होकर उसके प्राणों से खिलवाड़ बन जाएगी। और सम्भव है उसकी मृत्यु का कारण भी बन जाए। प्रसन्नता की बात है कि आज के युग में चिकित्सा विज्ञान ने आशातीत प्रगति की है। अनेकों असाध्य रोग साध्य बन गए हैं तथा चिकित्सा के चमत्कारपूर्ण प्रयोगों ने रोगियों को मौत के चंगुल से छुड़ा लाना भी सम्भव हो गया है। शल्य-चिकित्सा में तो इतनी उन्नति हो गई है कि मानव शरीर के अन्दर के रुग्ण हृदय, फेफड़े, गुर्दे या अन्य अनेक अंगों को भी सफलतापूर्वक बदल देना सम्भव हो गया है। तुरन्त मृत्यु को प्राप्त व्यक्ति के नेत्रों को निकाल दृष्टिहीनों के नेत्रों में लगाकर दृष्टि-दान करने के अनेक उदाहरण तो हम आए दिन सुनते ही हैं। यह सब हो सकता है, शल्य-चिकित्सा या चिकित्सा विज्ञान का पूरा ज्ञान होने पर ही। यदि चिकित्सक ने इस विषय का केवल डिग्री हासिल करने के लिये ही पढ़ा हो, उसने कदापि उसका मनन नहीं किया हो। वह कभी भी अपने कार्य में पूर्णतया सफल नहीं होगा। सफल वही हो सकता है जिसने अपने पढ़े हुए और सीखे हुए का बार-बार मनन

तिरस्कारपूर्ण और मर्मघातक शब्दों से हृदय में और गहरे घाव हो जाते हैं। डॉक्टर के अविवेकपूर्ण भाषण से निर्बल हृदय वाले रोगियों का तो कदाचित 'हार्टफेल' भी हो सकता है। इसलिए एक डॉक्टर का अमीर, गरीब मित्र और शत्रु, सभी पर समान स्नेहभाव और कोमलतापूर्ण व्यवहार होना चाहिये, यही सज्जनता के लक्षण हैं। कहा भी है —

अञ्जलिस्थानि पुष्पाणि, वासयन्ति करद्वयम् ।
अहो सुमनसां वृत्ति वामदक्षिणयो समा ॥

अर्थात्—जैसे अंजलि में लिये हुए फूल बायें और दाहिने दोनों हाथों को समान रूप से सुगन्धित करते हैं, उसी प्रकार सज्जन पुरुष शत्रु-मित्र सबके प्रति एक-सा व्यवहार करते हैं।

न्यूयार्क के एक मशहूर मेयर लागार्डिया अपनी सहृदयता और करुणापूर्ण भावनाओं के लिये बहुत मशहूर थे। नगर की वास्तविक स्थिति का वे सदा पता लगाया करते थे और प्राय पुलिस के मुकदमों की अध्यक्षता किया करते थे।

एक बार पुलिस ने एक चोर पर मुकदमा चलाया। चोर का अपराध था एक रोटी चुरा लेना। मुकदमे के दौरान चोर ने अपने बचाव के लिये सिर्फ इतना ही कहा—"मेरा परिवार भूखा था इस कारण मैंने रोटी चुराई।"

मेयर लागार्डिया ने इस मुकदमे का फैसला दिया—चूँकि अपराधी ने चोरी की है, इसलिये मैं उस पर दस डालर जुर्माना करता हूँ। किन्तु उन्होंने उसी वक्त अपनी जेब से दस डालर निकालकर मुलजिम को दिये और कहा—"लो, इन डालरों से तुम जुर्माना अदा करो।"

अदालत में उपस्थित जनता यह फैसला सुनकर चकित हुई, पर उससे भी ज्यादा चकित तब हुई जबकि मेयर ने वहाँ उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति पर आधे-आधे डालर का जुर्माना कर दिया। उन्होंने कहा—"जिस समाज में एक व्यक्ति को रोटी के लिये भी चोरी करनी पड़ती है वह समाज इस रोटी चुराने वाले की अपेक्षा अधिक अपराधी है।"

मेयर लागार्डिया के हृदय की कोमलता का यह अनुपम उदाहरण है।

ऐसे उदार हृदय की श्रेष्ठता का सहज ही अनुभव हो जाता है। न्याय के साथ ही अगर दया का मिश्रण हो जाय तो सोने में सुगन्ध वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है। शेक्सपियर ने कहा है —

"दया परमात्मा का निजी गुण है, लौकिक शक्ति उस समय ईश्वर-तुल्य मालूम होती है, जब न्याय से दया का सम्मिश्रण होता है।"

ऐसी ही कोमलता प्रत्येक चिकित्सक अथवा डॉक्टर के हृदय मे होनी चाहिये। उसके हृदय मे कोमलता, दया और करुणा का अजस्र स्रोत सदा प्रवाहित होता रहे तभी वह सच्चे अर्थ मे डॉक्टर कहला सकता है। रोगी चाहे दोस्त हो या दुश्मन, चोर हो या साहूकार, डॉक्टर, की दया का पात्र होता है। उसके प्रति उपेक्षा, तिरस्कार और क्रोध का लेशमात्र भाव भी डॉक्टर को अपने कर्त्तव्य से च्युत कर देता है।

हमारा धर्म तो पुकार-पुकार कर यही कह रहा है कि मनुष्य चाहे धर्म क्षेत्र मे हो या कर्मक्षेत्र मे, उसे प्रत्येक प्राणी के साथ करुणा और दयापूर्ण व्यवहार करना चाहिये। प्रत्येक प्राणी के लिये उसके हृदय मे आत्मवत् भाव होना चाहिये। हमारे आगम मे कहा गया है :—

तुमसि नाम सच्चेव जं 'हंतव्व' ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव जं 'अज्जावेयव्व' ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव ज 'परियावेयव्व' ति मन्नसि।
तुमसि नाम सच्चेव ज 'परिघित्तव्व' ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव ज उद्दवेयव्व' ति मन्नसि।

—आचारांग सूत्र

तुम जिसे मारना चाहते हो वह तुम ही हो। तुम जिस पर शासन करना चाहते हो वह तुम ही हो। जिसको कष्ट देना चाहते हो वह तुम ही हो, जिसको बांधना चाहते हो वह भी तुम ही हो, तथा जिसके प्राण लेना चाहते हो वह भी तुम्ही हो।

बंधुओ! आगम के इन अमूल्य शब्दो से आपने समझ लिया होगा कि एक प्राणी का दूसरे प्राणी के साथ क्या कर्त्तव्य है? सक्षेप मे—'आत्मवत् सर्व भूतेषु'—अर्थात् अपनी आत्मा के समान ही समस्त प्राणियो को समझना चाहिये। इस बात को जो व्यक्ति समझ लेता है वह कभी भी किसी अन्य प्राणी के प्रति अत्याचार, अन्याय या क्रूरता का व्यवहार नही करता। फिर डॉक्टर तो समाज के बड़े उत्तरदायित्व पूर्ण पद पर आसीन होता है। इसलिये उसे अपने कर्त्तव्य की रंच मात्र भी उपेक्षा नही करनी चाहिये। रात्रि या दिन कुछ भी क्यो न हो, प्रत्येक क्षण अपने फर्ज को अदा करने के लिये तैयार रहना चाहिये। उसे याद रखना चाहिये कि उसके द्वारा किया हुआ एक क्षण का विलंब भी किसी मनुष्य की मौत का कारण बन सकता है। उस क्षण में किया जाने वाला कार्य तो पुन हो जाएगा किन्तु किसी निरीह प्राणी के गए हुए प्राण लौटकर नही आ सकेंगे।

जनक और जननी — नवजात शिशु इस धरा पर जन्म लेते ही जिनके सम्पर्क में आता है वे माता और पिता ही होते हैं। माता-पिता सन्तान के प्रति अपने कर्तव्य का जिस प्रकार पालन करते हैं, बालक उसी के अनुसार बनने लगता है। पिता का स्थान परिवार में सर्वोपरि होता है। पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का समस्त भार उसके सिर पर ही रहता है। वही पिता अपने पुत्र को महापुरुषों की श्रेणी में बिठा सकता है जो अपने समस्त दुर्गुणों का त्याग करके प्रतिक्षण पुत्र के चरित्र को बनाने के प्रयत्न में रहता है। यह कार्य सरल नहीं, अत्यन्त कठिन होता है। पिता अपने पुत्र को जैसा बनाना चाहता है, वैसा उसे स्वयं ही पहले बनना पड़ता है। एक डाकू या कसाई अपने पुत्र को साधु बनाना चाहे तो केवल इच्छा मात्र से ही यह नहीं हो सकता। उसे स्वयं ही पहले सत् बनना होगा। शिशु जन्म से कुछ सीखकर नहीं आता, वह जो कुछ भी सीखता है, अनुकरण करके। अपने माता, पिता तथा परिवार के अन्य व्यक्तियों को जैसा करते देखता है, वैसा ही धीरे-धीरे वह करना सीख जाता है। जुआरी पिता का पुत्र धीरे-धीरे ताश खेलने में रुचि लेने लगता है और पुजारी का पुत्र देव-प्रतिमा की पूजा करने में। इसलिये अगर पिता अपने पुत्र को सुसंस्कारी और आदर्श नागरिक बनाना चाहता है तो उसे अपने कुसंस्कारों को त्यागकर आदर्श जीवन अपनाना पड़ेगा। सन्त तिरुवल्लुवर ने कहा है —

"पिता का पुत्र के प्रति यही कर्त्तव्य है कि वह उसे सभा में पहली पंक्ति में बैठने योग्य बना दे।"

सभा की पहली पंक्ति में बैठने योग्य वही पुरुष होता है जो विद्वान व गुणवान हो। जिस प्रकार हंसों के साथ में बगुला शोभा नहीं पाता उसी प्रकार मूर्ख व अशिक्षित व्यक्ति विद्वत्सभा में अशोभनीय प्रतीत होता है। और अशिक्षित व अज्ञान रहे पुत्र का सदा सर्वदा दुश्मन उसका पिता ही माना जाता है जो उचित समय पर अपने बालक को सुशिक्षा प्राप्त करने में सहायक नहीं बनता। कहा भी है —

माता शत्रुः पिता वैरी, येन बालो न पाठितः।
शोभते न सभामध्ये, हंसमध्ये बको यथा॥

किन्तु, धन का [illegible] करने की लालसा रखने वाले सद्गृहस्थ भी सन्तान [illegible] ही हैं [illegible] उनके भविष्य के प्रति लापरवाह हो रहे हैं। [illegible] [illegible] इस विषय में [illegible] [illegible]

सुयोग्य सतान चाहते है तो आपको विना शुभ मुहूर्त के महारानी जी से मिलना नही चाहिये। राजा ने इस वात को स्वीकार किया। कुछ समय पश्चात् राजा के यहाँ पुत्र का जन्म हुआ। राजकुमार का नाम विजयसिह रखा गया। विजयसिंह अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि व होनहार था। दस वर्ष की उम्र मे ही उसने अपनी उम्र के लिहाज से वहुत ज्यादा ज्ञानार्जन कर लिया। महाराजा और महारानी को इस बात से वडी भारी प्रसन्नता होती थी। किन्तु दुख सिर्फ इतना ही था कि राजकुमार विजयसिह के पश्चात् शुभ मुहूर्त के अभाव मे उनके कोई अन्य संतान उत्पन्न नही हुई थी।

सयोगवश एक दिन राजपुरोहित की पत्नी महल मे आई। महारानी जी ने उससे कुशल समाचार पूछने के साथ ही साथ उसके वच्चो की सख्या के विषय मे भी पूछ लिया। पुरोहित-पत्नी के उत्तर से मालूम हुआ कि उसके दस बच्चे हैं।

सुनकर महारानी को वडा आश्चर्य हुआ। उसने सोचा यहाँ तो मुहूर्त के अभाव मे दस वर्ष से सन्तान नहीं है, और पुरोहित के निरतर वच्चे होते जा रहे है। महाराज जयसिंह से महारानी ने इस वात का उल्लेख किया। राजा ने इसका कारण जानने के लिये पुरोहित को उसी दिन राजसभा मे बुलवाया। और इसका कारण पूछा।

पुरोहित ने अधिक कुछ न कहकर सिर्फ इतना ही कहा—

"महाराज! आप कृपया राजकुमार को बुलवाइये। राजा ने अनुचर को भेज दिया। उसी क्षण राजकुमार ने हँसते हुए आकर पिता से पूछा—"क्या आज्ञा है पिताजी?"

राजा ने पुरोहित से प्रथम हुए वार्तालाप के अनुसार कहा—"कुछ नही, जाकर अपना काम करो बेटा!" राजकुमार सहर्ष चल दिया। किन्तु उस दिन तो राजकुमार की परीक्षा होनी थी, अत. महाराजा जयसिह ने उसे एक सौ सोलह बार राजसभा मे बुलवाया और वह आज्ञाकारी पुत्र उसी प्रकार बिना किसी तरह की शिकायत किये मुस्कराता हुआ आया और लौट गया। अपने पुत्र के सौम्य व्यवहार को देखकर महाराज प्रसन्नता से भर गए।

इसके बाद पुरोहित ने कहा—"महाराज! अब मेरे पुत्रो को बुलवाइये।"

राजा ने उनके बुलाने के लिये भी नौकर को भेजा, कहलवाया कि तुम्हारे पिताजी बुला रहे हैं।

पुरोहित के लडके गली मे खेल रहे थे। पिता के आह्वान पर उनमे से एक भी नहीं आया। उलटे नौकर को गालियाँ देकर भगा दिया। पुरोहित ने दुबारा नौकर को भेजकर हर हालत मे ले आने का आदेश दिया।

पर जिस समय नौकर उन बच्चों को दरबार में लाए, सभा में कुतूहल उत्पन्न हो गया। सारे अभागे बच्चे मलिन और फटे वस्त्रों में, घिनौना शरीर लिए काँपते-सिसकते आए थे। उन्हें देखकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने पुरोहित से पूछा—"यह क्या बात है पुरोहित जी?"

पुरोहित ने अविचलित स्वर में कहा—"महाराज! यह सब बिना मुहूर्त में उत्पन्न हुई संतान है। पिता होते हुए भी मैं पिता के कर्त्तव्य का पालन नहीं कर रहा हूँ। अगर आप भी इस कर्त्तव्य को तिलांजलि देकर अधिक संतान का सुख चाहते हैं तो मैं आपको कहे हुए अपने शब्दों को वापिस लेता हूँ।"

राजा मौन रहे। वे समझ गए कि सुपुत्र का पिता बनने के लिये मनुष्य को अपने सुख का बलिदान करना आवश्यक है। अन्यथा कुपुत्र का उत्पन्न होना न होना दोनों ही बराबर हैं। किसी ने कहा भी है —

कि तया क्रियते धेन्वा, या न दग्ध्री न गर्भिणी।
कोऽर्थं पुत्रेण जातेन, यो न विद्वान् न धार्मिक।

अर्थात् उस गाय से क्या फायदा जो न दूध देती हो, न गर्भ धारण करती हो। उस पुत्र के उत्पन्न होने से क्या लाभ, जो न विद्वान् ही हुआ न धार्मिक।

पिता का सच्चा कर्त्तव्य यही है कि वह पुत्र का पालन-पोषण स्नेहभाव से करे किन्तु उस स्नेह का अनुचित लाभ उसे न उठाने दे। पुत्र-स्नेह को पुत्र की शिक्षा-दीक्षा में बाधक न बनने दे। पिता का पुत्र के साथ कैसा व्यवहार हो इस विषय में कहा गया है —

लालयेत् पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्॥

—चाणक्य

पाँच-पाँच वर्ष की अवस्था तक पुत्र का लालन-पालन स्नेह से करे और उसके बाद दस वर्ष अर्थात् पन्द्रह वर्ष की अवस्था तक ताड़न करता हुआ शिक्षा दे। परन्तु जब वह सोलह वर्ष की अवस्था में पहुँचे तब [illegible] समानता के साथ व्यवहार करे।

पिता की स्नेहमयता और त्याग ही पुत्र के उज्ज्वल भविष्य के निर्माण में सहायक हो सकती है। कोई भी पुत्र तब तक सुपुत्र नहीं बन सकता जब तक उसका पिता अपने कर्त्तव्य का [illegible] से पालन न करे।

[illegible] पिता के कर्त्तव्य के साथ ही साथ माता का कर्त्तव्य भी [illegible]।

योग्य बनाने के लिये आवश्यक है। माता का कर्त्तव्य पिता की अपेक्षा भी महान् है, ऐसा कहना भी अतिशयोक्ति नही है। मनुस्मृति मे उल्लेख है :—

"सहस्रं तु पितुर्माता गौरवेणातिरिच्यते।"

अर्थात्—पिता की अपेक्षा माता का गौरव हजार गुना अधिक माना गया है।

सतान का लालन-पालन जितनी उत्तमता से माँ करती है, उतनी अच्छी तरह से और कोई भी नही कर सकता। माता का प्रेम अतुलनीय होता है। जो अभागी सन्तान माँ के प्रेम से वंचित रह जाती है, उसका कभी भी पूर्ण विकास नही हो पाता। माँ के प्रेम मे अद्‌भुत शक्ति होती है, वही उसे धीर, वीर, बुद्धिमान, सदाचारी और साहसी बनाता है। माँ अपने पुत्र मे जितनी रुचि रखती है उतनी रुचि अन्य कोई भी नही रख सकता।

रूस मे एक बार प्रयोग के रूप मे कुछ बालक धायो के सुपुर्द किए गए, और कुछ बालक अपनी माताओ के पास ही रखे गए। दोनो को खाने-पीने तथा अन्य प्रकार की सभी सुविधाएँ समान रूप से रख दी गईं। किन्तु जब वे बच्चे बडे हुए और उनका परीक्षण किया गया, तो प्रमाणित हो गया कि जिन बालको का धायो ने पालन-पोषण किया था, उनकी अपेक्षा अपनी माताओ के द्वारा पोषित हुए बच्चो का शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास बहुत अधिक हुआ। इससे स्पष्ट हो गया कि बालक के चरित्र-निर्माण में तथा उसके भविष्य को सुन्दर बनाने मे माँ ही सबसे अधिक सफल हो सकती है। कहा भी है —

"The future destiny of the child is always the work of the mother

—नेपोलियन बोनापार्ट

अर्थात्—बालक का भाग्य सदैव उसकी माता के द्वारा निर्मित होता है।

किन्तु जिन माताओ को अपने कर्त्तव्य का बोध नही होता, वे अनुचित और अनावश्यक मोह के कारण अपने बालक को मूर्ख, अशिक्षित, जिद्दी, दुराचारी और असभ्य बना देती हैं। ऐसी माताएँ अपने पुत्र का मगल करने के बजाय अमगल का कारण बनती हैं। वे उसके लिये दुश्मन साबित होती हैं। कर्त्तव्य परायण माता की सन्तान सदा सुशिक्षित, सुसंस्कृत, सुसभ्य और सुन्दर विचारो वाली बनती हैं। क्योकि बालक के लिये प्रथम पाठशाला माँ की गोद ही होती है। माँ के बराबर प्रभावजनक शिक्षक अन्य कोई भी नही हो सकता तथा माँ की शक्ति से बढकर अन्य कोई शक्ति नही हो सकती —

"गरीयसी वै भुवि मातृशक्तिः ।"

—आचार्य मनु

अर्थात्—पृथ्वी पर निश्चय ही माता की शक्ति सर्वाधिक महती और विशाल है।

बालक भरत, जो बचपन में ही वनराज सिंह के ही दाँत गिना करता था अपनी माता शकुन्तला के द्वारा ही बनाया गया था। वीर शिवाजी, जिन्होंने बादशाह औरंगजेब के छक्के छुड़ा दिये थे, अपनी माता जीजाबाई की ही देन थे। और अरणक मुनि ने जिनका वर्णन हमारे शास्त्रों में आता है अपनी साध्वी माता की तनिक सी भर्त्सना से ही त्याग हुए संयम को पुनः ग्रहण कर लिया था और जिन परिषहों से [illegible] होकर संयम का त्याग किया था उनसे भी अधिक परीषह सहन करना स्वीकार किया। वह परीषह था अंगारों के समान जलती हुई शिला पर शयन कर संथारा धारण कर लेना। ऐसी होती है माता की शक्ति, जो अपनी सन्तान को इंगित मात्र से ही सत्पथ पर ले आती है। आवश्यकता है उसे अपना कर्त्तव्य पालन करने की। जो माता अपने बालक में बचपन से ही सुसंस्कार नहीं डालती वह उसकी अनिष्टकारिणी बनती है। बहुधा देखा जाता है कि अनेक बच्चे माता के अत्यधिक लाड़ प्यार में अविनीत और उच्छृंखल बन जाते हैं। कुछ की माताएँ [illegible] बच्चों को बचाने के लिए स्वयं पिता और माता भी [illegible] सोचते हैं, घर में पैसा तो बहुत है। बैठे-बैठे खाने पर भी पुत्र की जिन्दगी में समाप्त नहीं होगा फिर व्यर्थ पढ़ने से क्या लाभ? ऐसे विचार सन्तान को कुमार्ग पर ले जाने में उत्तरदायी बनते हैं। प्रत्येक माता का सच्चा कर्त्तव्य यही है कि वह अपनी सन्तान के आचरण और चरित्र निर्माण के लिए प्रतिक्षण सजग रहे। उत्तम चरित्र ही मानव को महामानव बना सकता है क्योंकि :—

"चरित्र बल एक ऐसा महान् दैविक बल है, [illegible] और परिश्रम के समान [illegible] रहते हैं, और सांसारिक जीवन की [illegible] सहन करने योग्य बनाते हैं।"

—[illegible]

[illegible] एक श्लोक में ही बच्चों [illegible] है। [illegible] —'आचार सर्वो-पम [illegible] है —

"Behaviour is a mirror in which every one displays his image"
—गेटे

आचरण एक दर्पण के सदृश है जिसमे हर मनुष्य अपना प्रतिविम्ब दिखाता है।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि सदाचार मानव को सच्चा मानव बनाता है और मानव को सदाचारी बनाने की जिम्मेदारी मुख्यतः माता की होती है। माता अगर चाहे तो अपने पुत्र को निश्चय ही महावीर, बुद्ध, राम और कृष्ण बना सकती है। प्राचीन-ग्रन्थो को पढने से हमे ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जिनमे माताओ ने अपने पुत्रो को इच्छानुसार बनाया।

राजा ऋतुध्वज की पत्नी मदालसा अत्यन्त विदुषी और सुसस्कृता नारी थी। अपने पुत्रो मे वह किस प्रकार संस्कार डालती थी, यह एक छोटे से उदाहरण से आप समझ लेंगे।

एक दिन मदालसा के वडे पुत्र को किसी ने पीट दिया। कुमार रोता हुआ घर आया और बोला—"माँ ! मुझे अमुक ने मारा है। मैं राजकुमार हूँ और वह साधारण नागरिक ! मेरे गौरव का उसने विचार नही किया अतः आप उसे उचित दण्ड देने की व्यवस्था करें।"

मदालसा ने पुत्र को गोद मे लेकर उसके अश्रु पोंछे और उत्तर दिया—"पुत्र तुम आत्मा हो, आत्मा की प्रकृति नाम से कलुषित नही हो सकती। राजपुत्र तो तुम्हारी उपाधिमात्र है। इसके कारण तुम्हे अभिमान नही होना चाहिये। तुम्हारा यह शरीर पञ्चभौतिक है, यह तुम्हारा तो है नही, फिर इस पर चोट लगने से रोते क्यो हो ?"

महारानी मदालसा की ऐसी शिक्षा से उसके तीन पुत्र ससार से विरक्त होकर सन्यासी हो गए तो महाराज ऋतुध्वज मदालसा से बोले—"महारानी, हमारे तीन पुत्र तो सन्यासी होगए अब तुम चौथे राजकुमार अलर्क को ऐसी शिक्षा दो, जिससे वह अपने तीनों भाइयो का अनुकरण कर संन्यासी न बने। अगर वह भी संन्यासी बन जाएगा तो फिर यह राज कौन सभालेगा ?"

मदालसा ने पति की आज्ञा शिरोधार्य की और अपने चौथे पुत्र अलर्क को राजनीति की शिक्षा देने लगी। परिणाम यह हुआ कि अलर्क राजनीति मे निपुण हो गया।

इस प्रकार मदालसा ने साबित कर दिया कि माता किस प्रकार अपनी इच्छानुसार अपने पुत्र को बना सकती है।

पुत्र — जैसे पुत्र के प्रति माता-पिता का कुछ कर्त्तव्य है उसी प्रकार पुत्र का भी उनके प्रति दायित्व है।

अतएव हमें सन्तान के उत्तरदायित्व पर भी विचार करना चाहिये। जन्म देने तथा पालन-पोषण करने वाले माता-पिता के प्रति सन्तान का दायित्व कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। माता-पिता अपने पुत्र और पुत्री के लिये जितना बलिदान और त्याग करते हैं उतना संसार में कोई भी अन्य व्यक्ति नहीं कर सकता। इसलिए इस महान् उपकार के ऋण से उऋण होना सन्तान के लिये सम्भव नहीं है। महाभारत में उल्लेख है—यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा—"पृथ्वी से भारी क्या है? और आकाश से ऊँचा क्या है?" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—

माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तथा।

—महाभारत

अर्थात्—माता पृथ्वी से भारी है और पिता आकाश से भी ऊँचा है।

कितना गौरव माता-पिता का बताया है? वस्तुतः माता और पिता से बढ़कर और कोई भी पुत्र के लिये नहीं हो सकता। पुत्र के लिए सबसे बड़ी गौरव की बात यही है कि वह मातृ-पितृ भक्त हो। बिना माता-पिता की प्रसन्नता लिये मनुष्य कभी भी अपने उच्च ध्येय में सफल नहीं हो सकता।

एक बार रामकृष्ण परमहंस के पास एक युवक आया और उनसे दीक्षा देने की प्रार्थना की।

परमहंस जी ने मुस्करा कर पूछा—"वत्स! क्या तुम्हारे घर में और कोई नहीं है?"

"केवल वृद्धा माता है महाराज!"

"तब फिर तुम दीक्षा लेकर क्या करना चाहते हो?"

"मैं इस संसार को छोड़कर मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहता हूँ।"

रामकृष्ण परमहंस ने युवक की बात ध्यान से सुनकर कहा—"बेटा अपनी वृद्ध माता का अनादर करके तेरा मुक्त होना नहीं हो सकता। [illegible] तुम्हें सिद्धि और [illegible]"

[illegible]

और योग्य बनाते है। इसी प्रयत्न मे उनकी आयु युवावस्था पार करके वृद्धत्व की ओर अग्रसर हो जाती है। प्रत्येक पुत्र का कर्त्तव्य है कि वह अपने माता-पिता को, जिनकी सम्पूर्ण शक्ति उसके जीवन को बनाने मे व्यय होती है, वृद्धावस्था मे सतोष और सुख प्रदान करे। तभी वह माता-पिता के ऋण से कुछ मात्रा मे उऋण हो सकता है। वह पुत्र कुपुत्र है जो युवा हो जाने पर शारीरिक बल, विद्या या धन के मद मे अधा होकर अपने माता-पिता की उपेक्षा करे।

पुत्र तो आचार्य चाणक्य के समान होना चाहिये। कहते हैं कि जब वे जन्मे थे तभी उनके मुँह मे तीन दाँत थे। चाणक्य जब कुछ बडे हुए, उनकी माता ने एक ज्योतिषी से पुत्र के जन्म से ही तीन दाँत होने का कारण पूछा। ज्योतिषी ने बताया—"तुम्हारा पुत्र बडा होकर चक्रवर्ती राजा बनेगा।"

सुनकर चाणक्य की माता उदास हो गई। चाणक्य वही पर था। बाल सुलभ उत्सुकता से उसने अपनी माता से उदास होने का कारण पूछा? माँ ने बताया— 'बेटा, ज्योतिषी ने जन्म से ही रहने वाले तुम्हारे इन तीनो दाँतो का फल बताया है कि तुम चक्रवर्ती सम्राट बनोगे।"

"तो इसमे क्या हर्ज है माँ?" चाणक्य ने चकित होकर पूछ लिया।

माता ने कहा—"चक्रवर्ती सम्राट होकर तो तुम अपनी माँ को भूल ही जाओगे बेटा! राज वैभव पाने के बाद तुम्हारे लिये मेरा कुछ भी महत्त्व नही रह जाएगा।"

बालक चाणक्य ने माता की बात सुनी, पर उत्तर दिये बिना ही घर से बाहर चला गया और कुछ क्षण बाद ही एक पत्थर लेकर लौटा। माता पत्थर को देखकर कुछ सोचती कि उसके पहले ही अपने मुँह को पत्थर पर पटक कर मातृ भक्त पुत्र ने अपने उन दाँतो को तोड डाला जिनका शुभ फल चक्रवर्ती होना था।

धन्य है ऐसे सुपुत्र जो माता-पिता की प्रसन्नता के लिये क्षण मात्र मे ही राज-वैभव को ठुकराने के लिये भी तैयार हो जाते हैं। जिस घर मे एक भी ऐसा पुत्र उत्पन्न हो जाय उस घर मे अथवा कुल मे अशान्ति और क्लेश का लेश मात्र भी न रह जाए। कहा भी गया है:—

एकोऽपि गुणवान्पुत्रो निर्गुणैश्च शतैर्वरः।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारा सहस्रशः॥

—आचार्य चाणक्य

अर्थात्—एक ही गुणी पुत्र श्रेष्ठ है, सैकड़ों गुण रहितों से [illegible]। एक ही चन्द्रमा अन्धकार का नाश कर देता है, तारागण नहीं।

तात्पर्य यही है कि प्रत्येक पुत्र सुपुत्र बनकर अपने वंश के गौरव को बढ़ाए। अपने कर्त्तव्य को समझ कर उसके अनुसार आचरण करे। यह नहीं कि अपने रूप, विद्या, धन तथा किसी प्रकार के अधिकार को पाकर अकर्त्तव्य कर्म करता चला जाय, तथा माता-पिता की उपेक्षा करते हुए कुमार्ग पर बढ़ चले। इस प्रकार मनुष्य का पतन ही होता है। जहाँ शरीर है वहाँ [illegible] से कोई शून्य नहीं होता। किन्तु [illegible] अपने चारित्र्य से आत्मा को [illegible] श्रेष्ठता और पवित्रता प्रदान करे। माता-पिता की सेवा तथा शुश्रूषा करना इन सभी कर्त्तव्यों में सबसे श्रेष्ठ कर्त्तव्य है तथा आत्मोन्नति के पथ पर बढ़ने का प्रारम्भ है।

दाम्पत्य जीवन के दायित्व—समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना व्यक्तित्व होता है और अपने-अपने कर्त्तव्य होते हैं। कुछ विशिष्ट पदासीन व्यक्तियों के कर्त्तव्यों का उल्लेख मैंने ऊपर और [illegible] किया है। अब मैं दम्पती के [illegible] में कुछ विचार आप लोगों के सम्मुख रखने जा रहा हूँ।

जब हम सृष्टि के प्रवाह का अवलोकन करते हैं तो प्रतीत होता है कि सृष्टि के दो ही प्रधान अंग हैं—नर और नारी। ये दोनों अंग समान [illegible] है। इसका प्रमाण हमें हिन्दू शास्त्रों में मिलता है जिनमें भगवान की कल्पना अर्धनारीश्वर के रूप में की गई है। यह तो स्पष्ट है कि भगवान् आधे पुरुष और आधे स्त्री नहीं हो सकते। फिर भी अगर यह कल्पना की जाती है तो उसका अभिप्राय कुछ और होना चाहिये। विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि भगवान् के अर्धनारीश्वर रूप से और दाम्पत्य भाव की कल्पना से [illegible] अभिप्राय नहीं हो सकता [illegible] कि नर और नारी का [illegible] है, कोई [illegible] है।

[illegible] कहा जाता है कि [illegible] पुरुष और स्त्री को समान [illegible] दोनों की प्रतिष्ठा [illegible] महाभारत में [illegible] है—

देववत् सततं साध्वी, भर्तारमनुपश्यति।
दम्पत्योरेष वै धर्मः, सहधर्मकृतः शुभः॥

[illegible]—[illegible] देवता [illegible] [illegible]

आचार शास्त्रो मे जिस प्रकार पत्नी के लिये पतिव्रत धर्म माना गया है, उसी प्रकार पति के लिये भी पत्नी व्रत धर्म बताया गया है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम का जीवन इस बात की पुष्टि करता है। वास्तव मे नर तथा नारी ससार मे एक दूसरे के पूरक होते है। अलग-अलग रहने पर दोनो ही अपूर्ण हैं, बिना एक दूसरे की सहायता के दोनो मे से कोई भी सृष्टि का संचालन नही कर सकता और न ही किसी सामाजिक और धार्मिक कार्य को ही सम्पन्न कर सकता है।

आदिकाल मे नारियो का स्थान पुरुषो से लेश मात्र भी हीन नही माना जाता था, बल्कि अनेक दृष्टियो से तो उनका महत्त्व पुरुषो की अपेक्षा अधिक ही समझा जाता था। भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रो से पहले, ब्राह्मी और सुन्दरी नामक पुत्रियो को शिक्षा दी थी। इससे स्पष्ट दिखाई देता है कि भगवान् ने समाज व्यवस्था मे नारियो को पुरुषो की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण माना था।

वैदिक युग मे पति-पत्नी दोनो ही समान रूप से धार्मिक कर्मों मे भाग लेते थे। सम्मिलित रूप से यज्ञो मे आहुतियाँ देते थे तथा प्रार्थनाएँ करते थे। कन्याओ का भी उपनयन संस्कार होता था और वे 'संध्या' की विधि किया करती थीं। वेदाध्ययन करने का उन्हे पूरा अधिकार था। इतना ही नही, कन्या का पिता उसी लडके से अपनी कन्या का विवाह करना चाहता था, जिसने कन्या की भाँति ही ब्रह्मचर्य का पालन करके शिक्षा हासिल की हो।

कहने का तात्पर्य यही है कि आज के युग मे भी पुरुष का यही कर्त्तव्य है कि वह स्त्री को सहधर्मिणी समझे तथा उसका भी उतना ही सम्मान करे जितने की वह स्वय उससे अपेक्षा रखता है। अपनी पत्नी के द्वारा जैसे पातिव्रत्य पालन की वह आकाक्षा रखता है, स्वय भी वैसे ही पत्नीव्रत का पालन करे। यह नही कि पत्नी के जीवित रहते भी वह सपत्नियाँ लाने के चक्कर मे रहे और उसके मर जाने पर तो फिर पूछना ही क्या है? आज के समाज ने पुरुषो के अनाचार को उपेक्षा करके तथा बहु विवाह की प्रथा को सामान्य बना करके स्त्रियो का महत्त्व बहुत कम कर दिया है। पुरुष का यह विचार कि पुन॰ विवाह तो हो ही जाएगा स्त्रियो के प्रति उपेक्षा का कारण बनता है अनेक स्त्रियाँ रोग-ग्रस्त होने पर भी इलाज के अभाव मे मर जाती है अथवा अनेक छोटे-मोटे कारणों से ही पति अथवा सास श्वसुर के द्वारा मार डाली जाती है। यह सब पत्नी के पुन सुलभता से प्राप्त हो जाने की प्रथा के कारण ही होता है।

यह दृष्टिकोण जब तक समूल नष्ट नही हो जाएगा समाज मे शाति

स्थापित नहीं होती। किसी भी समाज, देश और राष्ट्र की उन्नति तभी हो सकती है जब कि उस देश, समाज और राष्ट्र की नारियाँ शिक्षित सुसंस्कृत और निर्भीक हों।

भारत में एक युग ऐसा था जब स्त्रियों की महत्ता और प्रतिष्ठा का बहुत ध्यान रखा जाता था। किन्तु मध्य युग में ऐसी अनिष्टकारी विचारधारा फैली कि पुरुषों ने नारियों के साथ अत्यन्त अन्यायपूर्ण व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया। सामाजिक और धार्मिक, सभी क्षेत्रों में नारी को तिरस्कृत किया गया। अपने को नीतिज्ञ मानने वाले महापण्डितों ने तो यहाँ तक कहा :—

स्त्रियो हि मूलं निधनस्य पुंसः,
स्त्रियो हि मूलं व्यसनस्य पुंसः।
स्त्रियो हि मूलं नरकस्य पुंसः,
स्त्रियो हि मूलं कलहस्य पुंसः।

अर्थात्—स्त्रियाँ ही पुरुष की मृत्यु का कारण हैं, स्त्रियाँ ही पुरुष की विपत्ति का कारण हैं, स्त्रियाँ नरक गति का मूल कारण हैं, और स्त्रियाँ ही कलह का कारण हैं।

बड़े आश्चर्य और दुःख की बात है कि जो स्त्री पुरुष की जननी होती है, अपने हृदय का रस पिलाकर उसमें जीवन का संचार करती है, संकटों कष्टों को सहन करके तथा अपने समस्त सुखों का बलिदान करके पुत्र और पति को सुखी बनाने के लिये प्रयत्नशील रहती है, वह नारी पुरुष की मृत्यु का कारण कैसे मानी जाती है? और उसके लिये ऐसा कहा जाता है—

एता स्वार्थपरा नार्यः केवलं स्वसुखेरताः।
न तासां वल्लभः कोऽपि, सुतोऽपि स्वसुखं विना॥

अर्थात्—ये स्त्रियाँ स्वार्थ परायण होती हैं और केवल अपने ही सुख में रत रहती हैं। अपने सुख के सिवाय इन्हें और कोई प्यारा नहीं, अपना पुत्र भी नहीं।

मध्ययुग की यह विचारधारा पुरुष जाति का नारी के प्रति घोर अन्याय है। इस विपरीत दृष्टिकोण ने [illegible] पुरुषों ने नारी जाति के प्रति [illegible] अत्याचार किये और उसे [illegible] बना दिया। [illegible]

[illegible]

अधिकार को अस्वीकार नही किया। वह कहता है, नारी अपनी योग्यता के अनुसार प्रत्येक वडे से वडा पद और गौरव प्राप्त कर सकती है, तथा समस्त कर्मों का क्षय करके मुक्ति भी पा सकती है। उसे साधना करने का पूर्ण अधिकार है। महाकवि कालिदास ने भी कहा है :—

गुणः पूजास्थानं, गुणिषु न च लिगं न च वय. ।

अर्थात्—गुण ही वास्तव मे पूजा के स्थान हैं, लिंग और अवस्था से कोई प्रयोजन नही।

जिस किसी भी व्यक्ति मे गुण हो, उसका सम्मान होना चाहिये। कोई स्त्री हो या पुरुष, छोटा हो या वडा, अमीर हो या गरीव, अगर उसमे सद्गुण हैं तो वह प्रतिष्ठा और सत्कार का पात्र है। स्त्री मे अगर सद्गुण हैं तो वह आदरणीया, और दुर्गुण हो तो निन्दनीया है। मतलव यही कि पुरुष होने से ही कोई सम्मानित और बडा नही है तथा स्त्री होने से ही वह तिरस्कार की पात्र नहीं है।

मानवता का कल्पवृक्ष नारियो के द्वारा ही सिञ्चित और पोषित होता रहा है। माताओ के सुशिक्षिता होने पर ही बालको के सुसंस्कृत वनने की सभावना होती है। जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनकी महानता का आदि स्रोत माता ही रहा है। माता की प्रेरणा और आत्म-बलिदान ही उन्हे महापुरुष वना सका है। नारी अपने पुत्र को ही महान् नही बनाती, वह अपने पति के भी समस्त कार्यों मे सहायक वनती है। प्राचीन समय मे जब युद्ध हुआ करते थे, अनेक नारियाँ पति के साथ युद्ध भूमि मे जाया करती थी और अपनी वीरता से पति को विजय श्री दिलाने का प्रयत्न करती थी।

आज के युग मे भी पत्नी, पति के सुख-दुख मे छाया के समान साथ रहती है। पति के दुराचारी और लम्पट होने पर भी वह अपने आचरण को शुद्ध रखती हुई उसे सुधारने का प्रयत्न करती है तथा अपने पति और संतान के लिये अपना सर्वस्व त्याग करने मे भी पीछे नही हटती। इसीलिये कहते हैं :—

साध्वीना हि स्थिताना तु शीले सत्ये श्रुते स्थिते ।
स्त्रीणा पवित्र परम पतिरेको विशिष्यते ॥

—बाल्मीकि

अर्थात्—जो सत्य सदाचार, शास्त्रो की आज्ञा और कुलोचित मर्यादा मे स्थित रहती हैं, उन साध्वो स्त्रियो के लिये एकमात्र पति ही परम पवित्र एवं सर्वश्रेष्ठ आश्रय है।

कहने का अभिप्राय यही है कि पति के सुख मे सुखी और उसके दुख मे

[illegible] हुई भी नारियों ने [illegible] अपनी सन्तान का शुभ [illegible] [illegible] पति का [illegible] भी [illegible] ईमानदारी और [illegible] [illegible] उनके [illegible] में [illegible]। [illegible] पति वही है जो पत्नी [illegible] समान [illegible] अधिकार [illegible] उसके प्रति किसी भी प्रकार की [illegible] भावना न रखे [illegible] उसको सहधर्मिणी माने। ऐसा [illegible] वह पत्नी की [illegible] दृष्टि में भी सम्मान की अधिकारिणी बना रहेगा। नारी [illegible] नहीं है। आदिम काल से आज तक उसने [illegible] पुरुष का [illegible] उसकी [illegible] को [illegible] बनाया है तथा [illegible] उसका [illegible] प्रकट किया है। तभी कहा जाता है —

Man have sight, women in sight

अर्थात्—मनुष्य की दृष्टि होती है और नारी की दिव्य दृष्टि।

—विक्टर ह्यूगो

स्त्री के हृदय में कोमलता, करुणा और स्नेह का निवास होता है, जिसके कारण वह प्रत्येक क्षेत्र में, [illegible], [illegible] और [illegible] पुरुष की [illegible] रखा सकती है। [illegible] सहनशीलता और धैर्य के [illegible] गुणों के कारण ही वह [illegible] समान सम्मान प्राप्त कर सकती है। एक पाश्चात्य विद्वान ने [illegible] नारी का [illegible] किया है। कहा है —

"All the reasonings of men are not worth one sentiment of women."

— वाल्टेयर

अर्थात्—पुरुष के सारे तर्क स्त्री के एक भाव की तुलना नहीं कर सकते।

किन्तु आजकल का [illegible] है। नारी की [illegible] और [illegible] पुरुष के [illegible] साबित नहीं हो सकते। किन्तु [illegible] नारियाँ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] दिया है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] है —

"वह सेवा को अपना अधिकार समझती है, इसलिये देवी है; वह त्याग करना जानती है, इसलिये साम्राज्ञी है; विश्व उसके वात्सल्यमय आंचल में स्थान पा सकता है इसलिये जगन्माता है।"

वह नारी ही है, जो निस्वार्थभाव से अपने पति, पुत्र, अतिथि और कुटुम्ब-परिवार की सुख-सुविधा का ध्यान रखती है तथा इसके प्रतिदान मे प्रशसा या यश की स्वप्न मे भी कामना नही करती। कहा भी है :—

सा भार्या या शुचिर्दक्षा, सा भार्या या पतिव्रता।
सा भार्या या पति प्रीता, सा भार्या सत्यवादिनी॥

—चाणक्य

अर्थात्—वही भार्या है जो पवित्र और चतुर है, वही भार्या है जो पतिव्रता है, वही भार्या है जिस पर पति की प्रीति है, वही भार्या है जो सत्य बोलती है।

जिस घर मे सुभार्या होती है वह घर समाज मे आदर्श बन जाता है। इतना ही नही, वह अपनी सतान को सुशिक्षित बनाकर और विशेष करके अपनी कन्याओ को गुणवती बनाकर अनेक घरो को उज्ज्वल बनाने मे सहायक बनती है। एक विद्वान् ने कहा है :—

"For a wife, take the daughter of a good mother."

—फुलर

अर्थात्—पत्नी के चुनाव मे किसी सुचरित्र माँ की बेटी को पसंद करो।

उच्च कुल की कन्या आदर्श पत्नी बनकर पिता के और श्वसुर के कुलों को रोशन करती है, इसलिये प्रत्येक माता का कर्त्तव्य है कि वह अपनी कन्या को पुन-पुन यही चेतावनी दे :—

तुम उस देश मे जन्मी हो, जिस देश मे जन्मी थी सीता।
तुम उस देश की कन्या हो, जिस देश मे गूँज रही गीता।
देखो कहीं भटक मत जाना, झूठे हास-विलासो में।
करना ऐसा काम तुम्हारा, नाम रहे इतिहासो मे।
हर घर को तुम स्वर्ग बनाना, हर आंगन को फुलवारी।
नई उमर की कलियाँ तुमको! देख रही दुनिया सारी।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि नारी का सबसे बडा दायित्त्व अपनी कन्या को त्याग, क्षमा, प्रेम, उदारता, विनय, सहिष्णुता तथा सेवा आदि के गुणो से अलंकृत कर देना है, ताकि अपने इन सद्गुणो से वह सीता, सावित्री तथा चन्दनबाला के समान यशस्वी बने तथा अपने कुल, धर्म और समाज को

बात ही बात में विश्वास बदल जाता है,
रात ही रात मे इतिहास बदल जाता है।
तू मुसीबतो से न घबरा अरे इन्सान,
धरा की क्या कहें आकाश भी बदल जाता है।

यह सब कुछ तब हो सकता है जबकि मानव कर्त्तव्य की कसौटी पर कसा जाकर खरा उतरे। जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्यो की उपेक्षा करता है वह न तो इस लोक मे ही सम्मान का पात्र बन सकता है और न ही परलोक का हित साधन कर पाता है। मन की विकृतियाँ सत्कर्मो के प्रवाह से ही दूर हो सकती हैं। एक विद्वान ने तो यहाँ तक कहा है .—

"Good actions are the invisible hinges of the doors of heavens."
—विक्टर ह्यूगो

अर्थात्—शुभ कर्त्तव्य ही स्वर्ग के दरवाजे का अदृश्य कब्जा है।

ओ३म् शान्ति...



बात ही बात में विश्वास बदल जाता है,
रात ही रात मे इतिहास बदल जाता है।
तू मुसीबतो से न घबरा अरे इन्सान,
धरा की क्या कहें आकाश भी बदल जाता है।

यह सब कुछ तब हो सकता है जबकि मानव कर्त्तव्य की कसौटी पर कसा जाकर खरा उतरे। जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्यो की उपेक्षा करता है वह न तो इस लोक मे ही सम्मान का पात्र बन सकता है और न ही परलोक का हित साधन कर पाता है। मन की विकृतियाँ सत्कर्मों के प्रवाह से ही दूर हो सकती हैं। एक विद्वान ने तो यहाँ तक कहा है :—

"Good actions are the invisible hinges of the doors of heavens" —विक्टर ह्यूगो

अर्थात्—शुभ कर्त्तव्य ही स्वर्ग के दरवाजे का अदृश्य कब्जा है।

ओ३म् शान्ति····



१३

साधुवाद किसे ?

बंधुओ !

आज हम विचार करेंगे कि साधुवाद क्या है और वह किसे मिलना चाहिये ? दूसरे शब्दो मे यह कि साधुवाद प्राप्त करने का सच्चा अधिकारी कौन हो सकता है।

आज के युग मे साधुवाद, जिसे दूसरे शब्दो मे धन्यवाद कहते हैं, प्राप्त करना अत्यन्त सुलभ हो गया है। प्रकृतिदत्त जल और वायु को मनुष्य जिस प्रकार सहज ही पा लेता है उसी प्रकार वह कदम-कदम पर धन्यवाद या साधुवाद प्राप्त भी किया करता है। आप किसी को दैनिक पत्र पढने के लिए दे दीजिये, किसी के हाथ से गिरा हुआ पैन उठा दीजिये, किसी को एक कप चाय या एक सिगरेट पिला दीजिये, वह आपको उसी क्षण अनेक धन्यवाद दे देगा। किन्तु क्या उससे आपका गौरव बढ जाएगा ? क्या आप वास्तव से धन्य हो जाएँगे ? नही, उस क्षणिक शिष्टाचार से आपकी प्रतिष्ठा रंचमात्र भी नही बढ सकती। अपने स्वार्थ-साधन के लिये दिये हुए किसी स्वार्थी के धन्यवाद

द्वारा अथवा किसी चाटुकार के द्वारा खुशामद करने के लिये कहे गए प्रशंसात्मक शब्दो द्वारा आपके गौरव मे वृद्धि नही हो सकती। किसी स्वार्थी व्यक्ति को नगण्य सहायता देकर आप भले ही हजार साधुवाद उससे प्राप्त करले, पर उससे आप साधु या धन्य नही बन जाएँगे।

क्षणिक प्रभाव डालकर किसी के मुख से साधुवाद या धन्यवाद कहलवा लेना कोई विशेष महत्त्व नही रखता और न उसमे सद्भाव होता है। ऐसा साधुवाद सिर्फ स्वार्थ-साधन का एक तरीका बन कर रह जाता है, जिससे छल और कपट की मिलावट होती है। अधिक से अधिक समाज मे वह शिष्टाचार कहला सकता है या कृतज्ञताज्ञापन का एक तरीका।

'धन्य' सस्कृत भाषा का शब्द है। इसका अर्थ है धनयुक्त। मगर यहाँ धन का व्यापक अर्थ लिया जाता है। अतएव हमे यह देखना है कि वास्तव मे धन्य कौन माना जा सकता है? किसी की मिथ्यास्तुति से अथवा मित्रो या परिचितो के कहने मात्र से कोई धन्य नही होता। अनुचित तरीको से कुछ कार्यों मे सफल होकर मनुष्य भले ही अपने आपको धन्य मान ले या कि उसके खुशामदी मित्रगण उसे धन्य घोषित करदे, पर वह धन्यता गधे के शरीर पर ओढी हुई शेर की खाल से अधिक महत्त्व नही रखती। ऐसा मनुष्य अपने आपको धोखा देता है और अपने संपर्क मे आने वालो को भी। वह अपने मिथ्यारूप की कल्पना करके अहंकार के वशीभूत हो जाता है और फलस्वरूप अपने आपको साधु के स्थान पर असाधु बना बैठता है। ज्ञान-दुर्विदग्धता के कारण वह अल्पज्ञ होकर भी अपने को सर्वज्ञ मानने लगता है और दूसरो मे नाना अवगुणो की कल्पना करके स्वय को अति चतुर मानने की चेष्टा करता है। परिणाम यह होता है कि वह लोगों की दृष्टि से और भी गिर जाता है। तथा लोग उसके कपट पूर्ण व्यवहार से कतराने लगते हैं। तुलसीदासजी ने कहा है :—

हृदय कपट वर वेष धरि,
वचन कहहिं गढ़ छोलि।
अवके लोग मयूर ज्यो,
क्यो मिलिये मन खोलि॥

आज का युग बुद्धिबल और चातुरी मे बहुत आगे बढ गया है। वह मनुष्य को खूब ठोक बजाकर उसके साधु या असाधु होने का निर्णय करता है। आज का व्यक्ति उसे ही यह गौरव प्रदान करता है जो उसकी सूक्ष्म दृष्टि मे खरा उतरता है। इसलिये हमे जानना चाहिये कि संसार जिसे साधुवाद दे, वही व्यक्ति वास्तव मे साधु है और धन्य है।

ससार मे धन्य होने के लिये व्यक्ति में अनेक विशिष्टताएँ और गुण होने चाहिये। जिसका चरित्र असाधारण और निश्छल होगा वही लोक-दृष्टि मे सम्मानपूर्ण मानना जाएगा। जिस व्यक्ति को लोक धन्य कहते हैं उसमे अद्‌भुत सयम, आत्म शक्ति, निरहकारता, तथा सहृदयता आदि अनेक गुण होने आवश्यक है। अपने इन्ही गुणो के बल पर वह समार मे साधुवाद प्राप्त करने का अधिकारी माना जा सकेगा। अतएव हमें देखना है कि वे कौन-कौन से असाधारण गुण हैं जिन्हे अपनाकर मनुष्य ससार मे धन्य बन सकता है।

विचार करने पर हमारे सामने सर्वप्रथम सयम गुण आता है। संयम एक ऐसा चामत्कारिक गुण है कि जिसे अपनाकर व्यक्ति संसार मे सच्चे साधुवाद का पात्र बन सकता है। सयम मनुष्य मे ऐसी शक्ति पैदा कर देता है कि जिससे वह अनेकानेक उत्तम गुणो का स्वामी बनकर अपने जीवन को निरतर उन्नत बनाता चला जाता है। आत्म-संयम हृदय को शक्तिशाली बनाने वाला अनुपम साधन है। कहा भी है —

Most powerful is he, who has himself in his own power.

—सेनेका

अर्थात्—जो आत्मसंयमी है वही सर्व शक्तिमान है।

प्रश्न उठता है, संयम क्या है ? सयम का अर्थ है आत्मनिग्रह। प्रकृति नियमितता चाहती है। उसमे सब कुछ नियमबद्ध है। अपनी सहज नियमितता से वह मनुष्य को भी नियमित और मर्यादित होने की प्रेरणा देती है। नियन्त्रित रहकर ही मनुष्य स्वस्थ और जागरूक बना रह सकता है। अमर्यादित जीवन मे स्वाभाविक गुणो की प्रतिष्ठा नही हो सकती। जब मनुष्य अपने भौतिक जीवन को आध्यात्मिक जीवन के अधीन रखता है, अपनी इन्द्रिया को अपने वश मे रखता है तभी वह शक्तिमान बन सकता है। अपने आपको अनुशासन मे रखना ही सबसे बडी शक्ति प्राप्त करना है। संयम के द्वारा आत्मबल बढ़ता है और अन्तर्द्वन्द्व शनै शनै क्षीण होता चला जाता है। चित्त एकाग्र रहता है और वासनाओ का दमन होता है।

संयम की जड सदाचार है और ये दोनो ब्रह्मचर्य पर आधारित रहते हैं। जो लोग ब्रह्मचर्य की महिमा को समझते है वे सयम और सदाचार के महत्त्व को भली भाँति जान लेते हैं। जीवन-शक्ति को शरीर मे धारण करने की क्षमता ही ब्रह्मचर्य है। वही शरीर मे ओज और कान्ति का उत्पादक है। अमेरिकन ऋषि थोरो ने कहा है कि "ब्रह्मचर्य जीवन-वृक्ष का पुष्प है और प्रतिभा, पवित्रता, वीरता आदि उसके कतिपय फल हैं।"

सयम, सदाचार और ब्रह्मचर्य से ही उपलब्ध होता है और सयम के द्वारा ही शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्ति की वृद्धि होती है। वही व्यक्ति साधुवाद का पात्र होता है जो सयमी होता है, क्योकि वह सर्वसाधारण की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली, स्वाधीन और सच्चरित्र होता है। उत्तम चरित्र एक अनुपम और दिव्य शक्ति है। इसे प्राप्त करके ही अनेक पुरुष महापुरुष बने हैं।

एक बार शिवाजी के सैनिको ने किसी किले पर आक्रमण किया और उसे अधिकृत कर लिया। दुर्ग मे एक सुन्दर यवन बाला थी। सैनिक उसे पकड कर शिवाजी को प्रसन्न करने और पारितोषिक प्राप्त करने के उद्देश्य से उनके सम्मुख लाए।

सैनिको की इस हरकत को देखकर शिवाजी जल उठे और क्रोधित होकर बोले—"तुम लोगो को धिक्कार है। हमारा धर्म परस्त्री का हरण करना नही, वरन् उसका रक्षण करना है।" और उस रमणी की ओर उन्मुख होकर बोले—

"घबराओ मत बहिन! मेरे मूर्ख सैनिक तुम्हे रूपवती देखकर यहाँ ले आए हैं, किन्तु तुम्हारे सौन्दर्य को देखकर मेरे मन मे यह भाव उठ रहा है कि अगर मैं तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न होता तो मैं भी ऐसा सुन्दर होता।"

धन्य हैं ऐसे संयमी व्यक्ति जिनके हृदय मे कभी विकार नही आता। ऐसे शक्तिशाली पुरुषो मे अगर संयम न होता तो ससार मे भय और आतक का एक छत्र राज्य हो जाता। इसलिये अगर वास्तव मे ही मनुष्य साधुवाद का पात्र बनना चाहे तो उसे सर्व प्रथम संयमी बनना अनिवार्य है और उसके बाद अपनी आत्मशक्ति को पहचानना और उसे बढाना।

आत्मशक्ति, जिसे हम आत्म गौरव और स्वाभिमान भी कह सकते हैं, मनुष्य के जीवन को उन्नत और सफल बनाती है। उसका प्रधान बल आत्मबल ही होता है, शारीरिक बल नही। शरीर बल कितना भी अधिक क्यो न हो उससे सम्पूर्ण जीवन का विकास नही हो सकता। व्यक्ति को शरीर से नही वरन् आत्मा से बलशाली होना चाहिये। आत्मिक बल के मुकाबिले मे भौतिक या व्यावहारिक बल किसी भी प्रकार नही ठहर सकता। आत्म-बल ही एक ऐसा बल है जो सहस्र विपत्तियो का सामना करके उन पर विजय प्राप्त कर सकता है।

आत्म-बल या आत्म-शक्ति की कमी मनुष्य की अनेक असफलताओ का कारण बनती है। जिस मनुष्य मे आत्म-विश्वास नही है, वह शक्तिमान् होकर

भी कायर है और विद्वान् होकर भी मूर्ख है। अत प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्म-शक्ति बढाने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये 'डेल कारनेगी' ने बहुत सुन्दर उपाय बताया है। कहा है —

"The way to develop self-confidence is to do the things you fear to do and get a record of successful experiences behind you"

अर्थात्—आत्म-विश्वास बढाने की रीति यह है कि तुम वह काम करो जिसे करते हुए तुम डरते हो। इस प्रकार ज्यो-ज्यो तुम्हे सफलता मिलती जाएगी तुम्हारा आत्म-विश्वास बढता जाएगा।

जो मनुष्य अपना आत्म-विश्वास खो देगा उसके पतन का सिरा खोजने पर भी कही नही मिलेगा। आत्म-विश्वास जीवन है और आत्म-हीनता मृत्यु। मृत्यु दुखदायी होती है पर वह जीवन मे एक बार ही दुख देती है। लेकिन आत्म-हीनता ऐसी मृत्यु है जो पल-पल पर आती है और तिल-तिल करके आन्तरिक शक्ति को नष्ट करती रहती है।

विजयी नादिरशाह जब दिल्ली दरबार मे उपस्थित हुआ, उसने अपने सैनिको को मुगल-बेगमो को लाने का आदेश दिया। थोडी देर बाद ही एक-एक करके समस्त बेगमे उसके सामने आ खडी हुई।

नादिरशाह ने एक बार उन पर दृष्टि डाली और फिर अपनी तलवार को कुछ दूर फेंककर चुपचाप बैठ गया। उसका मस्तक झुका हुआ था और आँखें बन्द थी। भय विह्वल बेगमे मौन खडी हुई उस राज्य-विजेता को ताकती रही।

कुछ देर बाद नादिरशाह ने सिर उठाया और कडक कर कहा—"निर्लज्ज स्त्रियो! चली जाओ यहा से, तुम मे से किसी मे भी मुगल वश का जातीय अभिमान नही हैं। किसी मे भी आत्म-गौरव की भावना नही है। धिक्कार है तुम्हे! क्या तुम मे से कोई भी इतनी देर मे मेरी इस दूर पडी हुई तलवार से मेरी गर्दन नही काट सकती थी? तुम सबको इज्जत से ज्यादा अपनी जान प्यारी है। मेरे सामने से हट जाओ। तुम मे से एक भी, दिल्ली के तख्त पर आरूढ होने लायक बहादुर पुत्र पैदा नही कर सकती।"

लोक की ऐसी ही मनोवृत्ति होती है। वह आत्म-गौरव से परिपूर्ण व्यक्ति का आदर करता है। कोई कितना भी ऐश्वर्यशाली और विद्वान् क्यो न हो, अगर वह आत्महीनता की भावना रखता है तो सर्वदा तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। संसार उसे कायर कहता है। कहा भी है :—

अकर्मणा कथितेन सन्तः का पुरुषं विदुः ।

—उद्योग पर्व

अर्थात्—कायर का मान कौन करेगा ? कोई नही । जीवन मे किसी भी प्रकार का भय अपेक्षित नहीं है, अत' उसे बनाए रखना हमारी भूल है। भय का जन्म अविवेक, अविश्वास और कर्त्तव्यहीनता से होता है। जाने हुए के अनुरूप मानना नही, और माने हुए के अनुरूप करना नही, यही इन तीनों दोषो के पैदा होने मे कारण है। कर्त्तव्यहीनता मनुष्य को पुरुषार्थ हीन बनाती है।

ससार से जितने भी महापुरुष हुए हैं, जिनकी यश-गाथाएँ इतिहास में स्वर्णाक्षरो से लिखी गई हैं, वे सब अपनी आत्मशक्ति को पहचानकर कर्त्तव्य पालन करते रहे हैं। पुरुषार्थ करते रहे हैं। किसी अंग्रेज कवि ने अत्यन्त सुन्दर लिखा है —

A man of words not of deeds
Is like a garden full of weeds.

अर्थ—अपने कर्त्तव्य का पालन न करके केवल बातें बनाने वाला व्यक्ति उस उद्यान के समान है जिसमे फूलो के स्थान पर केवल घास-फूस उगी हुई है।

पुरुषार्थी मनुष्य जान पर खेल कर भी अपने उद्देश्य की प्राप्ति के प्रयत्न को नही छोडता। एक बार महाभीषण युद्ध मे नेपोलियन को सेना शत्रुओ के प्रवल आक्रमण से घबरा गई। व्याकुल सैनिक प्राण बचाने के लिये इधर-उधर भाग चले। सेनापति ने नेपोलियन से कहा—'स्वामी! हम हार गए।' नेपोलियन ने तत्काल उत्तर दिया—'तुम हार गए सेनापति! लेकिन मैं नही हारा।' और यह कहते हुए नेपोलियन ने स्वयं सैन्यसचालन का भार अपने ऊपर ले लिया और शत्रुओ की उन्मत्त सेना पर झपट पडा। सामने गोलियो की बौछार हो रही थी, गोले वरस रहे थे, सहस्रो तलवारें विद्युत की तरह चमक रही थी। किन्तु किसी की भी परवाह न करता हुआ वीर नेपोलियन निर्भीकता पूर्वक विना प्राणो की परवाह किये वढता चला गया। अपने स्वामी को इस प्रकार जान पर खेल कर वढते हुए देखकर फ्रास के पीठ दिखाने वाले समस्त सैनिको का हौसला वढ गया, और उनका हृदय पुन' उत्साह से भर गया। रुवके सव प्राणो का मोह त्याग कर अविलम्ब वैरियो पर टूट पडे। पराक्रमी नेपोलियन शत्रुदल का विनाश करता हुआ विजयश्री के समीप जा पहुंचा और उसकी जय ध्वनि से आकाश थर्रा उठा।

निर्भयता की ऐसी उद्दाम भावना मे से ही मनुष्य सशक्त बन सकता है। उसे स्मरण रखना चाहिये कि प्राकृतिक शक्तियाँ प्रत्येक क्षण जीवन-रक्षा मे तत्पर रहती हैं अगर उन पर और स्वय अपनी आत्म-शक्ति पर भरोसा रखा जाए। हृदय की दृढता और निर्भयता हो तो घोर संकट मे पडकर भी मनुष्य मिट्टी के ढेले की तरह चूर-चूर नही हो जाएगा। आवश्यक यही है कि उसकी आत्मा का प्रभाव क्षीण न हो, उसका आत्म तेज मन्द न पडे और कैसी भी भयकर परिस्थिति मे वह अपनी आत्मा को पतित या विचलित न होने दे। अपनी आत्मिक शक्ति, स्वाभिमान और गौरव को अगर उसने छोड दिया तो फिर कोई भी शक्ति उसे अपने उद्देश्य मे सफलता प्राप्त नही करा सकती।

एक बार यूनान के आततायी अधिकारियो ने स्वाभिमानी डायोजिनीज को पकडकर बिक्री के लिये गुलामा के बाजार मे बैठा दिया। उससे पूछा गया—तुम कौनसा काम अच्छी तरह से कर सकते हो ? जिससे तुम्हारी विशेषताओ की घोषणा करके उपयुक्त खरीददार खोजा जा सके ?

डायोजिनीज ने उसी क्षण पूर्ण आत्म-विश्वास पूर्वक घोषणा करने वाले से कहा—'घोषणा करवा दो कि मैं बहुत अच्छा शासन कर सकता हूँ। अगर किसी को स्वामी की आवश्यकता हो तो वह मुझे ले सकता है।"

वास्तव मे मनुष्य जब भय या हीनता के कारण अपने को तुच्छ समझने लगता है तभी उसका मान-मर्दन होता है। आत्म-हीनता पतन का प्रथम चरण है। इसीलिये भारतीय विचारको का कथन है कि संसार मे दूसरो के सामने छोटा न बनकर सम्मानपूर्वक प्राण त्याग देना श्रेयस्कर है, किन्तु अपमान युवत अमरत्व लाभ भी अच्छा नही ,

पञ्चत्वमेव हि वरं, लोके लाघववर्जितम् ।
नामरत्वमपि श्रेयो, लाघवेन समन्वितम् ॥

—स्कन्द पुराण

बहुत से व्यक्ति स्वाभिमान और अभिमान के सही अर्थों को नही समझते और दोनो मे भिन्नता नही कर पाते। किन्तु स्वाभिमान और अभिमान मे बडा अन्तर है। स्वाभिमान मनुष्य को महानता की ओर ले जाने वाला है तथा अभिमान पतन की ओर। स्वाभिमानी व्यक्ति ससार में साधुवाद प्राप्त करते हैं और सदा के लिये धन्य हो जाते हैं जब कि अभिमानी पुरुष अपयश के गड्ढे मे गिरकर हमेशा के लिये उपहास और निन्दा के पात्र बनकर रह जाते हैं। कस और दुर्योधन ऐसे ही अभिमानी पुरुष थे जिन्हें आज बच्चा-बच्चा भी अत्यन्त नफरत और घृणा के साथ स्मरण करता है। साधु व्यक्ति वही माना जा सकता है जो निरहकार हो।

साधारण व्यक्ति थोडा-वहुत धन और मान पाकर ही वहक जाते हैं, अहंकार मे चूर हो जाते हैं। किन्तु महान् व्यक्ति इनको तृण से अधिक महत्व नही देते। राम ऐसे ही महापुरुष थे। सुवर्णमयी लका पर विजय पाकर भी उन्होने उसे तृणवत् त्याग दिया। किसी कवि ने उनके संवध मे सत्य कहा है—

पौढन को तृण के पथरे अरु ओढ़न को पट्ट द्वै बकली के,
भोजन याम मिलै कवहुँ कवहूक भखै फल द्वै कदली के।
सम्पति को परिवेश इहैऽरु महादुख देह विदेहलली के,
ता दिन लंक दई जु विभीषन हाथ वर्दौ रघुनाथ बली के।

जिस लका का राजा होकर रावण मदान्ध हो गया था, उसी को राम ने क्षण मात्र मे विभीषण के हाथो में सौंप दिया।

अहंकार एक ऐसा दुर्गुण है जिससे शील सौजन्य और सम्पत्ति सभी समूल नष्ट हो जाते हैं। लक्ष्मी का अहकार लक्ष्मी का विनाश करता है। ज्ञान का अहकार बुद्धि को निष्क्रिय बनाता है तथा वल का अहकार शक्ति नष्ट कर देता है और अपयश का बोझा व्यक्ति के सिर पर लाद देता है। दार्शनिक फ्रेंकलिन ने कहा है —

'Pride breakfast with plenty, dined with poverty and supped with infamy'

अर्थात्—गर्व समृद्धि के साथ जलपान करता है, गरीबी के साथ दोपहर का भोजन और बदनामी के साथ रात्रि का खाना खाता है।

गर्व मित्रो के साथ संबन्ध विच्छेद का कारण बन करके शत्रुओ की सख्या मे वृद्धि करता है। ससार मे जिसने भी गर्व किया उसका पतन हुआ। रावण, जो वज्र को भी तोड सकता था, अपने अहकार के कारण विनाश को प्राप्त हुआ। मदाध व्यक्ति न अपने मन पर संयम रख सकता है और न वचन पर ही। ऐसी दशा मे उससे सद्व्यवहार की आशा करना वृथा साबित होता है। परिणाम यह होता है कि जीवन भर वह अपने क्रूर कर्मों से और कटु वचनो से निविड कर्म बाँधता चला जाता है और अत समय मे वृथा पश्चात्ताप करना ही उसके हाथ मे रह जाता है।

प्राचीन काल के एक चीनी महात्मा ने मृत्यु से पूर्व अपने शिष्य से पूछा—'वत्स'! देखो मेरी जीभ मुँह के भीतर है या नही ?'

शिष्य ने उत्तर दिया—'है गुरुदेव !'

महात्मा ने पुन पूछा—'अब यह बताओ कि मेरे मुँह मे दाँत भी हैं या नही ?'

भोले शिष्य ने तुरत कहा—'दाँत तो अब एक भी नही रह गया है भगवन् !'

महात्मा ने अब प्रश्न किया—'क्या तुम बता सकते हो कि जीभ अभी तक अपने स्थान पर क्यो है, और दाँत सब क्यो उखड गए ?'

शिष्य ने घबराकर कहा—'नही ।'

तब महात्मा ने उसे समझाया—'देखो बेटा ! जीभ सरस और सुकोमल होती है, इसलिये वह सदा ज्यो की त्यो बनी रहती है, किन्तु दाँत कठोर और क्रूर होते है अत: शीघ्र ही गिर जाते हैं । उनका अधिक काल तक अस्तित्व नही रहता ।'

यह एक गुरु का अपने शिष्य को उपदेश था जो ससार के सभी व्यक्तियो के लिये भी है । क्रूर और कठोर हृदय के व्यक्ति इसी प्रकार असमय मे विनाश को प्राप्त होते हैं । अहकारी पुरुष सदा अपने आपको दूसरो से श्रेष्ठ और बुद्धिमान् मानते हैं तथा दूसरो को तुच्छ और मूर्ख मानकर अपमानित करने के प्रयत्न मे रहते हैं । प्रभुत्व मद मे आकर औरो को कुछ भी नही समझते । ससार ऐसे व्यक्तियो का कभी सम्मान नही करता सिर्फ कुछ स्वार्थी और चाटुकार व्यक्ति ही अपने किसी न किसी स्वार्थ-साधन के लिये उन्हे साधुवाद देते हैं ।

बधुओ ! आप लोगो को सुस्थिर चित्त से विचार करना चाहिये कि किस प्रकार अहकार जीवन के समस्त गुणो का नाश करता है, और तब अपना जीवन लक्ष्य उचित अनुचित की कसौटी पर, कसकर निर्मित करना चाहिये । अगर आप पूँजीपति है तो मजदूरो को नगण्य मत समझिये । यह मत भूलिये कि उन्ही के श्रम से आपकी भव्य कोठी का निर्माण हुआ है । अगर आप दान देने मे समर्थ हैं तो दीनो को अपने अहकार पूर्ण वचनो से चोट मत पहुँचाइये । और यदि आप शक्ति-सम्पन्न अधिकारी हैं तो अपने आश्रितो को निराश्रित मत छोडिये । अपने महल मे रहकर आप दूसरो के झोपडो मे आग मत लगाइये अन्यथा हो सकता है कि झोपडे की आग आपके महल को भस्म कर दे । याद रखिये कि झोपडी मे रहने वाला एक साधु सारे ससार को हिला सकता है । भर्तृहरि ने कहा भी है :—

संपत्सु महता चित्त भवत्युत्पलकोमलम् ।
आपत्सु च महाशैल - शिला - सघातकर्कशम् ॥

अर्थात्—सतो का चित्त समृद्धि के समय कमल से भी अधिक कोमल होता है, परन्तु आपत्ति मे उनका चित्त पहाड के पत्थर से भी कठोर हो जाता है ।

अहंकारी पुरुष सदा परदोषदर्शी बना रहता है। वह कभी भी अपने इस अनित्य जीवन से निराश नही होता। क्योकि उसमे रहे हुए गुणो का अभिमान उसके देहाभिमान को कम नही होने देता। उसके दुराग्रह और दुस्साहस से उसकी आत्मा का पराभव भले ही हो जाए किन्तु अहंकार का पराभव नही होता, चाहे कलक की कैसी भी कालिमा उस पर क्यो न चढ जाए। एक कहावत है :—

'Pride goes before, and shame follows after.'

अर्थात्—पहले गर्व चलता है और उसके बाद कलक आता है।

इसलिये प्रत्येक साधुवाद के इच्छुक व्यक्ति को अहकार का सर्वथा त्याग करके अपनी आत्मा को उज्ज्वल और उन्नत बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। उसे समझना चाहिये कि ससार अनित्य है और देह क्षणभगुर। दूसरो को सदा तिरस्कार की दृष्टि से देखने वाले नेत्र जिस क्षण मुँद जाएँगे, अहकार का पहाड भी उन्हे खोलने मे समर्थ न हो सकेगा। कबीरदासजी ने कितने सीधे और सरल शब्दो मे कहा है :—

कबिरा गरब न कीजिये, कबहुँ न हँसिये कोय।
अबहूं नाव समुद्र में का जाने का होय॥

गर्व मे चूर होकर औरो का उपहास करना अत्यन्त निकृष्ट वृत्ति है। मनुष्य को कभी नही भूलना चाहिये कि समय परिवर्तनशील और बलवान है। कौन जान सकता है कि आज का ऐश्वर्यशाली कल दर-दर की ठोकरें खाने पर मजबूर हो जाए और शारीरिक शक्ति से सम्पन्न अत्यन्त बलवान् भी कल अपग होकर दो कदम चलने मे असमर्थ हो जाए। समय परमात्मा से भी अधिक शक्तिशाली है। कोटि उपाय करने पर भी समय को बाँधकर नही रखा जा सकता। समय सदा से सक्रमणशील रहा है और रहेगा। उसके साथ ही हमे बदलना पडेगा, चलना पडेगा। चाहे खुश होकर बदलें या दुखी होकर। यही जीवन का क्रम है :—

लाई हयात आये, कजा ले चली चले।
न अपनी खुशी आए, न अपनी खुशी चले।

जीवन हमे लेकर आया तो हम आए और मृत्यु ले जाएगी तो चले जाएँगे। अपनी इच्छा से हम न आए थे और न अनिच्छा से रुक सकेंगे। जाना पडेगा।

ऐसी अनैच्छिक और अनिश्चित जिन्दगी को अहंकार के द्वारा मिट्टी मे

मिला देना मनुष्य जीवन की महान् भूल है। मनुष्य को जीवन की क्षण-भगुरता और समय की शक्ति को पहचानकर उसका अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहिये। अन्यथा समय बीत जाने पर पश्चात्ताप ही हाथ आएगा और मरने के बाद अपयश छोडकर जाना पडेगा। किसी भी अहकारी व्यक्ति को, चाहे वह छ खण्ड का सम्राट ही क्यो न रहा हो, ससार स्मरण कर साधुवाद नहीं देता। निरहकार व्यक्ति ही अपने जीवन काल मे और उसके बाद भी साधुवाद का अधिकारी बनता है।

जिस व्यक्ति के हृदय मे अहकार नही होता, सहृदयता उसमे बिना बुलाये प्रवेश कर जाती है। सहृदयता मनुष्य की एक अनुपम विशेषता है। हृदयहीन व्यक्ति या तो प्रेत माना जा सकता है या पशु। पशु सिर्फ अपने या अपने बच्चो के प्रति ही आत्मीयता का भाव रख सकता है। दूसरो के प्रति वह निर्दय या उदासीन होता है। किसी के दुख, कष्ट और शोक से प्रभावित नही होता। उसी प्रकार हृदयहीन व्यक्ति दीनो की आर्त-पुकार से द्रवित नहीं हो सकता।

इसके विपरीत सहृदय व्यक्ति दूसरो की व्यथा से व्यथित होता है और उसे दूर करने मे प्रयत्नशील रहता है। वह कभी भी किसी प्रकार का अपकार नही करता प्रत्युत अपनी हानि करके भी औरो का उपकार करने की आकाक्षा रखता है।

यवन देश के एक राजा के सामने किसी ने उसी के राज्य मे रहने वाले सर्वगुण-सम्पन्न हातिम की प्रशसा कर दी। राजा उसे सहन नही कर सका। वह आग बबूला हो गया। उसने घोषणा करवादी कि जो भी व्यक्ति हातिम का सर काट कर लाएगा, उसे बहुत पुरस्कार मिलेगा।

अनेक व्यक्तियो ने हातिम को खोजना प्रारम्भ कर दिया। एक व्यक्ति, जो हातिम को पहचानता नही था, खोजते-खोजते उसी के घर जाकर ठहर गया। हातिम ने, उसकी बहुत आवभगत की और जब वह जाने लगा तो पूछा—

"भाई ! इतनी जल्दी कहाँ जा रहे हो ? क्या कोई शीघ्रता का काम है ? अगर मेरे योग्य हो तो बताओ, मैं तुम्हारी भरसक सहायता करूँगा।"

वह अभावग्रस्त किन्तु निष्कपट व्यक्ति बोला—मुझे पैसो की बडी जरूरत है। बाल-बच्चे भूखे मर रहे हैं। अत राजा की घोषणा सुनकर मैं हातिम नाम के व्यक्ति का सिर काटने जा रहा हूँ। राजा उसके लिये भारी इनाम देंगे। क्या तुम इसमे मुझे सहयोग दे सकते हो ?

सुनकर हातिम क्षणभर के लिये स्तब्ध रह गया ! किन्तु दूसरे ही क्षण बोला—क्यो नही ? मैं अवश्य ही तुम्हारी सहायता करूँगा । मैं स्वय ही हातिम हूँ। इस समय सुअवसर है। घर मे नौकर-चाकर भी नही है। तुम इसी समय मेरा सिर काटकर ले जाओ और राजा से उचित धन प्राप्त करो।

हातिम की बात सुनकर आगन्तुक व्यक्ति भौचक्का रह गया। कुछ बोल न सका। कुछ ही क्षणो के बाद वह हातिम का सिर काटने के बजाय उसके चरणो मे गिर पडा और अपने निन्दनीय इरादे को त्याग कर चलने लगा। हातिम ने उसे रोक कर कुछ धन दिया और फिर विदा दी।

हातिम की सहृदयता ने अपना सिर काटनेवाले हृदय मे भी सहृदयता का ज्वार ला दिया। ऐसे उदाहरणो से हम भलीभाँति जान सकते है कि हृदय की विशालता और उदारता का कैसा आश्चर्यजनक प्रभाव पडता है। बड़े से बडे अत्याचारी मे भी जब सहृदयता उत्पन्न हो जाती है तो उसके जीवन मे अद्भुत परिवर्तन आ जाता है।

सहृदय व्यक्ति शान्त चित्त द्वारा अपने शुद्ध हृदय की सम्मति से कार्य करता है। वह सबको अपने जैसा और सबके सुख मे अपना सुख मानता हुआ सदा परोपकार मे रत रहता है। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है :—

न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पइ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाणभासइ॥

अर्थात्—ज्ञानी और सहृदय पुरुष न किसी पर दोषारोपण करता है और न कभी मित्रो-परिचितो पर कुपित ही होता है। और तो क्या, मित्र से मत-भेद होने पर भी परोक्ष मे उसकी भलाई की ही बात करता है।

यही सहृदयता है, यही मनुष्यता है और यही सज्जनता है। कहा जाता है कि **'सता सप्तपदी मैत्री'** सज्जनो मे सात कदम साथ चलते ही मैत्री हो जाती है। क्योंकि वे सहृदय होते हैं, इसलिये परस्पर सुहृद हो जाते हैं। हृदय से हृदय को जीता जाता है। सहृदयता से तो अबोध पशु भी जीते जा सकते हैं फिर मनुष्यो की तो बात ही क्या है ?

सहृदय व्यक्ति सभी प्राणियो को आत्मवत् मानता है। वह अत्यन्त क्रूर और आततायी मे भी घृणा या नफरत नही करता। वह जानता है कि घृणा पाप से की जाती है, पापी से नही। सज्जन पुरुष घोर पाप करने वाले को भी समझा बुझा कर सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते है। ऐसे व्यक्तियो को ऐश्वर्य का या उच्च पद का किंचित मात्र भी लोभ नही होता।

एटम युग के प्रवर्तक अलवर्ट आइन्स्टीन ससार के सबसे महान् वैज्ञानिक

थे । इजराइल के प्रेसीडेन्ट डाक्टर 'चैन वेंजमेन' के मरने पर आइन्स्टीन से वहाँ का प्रेसीडेन्ट पद स्वीकार करने की प्रार्थना की गई। लेकिन उन्होंने वहाँ की सरकार के इस प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए कहा—"मैं आप लोगो का बडा आभारी हूँ किन्तु ऊँचे पद पर रहकर मे जन-साधारण के जीवन से दूर हो जाऊँगा और मैं उन लोगो के बीच मे रहना चाहता हूँ।"

कितनो सुहृदयता थी आइन्स्टीन मे, जिसके कारण उन्होंने मिलने वाले सर्वोच्च पद का भी त्याग कर दिया। सहृदयता सज्जनो का स्वाभाविक गुण होता है, और वे बिना कहे ही अपने हितकारी आचरण से समग्र विश्व को आनन्दित करने का प्रयत्न करते हैं। इसके विपरीत दुर्जन और क्रूर व्यक्ति अपने स्वार्थ साधनके लिये और बहुधा निष्प्रयोजन ही औरो की हानि करने से नही चूकते। 'भर्तृहरि' ने 'नीतिशतक' मे ऐसे ही कुछ व्यक्तियो का उल्लेख किया है। कहा है —

एके सत्पुरुषा परार्थघटका स्वार्थं परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृत स्वार्थाविरोधेन ये ॥
तेऽमी मानुषराक्षसा परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहित ते के न जानीमहे ॥

अर्थात्—जो लोग अपने स्वार्थ का खयाल न करके पर का भला करते हैं वे सत्पुरुष हैं। जो अपना स्वार्थ न बिगडने देकर पर का उपकार करते हैं, यानी अपना और पराया दोनो का हित साधन करते है, वे साधारण पुरुष हैं। जो अपने स्वार्थ के लिये औरो का काम बिगाडते हैं, वे मनुष्य राक्षस हैं, और जो वृथा ही परायी हानि करते हैं, उन्हें क्या कहा जाय। उनकी अधमता को प्रकट करने के लिये कोई शब्द ही नही है।

सहृदयता उन्नत जीवन की ऊँची इमारत के बीच मे एक महत्त्वपूर्ण स्तम्भ के समान होती है जिसके द्वारा यह इमारत अत्यधिक सशक्त और दृढ बनी रह सकती है पर आवश्यक यह है कि वह सच्ची हो। दिखावटी और निष्क्रिय सहानुभूति से किसी का लाभ नही हो सकता। नकली सहानुभूति किसी न किसी स्वार्थ से उत्पन्न होती है, अत वह कितनी भी गहरी क्यो न दिखाई जाए, उसका प्रभाव नही पडता।

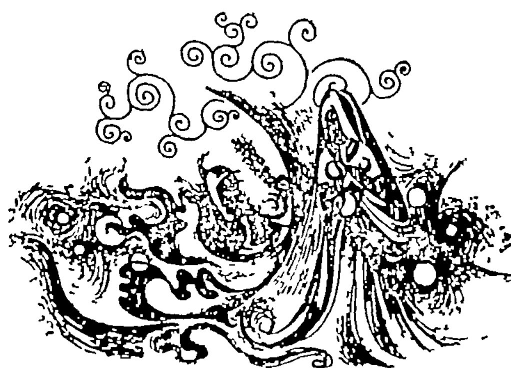
सच्ची सहृदयता के द्वारा हम औरो के हृदय तक पहुँचते हैं और उनके साथ अपना आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। उनके सुख से सुखी और दुख से दुखी होते हैं। औरों पर अन्याय या अत्याचार होने पर अगर हमने

उसके निराकरण का प्रयत्न नही किया तो समझना चाहिये कि हमारे हृदय मे सच्ची सहृदयता नही है । सहृदय 'बालाजाक' का कथन है :—

"गरीब लोग मुझे मोह लेते हैं । उनकी भूख को मैं अपनी भूख समझता हूँ और उनके सुख-दुख मे शामिल होता हुँ । जब किसी दरिद्र को चिथड़े पहने देखता हूँ तो समझता हूँ स्वय चिथड़े पहने हूँ । थोडी देर के लिये मैं स्वय गरीब और घृणित मनुष्य बन जाता हूँ ।"

सहानुभूति एक ऐसी सार्वभौम और अनिर्वचनीय भाषा है जिसे जानवर भी समझ लेते हैं और उससे प्रभावित होते हैं । वह सहानुभूति रखने वाले और पाने वाले दोनो व्यक्तियो को ऊँचा उठाती है । जिसके हृयद मे करुणा और दया का अजस्र स्रोत बहता है और जो सदा अपनी सहृदयता से औरो के जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न करता है, उस साधु व्यक्ति को ही ससार उसके जीवन काल मे भी और उसके बाद भी हृदय से साधुवाद देता है ।

आशा है आप सब महानुभाव समझ गए होगे कि कैसा व्यक्ति साधु-पुरुष कहला सकता है । और वह किन महत्त्वपूर्ण गुणा को अपनाकर साधुवाद प्राप्त करने का सच्चा अधिकारी बन सकता है ।



१४

जैन धर्म में स्याद्वाद का स्थान

आज धर्म के विषय मे विचार करना है। धर्म क्या है? धर्म की आवश्यकता क्यो है? धर्म कितना प्राचीन है? और जैनधर्म अनेकान्त धर्म क्यो कहा जाता है? आदि विभिन्न बातो पर प्रकाश डाला जाएगा। सर्वप्रथम हम देखेंगे कि धर्म क्या है?

धर्म क्या है?

"सो धम्मो जो जीवं धारेइ भवण्णवे निवडमाण॥"

—धर्मपरीक्षा

अर्थात्—धर्म उसे कहते हैं जो भव-समुद्र मे डूबते जीव को धारण करता है, अर्थात् बचाता है।

धर्म शब्द धृ धातु मे मन् प्रत्यय लगने से बना है, अतः 'धारणाद्धर्म' यह उसकी व्युत्पत्ति है। इस व्युत्पत्ति को घ्यान मे रखकर ही धर्म की व्याख्या की गई है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र मे कहा है—

"दुर्गतिप्रपतत्प्राणिधारणाद्धर्म उच्यते।"

अर्थात्—दुर्गति मे गिरते हुए प्राणी को धारण करने से धर्म कहलाता है।

तात्पर्य यही है कि जिन प्रवृत्तियो से संसार घटे, अर्थात् कर्म-वधनो का नाश हो और मोक्ष प्राप्ति की योग्यता वढे उसे ही धर्म कहते है। ऐसे धर्म का यथार्थ निरुपण वीतराग महापुरुपो ने किया है अत' उनके वचनो का अनुमरण करना और उनमे वताए हुए विधि-निपेधो का पालन करना भी धर्म है।

मानव-हृदय मे शुभ भावनाओ का सचार होने से धर्म का उदय होता है। इनमे मुख्य चार भावनाएँ है—मैत्री भावना, प्रमोद भावना, कारुण्य भावना (दया की भावना) और माध्यस्थ भावना। मुमुक्षु पुरुप इन्ही भावो की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करता है —

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव !

अर्थात्—हे प्रभो ! मेरी आत्मा प्राणीमात्र पर मैत्रीभाव धारण करे, गुणी जनो के प्रति प्रमोदभाव रखे, दुखी जीवो पर करुणा करे और अपने से विरोधी व्यवहार करने वालो के प्रति मध्यस्थ भाव वनाए रखे।

विश्व के समस्त प्राणियो को आत्मवत् समझते हुए उन्हे अपना मित्र, वन्धु या सखा मानना और उनके प्रति किसी भी प्रकार का वैर, द्रोह और शत्रुता न रखना मत्रीभाव कहलाता है। इस भावना का विकास होने पर आत्मा हिंसा से निवृत्त होती है। इसे ही आत्मसमदर्शित्व कहा जाता है। समत्व, वन्धुत्व, विश्ववात्सल्य और विश्वप्रेम आदि इसी के पर्यायवाची शब्द हैं।

कुछ शकालु कहते है—धर्म विश्वबंधुत्व पर आधारित कहाँ है ? ऐसा होता तो ईसाई धर्म के दो संप्रदाय 'कैथोलिक' और 'प्रोटेस्टेंट' आपस मे खून की नदियाँ क्यो वहाते ? इस्लाम धर्म के अनुयायी लाखो विद्यार्थियो के गले क्यो काटते ? शैव जैनियो का कत्लेआम क्यो करते हैं ?

इसमे सन्देह नही है कि ये वाते सच हैं। इतिहास इनकी साक्षी देता है। किन्तु इन अन्यायो अत्याचारो और हत्याओं का धारण धर्म नही वरन् धर्मोन्माद या धर्मान्धता है। जो धर्म अपने विरोधियो के प्रति भी सम-भाव रखने का आदेश देता है, वह ऐसे अमानुषिक कार्यो की प्रेरणा नही कर सकता। अत धर्मोन्माद को धर्म समझ लेना ककर को हीरा समझ लेने के समान भ्रम-मात्र ही है। इस धर्मोन्माद ने ही समय-समय पर घोर नरसहार किया है, महायुद्धो की सर्जना की है और ससार को अशान्ति की आग मे झोका है, अनेक

स्वार्थी और पाखंडी व्यक्ति भी धर्म के नाम पर जनता को बहकाकर अपने स्वार्थों की पूर्ति करते रहे हैं।

किन्तु इन सब विडम्बनाओ को अलग करके हम धर्म के वास्तविक स्वरूप पर विचार करें तो पता चलेगा कि ससार का कोई भी धर्म मनुष्यों का गला काटने का आदेश नहीं देता, वरन् करुणा, दया और उदारता का ही उपदेश देता है। 'शेखसादी' ने स्पष्ट कहा है —

बनी आदम आजाए यक दीगरमन्द,
कि दर आफरीनश जि यक जौहरमन्द।
चो उजवे बदर्द आवरद रोजगार,
दिगर उजवहारा नमानद करार।

अर्थात्—सभी मनुष्य परस्पर ऐसे सम्बन्धित हैं जैसे एक शरीर के अग, क्योकि उनकी उत्पत्ति एक ही जैसे तत्त्वों से हुई है। इसलिये जैसे शरीर के एक अग के पीडित होने पर दूसरे अग सुखी नही रहते, उसी प्रकार एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के दुख का अनुभव होना चाहिये। धर्म का यही सच्चा रूप है।

ऐसे उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म कभी किसी प्राणी को कष्ट देने की प्रेरणा नहीं करता। बाइबिल की दस आज्ञाओ मे से एक आज्ञा है —

"Thou shalt not kill"

अर्थात्—तू किसी को मारना नही।

'जेनो' नामक एक तत्त्ववेत्ता तो अपने शरीर मे कीडे पड जाने पर भी मर जाने के भय से उन्हे निकालते नही थे। अगर वे कभी निकलकर गिर जाते तो उन्हें वापिस डाल लेते थे।

कहने का तात्पर्य यही है कि सभी धर्म अहिंसा को अपना सर्वोपरि सिद्धान्त मानते हैं। धर्मोन्माद के कारण या धर्म का नाम लेकर किये जाने वाले कुकृत्य धर्म नही हैं। धर्म, जाति, कुल तथा सम्प्रदाय सभी से परे है। धर्म को धारण करने वाले सभी एक जाति के हैं, एक ही परमात्मा के अश हैं। किसी भी पथ या सम्प्रदाय मे धर्म अलग-अलग नही हैं।

मैत्री भावना से युक्त पुरुष के अन्तरतम मे मित्र और शत्रु, अपने और पराए, स्नेही और विरोधी, परिचित और अपरिचित आदि का भेदभाव नहीं रहता। वह सभी को देखकर प्रमुदित होता है, सब पर समान भाव रखता है। वह कीडी और कुजर को समान रूप से अपने स्नेहभाव का पात्र मानता है। ऐसी शुद्ध आत्मा और उदार भावना वाला व्यक्ति धीरे-धीरे समग्र विश्व में

अपनी जैसी आत्मा विद्यमान देखता है और ईश्वर से प्रार्थना भी यही करता है :—

कह रहा हूं जो मुझे है आज भगवन् मांगना।
लोक आदर मान की तो, कुछ मुझे इच्छा नहीं।
और क्या मुझको नहीं है, राज्य आसन मांगना।
सिद्धता अरु योगसाधन, सिद्धि भी नही चाहिये।
चाहता हूं मै नहीं धन-धाम-कंचन मांगना।
प्रेम हो इतना कि देखूं, प्रेममय संसार को।
कामना है, एक केवल प्रेम जीवन मांगना॥

हृदय को प्रेममय बनाने की ऐसी आकाक्षा रखने वाला व्यक्ति न केवल अपने लिये ही सुख और शाति उपलब्ध करता है, प्रत्युत वह जहाँ भी जाता है, शाति का साम्राज्य स्थापित कर देता है। उसकी पवित्र और प्रेममय वाणी का रसास्वादन कर हृदय शात और पवित्र बनता है।

धर्म की आधाररूप दूसरी भावना प्रमोद भावना है। जो प्राणी पुण्य प्रकर्ष के कारण अनेक सद्गुणो से युक्त हैं, ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तपाचारों की जिनके जीवन मे आराधना है, उन्हे देखकर आनन्द का अनुभव करना प्रमोद भावना है। गुण ग्राहकता, गुणानुराग तथा गुणबहुमान आदि सब इसके पर्यायवाची शब्द है। जिसके हृदय मे गुणानुराग होता है वह प्रत्येक वस्तु मे से गुण ग्रहण करता है। फिर गुणवानो की सगति से तो उसके गुणो का भडार वृद्धि पाता ही है।

वह जिस प्रकार गुणीजनों को देखकर प्रमुदित होता है, उसी प्रकार अन्य सव प्राणी उसे देखकर परम आनन्द का अनुभव करते हैं।

तीसरी भावना कारुण्य भावना है। संसार के अनेकानेक प्राणी पापकर्मों के उदय के कारण विविध प्रकार के दुःख और कष्ट उठाते हैं। उन्हे देखकर उनका दुःख दूर करने की वृत्ति कारुण्य भावना कहलाती है। इसे ही हम दया, दीनानुग्रह और अनुकम्पा कहते हैं। जिसके हृदय मे यह वृत्ति होती है वह भी प्राणी को दुख मे देखकर उसकी सहायता को दौड पडता है चाहे उसमे उसे अपना सर्वस्व ही क्यो न झोक देना पडे।

अमेरिका के विश्वप्रसिद्ध प्रेसीडेन्ट जार्ज वाशिंगटन जब युवक थे, अपने मित्रो के साथ वन विहार के लिये गए। पास ही मे एक नदी वह रही थी। आमोद-प्रमोद मे लीन वाशिंगटन को अचानक नदी की ओर से एक चीख सुनाई दी। वाशिंगटन दौडकर गए तो देखा कि एक बालक नदी मे गिर गया है और उसकी

माता किनारे पर खडी हुई हाहाकार कर रही है। नदी वर्षा के कारण भयकर रूप धारण किये हुए थी और तीव्र वेग से बह रही थी। कुछ कदम आगे ही एक भयानक प्रपात भी था। बालक के बचने की सम्भावना नही थी। किन्तु जॉर्ज वाशिंगटन ने क्षण भर का भी बिलम्ब नही किया और वे अपने प्राणो का मोह छोडकर नदी की वेगवती धारा मे कूद पडे।

अपने अदम्य साहस से वाशिंगटन उस बालक को जीवित बचाकर ले आए और स्वय भी बच गए। अन्यथा सम्भव था कि उस दिन ससार का एक महान् व्यक्ति असमय मे ही कालकवलित हो जाता।

सच्ची करुणा वही है जिससे प्रेरित होकर मनुष्य अपने सर्वस्व का तथा अपने प्राणो का भी मोह त्याग देता है। करुणा और दया की सच्ची ज्योति जिसके हृदय मे प्रज्वलित हो जाती है वह सदा यही भावना रखता है —

कामये दु खतप्तानां प्राणिनामर्तिनाशनम्।

अर्थात्—दुख से पीडित प्राणियो के दुखो का मैं नाश कर सकूँ, यही एकमात्र मेरी कामना है।

ऐसे करुणापूर्ण हृदय मे ही सच्चा धर्म निवास करता है और ऐसा धर्म किसी खास सम्प्रदाय या पथ के व्यक्तियो मे ही रहता हो यह बात कभी सभव नही है। जब हम वैदिक, बौद्ध, सिक्ख, मुसलमान और ईसाई धर्म ग्रथो का अवलोकन करते हैं तो स्पष्ट देखते हैं कि इन सभी धर्मानुयायियो ने अहिंसा और अनुकम्पा की मुक्त कठ से सराहना की है और इसे धर्म का मुख्य अग माना है। फारसी के एक कवि ने कहा है —

मवाश दर पै आजार, हरचि खाही कुन,
कि दर तरीकते मा गैर अर्जो गुनाहे नेस्त।

अर्थात् हे मनुष्य ! तू और चाहे जो कर, किन्तु किसी को दुख न दे। क्योकि हमारे धर्म मे इसके अतिरिक्त दूसरा कोई पाप नही है।

करुणा की भावना को सभी धर्मों मे उच्च स्थान दिया गया है। दया भाव मनुष्य की प्रकृति का एक महत्त्वपूर्ण अग है। मनुष्य के अदर मनुष्यता जैसी कोई वस्तु है तो वह करुणा के द्वारा ही निर्मित हुई है। आत्मा मे करुणा का अजस्र स्रोत प्रवाहित होना चाहिए।

जिसके हृदय मे करुणा का सचार बना रहता है वह अपने विरोधियो के प्रति भी वैर, विरोध और ईर्ष्याभाव नही रखता, वरन् सद्भावना रखता है। निरतर पाप-कर्म करने वाले अधम व्यक्ति अपने उद्धत स्वभाव के कारण हितैषियो की हित शिक्षा या सदुपदेश को ठोकर मार देते हैं। उनके प्रति भी

न तो राग रखना और नही द्वेष रखना माध्यस्थ भावना या उपेक्षावृत्ति कहलाती है। इस वृत्ति को तटस्थता, उदासीनता या उपेक्षा के नाम से पहिचाना जा सकता है। राग और द्वेष से रहित, मध्यस्थ भाव को धारण करने वाले महापुरुष विपरीताचारी पापात्माओ को सुधारना अति अशक्य समझते हैं। वे उन जीवो की कर्माधीन दशा का विचारकर मौन धारण कर लेते हैं और योग्य समय की प्रतीक्षा करते हैं। किन्तु जो इस भावना को नही समझते, वे अधम आत्माओ के प्रति द्वेषभाव धारण करते है या उनको बल पूर्वक सुधारने की प्रवृत्ति करते है और उसमे असफल होने पर खेद, विषाद का अनुभव करते है। इससे स्वय उनकी आत्मा आर्त-ध्यान मे पडकर पतन की ओर जाती है।

जैन धर्म कितना प्राचीन है—अभी हमने विचार किया है कि धर्म क्या है? और उसकी आधारभूत भावनाएँ कौनसी है? अब हम सक्षेप मे धर्म की प्राचीनता को समझेंगे।

जैन धर्म का आविर्भाव कब हुआ, इस सबध मे विभिन्न व्यक्तियो की विभिन्न धारणाएँ है।

स्वामी दयानन्द जी तथा बहुत से अन्य विद्वान् जैन धर्म को बौद्ध-धर्म की शाखा समझते है। उनका कथन है—बौद्धधर्म के कुछ दिनो बाद ही जैन-धर्म का अभ्युदय हुआ।

कुछ विद्वान् जैन धर्म को बौद्ध धर्म से अलग धर्म तो मानते हैं किन्तु अढाई हजार वर्ष पूर्व होने वाले भगवान् महावीर को इसका मूल सस्थापक मानते हैं। कुछ व्यक्ति उनसे भी पूर्व होने वाले तेईसवे तीर्थकर भगवान् पार्श्वनाथ को धर्म का आदि प्रवर्तक मानते हैं। किन्तु ये सब भ्रांतियाँ है।

जैन धर्म को बौद्ध धर्म की शाखा कहना तो बहुत बडी अज्ञानता है। जिन्होने बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया होगा, उन्होने जान लिया होगा कि भगवान् बुद्ध के समय मे जैन धर्म अत्यन्त उच्च स्तर पर था। बौद्ध धर्म के मूल ग्रन्थो मे भगवान् पार्श्वनाथ का उल्लेख अनेक स्थानो पर मिलता है। आज के तटस्थ इतिहासकार तो इस बात को पूर्णत: स्वीकार करते हैं कि तथागत बुद्ध ने अपनी विचारधारा को बहुत कुछ अशो मे अपने से पहले होने वाले भगवान् पार्श्वनाथ के धर्म-चिन्तन से बनाया है, परिपुष्ट किया है।

भगवान् ऋषभदेव जैन-धर्म के प्रथम तीर्थकर हुए है। आपके श्रेष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम पर इस देश का नाम 'भारतवर्ष' विख्यात हुआ। वैदिक धर्म के मान्य ग्रथ भागवत मे श्री ऋषभदेव का चरित्र बडे विस्तार से दिया गया

है। उसमे बताया है कि ऋषभदेव का अवतार रजोगुण-व्याप्त मार्ग भ्रष्ट व्यक्तियो को मोक्ष-मार्ग बताने के लिये हुआ था —

"अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थ ।"

—भागवत अ. ६

भारतवर्ष के प्राचीन ग्रथो मे ऋग्वेद का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका गम्भीर अध्ययन करने पर श्री ऋषभदेव का वर्णन उपलब्ध हुआ है। उसमे स्पष्ट लिखा है —

आदित्या त्वगसि आदित्य सद आसीद,
अस्तभ्नादद्या वृषभो तरिक्ष जमिमीते वरिणाम् ।
पृथिव्या आसीत् विश्वा भुवनानि,
सम्राड् विश्वे तानि वरुणस्य वचनानि ।

—ऋग्वेद अ ३

अर्थात् — इस मत्र का भावार्थ है—'तू अखड पृथ्वी मंडल का सार त्वचा रूप है, पृथ्वी तल का भूषण है, दिव्य ज्ञान द्वारा आकाश को नापता है, हे ऋषभनाथ सम्राट ! इस ससार मे जगतरक्षक व्रतो का प्रचार और प्रसार कर।'

इतना ही नही, जैनधर्म और जैनतीर्थंकरो का अस्तित्व तो मर्यादा पुरुषोत्तम 'राम' से भी पहले का साबित हुआ है, जिनको हुए करीब ग्यारह लाख वर्ष बीत चुके हैं। योगवाशिष्ठ, जो कि भारतीय साहित्य का महान् ग्रन्थ है, उसमे राम का कथन बताया गया है —

नाह रामो न मे वाञ्छा, भावेषु च न मे मन: ।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ।

अर्थात्—मैं राम नही हूँ; मुझे किसी वस्तु की चाह नहीं है। मेरी अभिलाषा तो यही है कि मैं जिनेश्वर की तरह अपनी आत्मा में शांति की स्थापना करूँ।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि जिन अर्थात् जिनेश्वर यह जैन तीर्थंकर एव अरिहत के लिये ही रूढ है। इस उद्धरण से सिद्ध हो जाता है कि जैन धर्म अत्यन्त प्राचीन है और बौद्ध धर्म की उत्पत्ति से पहले ही भारत मे फैला हुआ था।

महामहोपाध्याय डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने लिखा है :—

"जैन धर्म तब से प्रचलित है जब से संसार में सृष्टि का आरम्भ हुआ है। यह वेदान्त आदि दर्शनों से पूर्व का है।"

वास्तव मे जैन धर्म अत्यन्त प्राचीन है। आज ससार मे हिन्दू धर्म, जैनधर्म ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म और इस्लाम धर्म ये पाँच मुख्य धर्म है। बौद्ध, ईसाई और इस्लाम धर्म तो पिछले दो अढाई हजार वर्षो से ही अस्तित्व मे आए है अतः हिन्दू धर्म और जैन धर्म ही प्राचीन धर्म माने गए है। किन्तु इन दोनो मे से भी खोज करने पर प्रमाणित हुआ है कि जैन धर्म ही प्राचीन है। ऋग्वेद, उपनिषद् तथा भागवत मे, जो हिन्दू धर्म के प्राचीन ग्रन्थ माने जाते है, वर्तमान कालचक्र के चौबीस तीर्थकरो मे से प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव के विषय मे उल्लेख मिले हैं। अतः इसमे सदेह नही है कि जैन धर्म सबसे प्राचीन है।

जैन धर्म की महत्ता—मानव के सामने यह प्रश्न सदा नवीन रूप धारण करके उपस्थित होता रहता है कि धर्म क्या है ? धर्म का जीवन मे क्या और कितना महत्वपूर्ण स्थान है ?

निस्सदेह यह प्रश्न अत्यन्त गंभीर है। अगर हम विचार करे तो निश्चय ही समझ सकेंगे कि इस दुर्लभ मानव-जीवन मे यदि कुछ भी सत्य है, नित्य है, साध्य है और मगलमय है तो वह धर्म ही है। भारत मे सदा ही धर्म को आत्म विकास का एकमात्र साधन माना गया है।

आर्यावर्त की युग-युगान्तर से चली आने वाली गरिमा की सबसे बडी विशेषता धर्म और ज्ञान के क्षेत्र मे रही है। समय-समय पर होने वाले अनेक मनस्वी पुरुषो ने इस परम्परा का पूर्णरूपेण निर्वाह किया है। भगवान ऋषभदेव द्वारा स्थापित जैन धर्म की गरिमा का भगवान् महावीर ने संवर्धन किया और इसके पश्चात् उनके शिष्यों ने स्थान-स्थान पर भ्रमण करके देश के कोने-कोने मे धर्म का प्रचार किया और जन-मानस मे धर्म की महत्ता अकित की।

हमारे देश की संस्कृति का मूल धर्म है, और इस तरह हमारी सब प्रवृत्तियो का केन्द्र भी धर्म ही है। पाषाण के समान कठिन हृदय को सस्कारित कर कोमल बनाना, मन को निर्विकार बनाना, चित्त को शुद्ध करना, तथा इन्द्रियो और शरीर को अनासक्त कर्मयोग मे प्रवृत्त करना धर्म है।

ससार मे अनेकों व्यक्ति ऐसे हैं, जो समस्त धर्म ग्रन्थो को निचोड लेने पर भी धर्म से विमुख रह जाते हैं। वह इसलिये कि जैसे पाक-शास्त्र को पढ लेने मात्र से भोजन बनाना नही आ जाता, तैरने का ज्ञान कराने वाली पुस्तको को रट लेने से तैराक नही बना जा सकता, इसी प्रकार धर्म ग्रन्थो का अध्ययन कर लेने से ही धार्मिकता प्राप्त नही होती। ग्रन्थो को पढने से बुद्धि का विकास होता है किन्तु धार्मिकता प्राप्त करन के लिये वासनाओ का दमन करना और

इन्द्रिय जनित कामनाओ से ऊपर उठना आवश्यक है। किसी विद्वान् ने कहा है '—

किमिह परमसौख्य ? नि'स्पृहत्वं यदेतत् ।
किमथ परमदु खं ? सस्पृहत्व यदेतत् ॥
इति मनसि विधाय त्यक्तसगा सदा ये ।
विदधति जिनधर्मं ते नरा पुण्यवन्त. ॥

अर्थात्—उत्कृष्ट सुख क्या है ? निस्पृहता होना। परम दु ख क्या है ? कामनाओ का होना। इस तथ्य को हृदयगम कर जो पुरुष वीतराग-प्ररूपित धर्म का आचरण करते हैं, और पर-पदार्थों का परित्याग कर देते हैं वही पुण्यशाली हैं।

आशय यह है कि इन्द्रियजनित सुखो की आकाक्षाओ का त्यागकर जो पुरुष अपने आत्मबल को बढाता है और अपनी आत्मा के उत्थान मे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देता है। वही धर्म को हृदय मे स्थापित कर सकता है। अपने जाने, सुने, पढे और विचार हुए सत्य सिद्धान्तो को जो अपने जीवन म क्रियान्वित करता है वही धर्म को अपना सकता है।

जैनशास्त्र धर्म का जो स्वरूप प्रतिपादित करते हैं, वह इतना उदार, सार्व और सुन्दर है कि प्रत्येक देश, प्रत्येक काल और प्रत्येक समाज के लिये समान रूप से उपादेय है। सबके लिये मगलकारी है। दशवैकालिक सूत्र के प्रारम्भ मे कहा भी है —

धम्मो मगलमुक्किट्ठ, अहिंसा सजमो तवो ।
देवा वि तं नमसति, जस्स धम्मे सया मणो ॥

अर्थात्—जो उत्कृष्ट मगलमय है वही धर्म है। मगलमय का अर्थ है बुराइयो एव पापो को दूर करने वाला और सुख शाति प्रदान करने वाला। जो व्यक्ति के लिये मगलमय है वह व्यक्ति का धर्म है, वह व्यक्ति के लिये मगलमय है—अहिंसा, सयम और तप। जो व्यक्ति इन्हे अपनाता है, और जिसका मन सदैव ऐसे धर्म मे रत रहता है उसे देव भी नमस्कार करते हैं मनुष्य की तो बात ही क्या है ?

धार्मिक व्यक्ति के हृदय मे आनन्द का असीम सागर लहराता है, दुख या चिन्ता का वहां लेश भी नही रहता। कोई भी प्रलोभन उसे ललचा नही सकता। सोने चाँदी का मेरु भी उसे डिगा नही पाता। क्योकि उसकी आत्मा उसे सदा चेतावनी देती रहती है —

"Take heed and be were of covetousness, for a man's life consisteth not in the abundance of the things which he possesseth"

अर्थात्—सावधान रहो और ध्यान रखो कि मनुष्य का वास्तविक जीवन धन-सम्पत्ति से नही बनता।

आत्मा की इस आवाज को जो समझ लेता है, वही व्यक्ति धर्म का मर्म जान पाता है और उसकी महत्ता का अनुभव करता है। अनेक व्यक्ति पथ, सम्प्रदाय या वाद को धर्म मान बैठते है। वे भूल जाते है कि पथ या सम्प्रदाय धर्म के वाह्य कलेवर है। अगर उनमे धर्म रूपी आत्मा न रहे या निकल जाए तो वह सम्प्रदाय या पथ प्राण हीन शरीर की तरह मात्र दफना देने लायक रह जाता है।

धर्म गुणो की वृद्धि करता हुआ चारित्र के विकास को महत्त्व देता है और सम्प्रदाय इनकी उपेक्षा करता हुआ केवल विधि-विधानो को ही पकडे रहता है। धर्म जहाँ मनुष्य को नम्र बनाता है वहाँ पथ मानव को मिथ्याभिमानी बना देता है। धर्म मनुष्य-मनुष्य के बीच मे खडी हुई भेद-भाव की दीवारो को तोडकर अभेदभाव की ओर ले जाता है। पथ मानव-मानव के बीच भेद-भाव की नई दीवार खडी कर देता है। धर्म मनुष्य को त्याग का महत्त्व समझा कर अनेक प्रकार के बन्धनो से मुक्त करता है, किन्तु सम्प्रदाय अपने आपको ऊँचा करने के लिये अनेक प्रकार के आडम्बरो की सृष्टि कर मनुष्य को यश, प्रतिष्ठा और मिथ्या गौरव के बन्धनो मे जकड देता है।

जैन धर्म की महत्ता इसी से सिद्ध हो जाती है कि यह मनुष्य को गुणवान्, चारित्रवान्, निर्लोभ और निर्वैर बनाता है। यही सच्चे धर्म की पहचान है। जिसने अपने जीवन मे अहिंसा, सत्य, सयम, अपरिग्रह, दया, दान, क्षमा, शान्ति, समभाव को अपना लिया हो और काम, क्रोध, मोह, लोभ, मान और माया आदि विकारो को त्याग दिया हो, समझना चाहिये कि उसने धर्म की महत्ता को भली भाँति समझ लिया है।

धर्म की आवश्यकता—धर्म की शक्ति अचिन्त्य है, अपरिमित है, यही मानव को महामानव बना सकती है और पतित से पतित व्यक्ति को भी सन्त महात्मा के पद पर आसीन कर सकती है। धर्माराधन करके ही नर-नारायण बनता है—आत्मा परमात्मा पद को प्राप्त होता है। इसलिये जीवन को धर्ममय बनाना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। **"धर्मेण हीना पशुभिः समानाः।"** ये वचन भी धर्म की आवश्यकता को सिद्ध करते है। धर्म

रहित मनुष्यो को पशु तुल्य ही समझना चाहिये। ऐसे व्यक्तियो का जीवन पशुओं से ऊँचा नही होता जो कि अपनी उदर पूर्ति और शारीरिक सुख-सुविधा के साधनो को जुटाने मे ही मृत्यु पर्यंत लगे रहते हैं और इन्हे अधिक से अधिक प्राप्त करके सुख का अनुभव करते हैं। वे भूल जाते है कि सुख पैसा नही मांगता, सुख सग्रह नही मांगता, वह सिर्फ सतोष मांगता है। भौतिक वस्तुओ के प्रति अगाध तृष्णा रखने वाले व्यक्ति के लिये सुन्दर कवि ने कहा है :—

भूख लिये तू दशो दिशि दौरत,
ताहि ते तू कबहुँ न अघेहे।
भूख भण्डार भरे नहि कैसेहु,
जो धन मेरु कुबेरु लौं पैहै।
तू सब आगे हाथ पसारत,
यासि तैं हाथ कछू नहि ऐहै।
सुन्दर क्यो न संतोष करे शठ !
खाय कि खाय कितौ अब खै है।

मनुष्य से कहा गया है कि "तू जो यह भौतिक वस्तुओ की भूख के लिये दशो दिशाओ मे भटकता फिर रहा है यह तो कभी शान्त होगी नही। सुमेरु के जितना ढेर लग जाए, तब भी तृष्णा का पेट कभी भरा नही है और न भरेगा ही। तू कितना ही प्रयत्न क्यो न करे, सिवाय श्रम के तेरे हाथ और कुछ भी न आने वाला नही है। इससे तो यही अच्छा है कि अब तू सतोष धारण कर, आखिर तेरी आवश्यकताएँ हैं ही कितनी ? बहुत थोडी ही तो, कितना खायेगा और पहनेगा ? फिर हाय-हाय करने से क्या लाभ ?

समस्त विकारो मे सबसे अधिक अजेय विकार लोभ है। आत्मा जब मोहनोय कर्म के सैनिको से सग्राम करता है तब अन्य सब तो परास्त हो जाते हैं पर यह डटा ही रहता है। सबसे अन्त मे यह पीछा छोडता है। इसीलिये शास्त्र मे कहा है :—

"लोहो हओ जस्स न किचणाइ ॥"

—उत्तराध्ययन सूत्र

जिसने लोभ रूपी अन्तिम योद्धा को परास्त कर दिया, उसे उसे फिर किसी को परास्त करने के लिये शक्ति नही लगानी पडती। लोभ का कलुष धुल जाने पर आत्मा मे अपूर्व विशुद्धि आ जाती है और उसके प्रभाव से शीघ्र ही सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता की प्राप्ति हो जाती है।

इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह लोभ तथा तृष्णा का त्याग करने के लिये संतोष का आश्रय ले, जो धर्म का प्रभावशाली और मुख्य अङ्ग है। आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाले इन विकारो को नष्ट करने के लिये ही धर्म की अत्यन्त आवश्यकता है। आज के अशान्त युग मे शान्ति स्थापित करने के लिये भी धर्म का प्रचार और प्रसार होना आवश्यक है।

कौन नही जानता कि भीषण महायुद्धों की मार-काट से त्रस्त और ध्वस्त युग आज शान्ति की कामना कर रहा है। वह शान्ति परम धर्म अहिंसा की आराधना करने से ही प्राप्त हो सकती है। अहिंसा से क्या नही हो सकता? शताब्दियो से दासता के बन्धनो मे जकड़े हुए भारत ने अहिंसा के दिव्यास्त्र से ही अपने बन्धनो को काटकर जगत के सम्मुख एक अभिनव आदर्श उपस्थित किया है। किन्तु दासता से मुक्त हो जाना ही काफी नही है। स्वतन्त्र राष्ट्र की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिये भी धर्म नीति की आवश्यकता है। अन्यथा जैसे एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का विरोध करता है और एक दूसरे का साम्राज्य हथियाने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार एक व्यक्ति दूसरे की अविकृत वस्तुओ को हड़पने की कोशिश करेगा और एक दूसरे का दुश्मन बना रहेगा। समाज मे सदा अशांति बनी रहेगी तथा शान्ति का लोप हो जायेगा।

आज की परिस्थिति मे जैन धर्म द्वारा उपदिष्ट और महात्मा गाँधी द्वारा व्यवहृत अहिंसा और सत्य के सिद्धान्त ही जगत का त्राण करने मे समर्थ हो सकते है। ये न केवल भारत के राष्ट्र निर्माण मे सहायक हो सकते हैं, अपितु समग्र विश्व को अशांति की आग मे झुलसने से बचा सकते है। आज का भयाकुल मानव तभी विनाश से बच सकता है जब वह उक्त सिद्धान्तो का अवलम्बन करे।

सन्देह नही कि आज जैनधर्म के अनुयायियो की संख्या अल्प है, किन्तु दीर्घ-दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि जैन धर्म के सिद्धान्तो का प्रभाव आज भी प्रत्येक धर्म के भीतर झलक रहा है। भगवान् महावीर के उपदेश आज भी जन-जीवन के अंग बने हुए हैं। वे गाँधीवाद तथा सर्वोदय आदि विचार धाराओ के विभिन्न रूपो मे संसार का पथ-प्रदर्शन कर रहे है। जैन धर्म के इन पावन विचारो की जगत् पर जो छाप लग चुकी है वह अमिट है। इसीसे इसकी व्यापकता स्पष्ट हो जाती है। अनेक पाश्चात्य विद्वानो ने भी जैन धर्म की महत्ता को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। अतएव जैन धर्म के अनुयायी भले ही अल्पसंख्यक हो, किन्तु जैन धर्म के सिद्धान्त विश्वव्यापी हैं। आवश्यकता है इनको अधिक से अधिक अमल मे लाने की, इन्हे जीवन मे उतारने की।

कुछ लोगो का आक्षेप है कि धर्म की बदौलत ही ससार मे समय-समय पर मार-काट मची है। धर्म ने रक्त की नदियाँ बहाई हैं। एक समूह का दूसरे समूह से विरोध कराया है। धर्म के सम्बन्ध मे यह महान् भ्रम है। धर्म की तो पहली शिक्षा ही यह है कि प्राणीमात्र को अपनी आत्मा के समान समझो—"आत्मवत् सर्वभूतेषु।"

इतना ही नही, धर्म तो यह सिखाता है कि जिनका आचरण तुम्हे अप्रिय है, जो तुम से विरुद्ध व्यवहार करते हैं, तुम्हारे लिये अशुभ चिन्तन करते हैं और प्रत्यक्ष मे उसे कार्य रूप मे परिणत करने से भी नही चूकते, उनके प्रति भी तुम द्वेष न रखो। उनका बुरा मत करो।

तो जो धर्म अपने विरोधियो के प्रति भी पवित्र भावनाएँ रखने का विधान करता है, क्या वह कभी खून खराबी के लिये प्रेरणा कर सकता है? जो धर्म प्राणीमात्र को अपना मित्र और भाई समझने का आदेश देता है, क्या उससे यह आशा की जा सकती है कि वह अन्य सम्प्रदाय के अनुयायिओ का रक्त बहाने की अनुमति देगा? कभी नही।

धर्म करुणा की शिक्षा देता है, परोपकार और परहित के लिये आवश्यकता हो तो अपना सर्वस्व भी त्याग देने की प्रेरणा करता है। वह किसी भी प्रकार की मत विभिन्नता, ईर्ष्या तथा द्वेष को अपनाने के लिये प्रेरित नही करता। वह तो पुकार-पुकार कर कहता है —

"अप्पणा सच्चमेसिज्जा मित्ति भूएसु कप्पए।"

अर्थात्—आत्मा से सत्य का अन्वेषण करो और प्राणीमात्र के प्रति मैत्री-भाव रखो।

धर्म की इन स्पष्ट और पावन प्रेरणाओ को जानकर भी अगर मानव इनका गलत अर्थ लगाए तो यह दोष धर्म का नही, वरन् स्वयं उसकी मलिन और पतनोन्मुख आत्मा का है। ऐसी विवेकभ्रष्ट आत्माओ का पतन अवश्यभावी है। उस विषय मे नीतिशतक का एक श्लोक विचारणीय है —

'स्वर्ग से पतित हो, शिव जटा स्पर्श करके,
पर्वत से भूमि पर गिर, म्लान बन कर,
गगा चली क्षार जल-सिंधु मे यथा—
विवेक खोने से पतन होता सर्वथा।'

—भर्तृहरि

गगा का स्वर्ग से पतन यहाँ एक उदाहरण मात्र है। किन्तु विवेकहीन तथा धर्मभ्रष्ट आत्मा किस प्रकार पतित होकर सर्वनाश की ओर जाती है,

यह बात इससे स्पष्ट हो जाती है। इसलिये आवश्यक है कि मनुष्य धर्म का आश्रय न छोडे। धर्म का त्याग करना आत्मा के लिये अमंगल का आह्वान करना है।

जैन धर्म का अनुपम उपहार स्याद्वाद—जैन धर्म ने जिस प्रकार आचार मे पवित्रता लाने के लिये अहिंसा, सत्य तथा संयम आदि का विधान किया है, उसी प्रकार मनुष्य के विचारो मे व्यापकता, सत्यता और निर्मलता लाने के लिये स्याद्वाद का अमूल्य उपहार भी समर्पित किया है। स्याद्वाद के प्रभावोत्पादक सिद्धात द्वारा विविधता मे एकता और एकता मे विविधता का दर्शन कराकर जैन धर्म ने ससार की वहुमूल्य सेवा की है। ससार के महान् विचारको ने इसका मुक्तकठ से स्वागत किया है। इगलैंड के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० थॉमसन का कहना है :—

"न्यायशास्त्र मे जैन न्याय अति उच्च है और उसमे स्याद्वाद का स्थान अति गभीर है। वस्तुओ की भिन्न-भिन्न परिस्थितियो पर यह वहुत सुन्दर प्रकाश डालता है।"

स्याद्वाद अनुभवसिद्ध, स्वाभाविक और परिपूर्ण सिद्धान्त है। इसकी उपयोगिता मात्र दार्शनिक क्षेत्र मे ही हो ऐसी बात नही. लोक व्यवहार मे भी इसकी अत्यधिक उपयोगिता है। श्रीसिद्धसेन दिवाकर ने इसीलिये कहा है :—

जेण विणा लोगस्स वि
ववहारो सव्वहा न निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो
णमो अणेगतवायस्स ॥

अर्थात्—जिसके विना लोक व्यवहार भी सर्वथा चलता नही, उस भुवन के अद्वितीय गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार हो।

इसके विषय मे गाँधी जी का मन्तव्य है :—

"अनेकान्तवाद मुझे अत्यन्त प्रिय है। उसमे से मैने मुसलमानो की दृष्टि से उनका, ईसाइयो की दृष्टि से उनका, और इसी प्रकार अन्य धर्मावलम्बियो का विचार करना सीखा। पहले मेरे विचारो को किसी के द्वारा गलत माने जाने पर मुझे क्रोध आता था। किन्तु अब मैं उनका दृष्टि बिन्दु उनकी आँखो से देख सकता हूँ। अनेकान्तवाद का मूल अहिसा और सत्य का युगल है।"

अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद सिद्धात ने उक्त क्षेत्रो के अलावा वैज्ञानिक क्षेत्र को भी कम प्रभावित नही किया, प्रत्युत उसमे रही हुई अनेक कठिनाइयो

को भी हल कर दिया है। जैसे—'लोहा भारी होने के कारण पानी मे डूब जाता है' ऐसी एकान्त रूढ मान्यता बहुत समय से चलती आ रही थी। किन्तु अनेकान्त-ज्ञान ने उसे अन्य दृष्टि से देखने का सुझाव दिया। और इस प्रयास मे पता चला कि विशिष्ट सयोगो मे लोहा हलका भी बन सकता है और इस कारण पानी मे तैर सकता है। परिणाम स्वरूप इस अनेकान्त ज्ञान ने लोहे के भारी-भरकम जलयान समुद्र मे चला दिये। बिजली, अणुशक्ति तथा ध्वनि आदि अनेको खोजे अनेकान्त दृष्टि का फल है।

अनेकान्त अथवा स्याद्वाद का परिचय—अनेकान्तवाद जैन-दर्शन की आधार-शिला है। इसी पर जैन तत्त्व-ज्ञान की सारी इमारत खडी हुई है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि अनेकान्त और स्याद्वाद एक ही हैं या इनमे अन्तर है।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद एक ही सिद्धात के दो पहलू हैं, जैसे एक सिक्के के दो बाजू। इसीलिये ऊपर से एक होते हुए भी दोनो मे तनिक सा अतर है। अनेकान्तवाद वस्तु दर्शन की विचार पद्धति है और स्याद्वाद उसकी भाषा पद्धति। अनेकान्त दृष्टि को भाषा मे उतारना स्याद्वाद है। प्रत्येक वस्तु के अनत धर्मों के मूल मे कही हुई अपेक्षाओ को दूसरो के लिये निरूपण करना, उनका मर्मोद्घाटन करना ही वस्तुत स्याद्वाद है।

किन्तु जैन दार्शनिको ने स्याद्वाद और अनेकान्तवाद इन दोनों शब्दो का प्रयोग तुल्य अर्थ मे किया है। स्याद्वाद को ही अनेकान्तवाद और अनेकान्तवाद को ही स्याद्वाद माना है। अत हम भी इनका प्रयोग एक ही रूप मे करेंगे।

अनेकान्तवाद के परिचय से पहले एकान्तवाद को समझना चाहिये। किसी वस्तु के पहलू को देखकर जब उसके स्वरूप के विषय मे निश्चित धारणा बना ली जाती है तो उसे एकान्तवाद कहते हैं और जब एक वस्तु के अनेक गुण-धर्मो का अवलोकन करके उसके सबध मे अभिप्राय बनाया जाता है, अर्थात् उसमे दिखाई देने वाले परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों को स्वीकार करते हुए भी उसमे एकरूपता मानी जाती है तब उसे अनेकान्तवाद कहते हैं। कहा भी है —

"एकस्मिन्वस्तुनि सापेक्षरीत्या विरुद्धनानाधर्मस्वीकारो हि स्याद्वाद.।"

अर्थात्—एक ही पदार्थ में सापेक्ष रीति से नाना प्रकार के विरोधी धर्मों को स्वीकार करना स्याद्वाद है।

स्याद्वाद के इस अनुपम तत्त्व को न समझने के कारण विश्व मे विविध

धर्मों दर्शनो, मतो, पथो तथा सम्प्रदायो मे विवाद खडे होते हैं। एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म को असत्य एव मिथ्या बतलाते हैं। एकान्तवाद होता तो अपूर्ण है, किन्तु वह सम्पूर्ण होने का दावा करता है और इसी झूठे दावे के आधार पर वह दूसरे धर्मो को मिथ्या करार दे देता है और कभी-कभी तो भयकर हानिया का कारण बनता है। एकान्तवाद का कहना है कि अनेक विरुद्ध धर्म एक वस्तु मे नही रह सकते।

ऐसा कहनेवालो तो एक दृष्टान्त से समाधान प्राप्त करना चाहिये। जैसे मातृत्त्व और पत्नीत्त्व परस्पर विरोधी प्रतीत होते हुए भी एक ही नारी मे निर्विरोध रहते हैं, उसी प्रकार और-और धर्म भी विरोधहीन भाव से उसमे रहते हैं। विभिन्न अपेक्षाएँ और दृष्टिकोण प्रतीत होने वाले विरोध को मिटा देते है। यथा—एक स्त्री को पति की अपेक्षा से पत्नी और उसी अपेक्षा से भी अगर माता कहा जाए तो विरोध होगा। किन्तु पति की अपेक्षा से पत्नी और पुत्र की अपेक्षा से माता कहा जाए तो विरोध नही रहेगा। इसी प्रकार विभिन्न दृष्टिकोणो से एक ही पदार्थ मे अनन्त धर्म रहते हैं और भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ मे उन्हे स्वीकार करने से विरोध नही रहता। एक ही वस्तु मे वे निर्विरोध रहते हैं। इसी की घोषणा जैन धर्म बहुत पहले ही कर चुका है कि —

'अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्।'

इस सिद्धान्त को सरल रूप मे समझने के लिये कुछ अंधो का दृष्टान्त भी प्रसिद्ध है। कुछ जन्माध व्यक्तियो ने हाथी का नाम सुना था, किन्तु उसकी आकृति का ज्ञान उन्हे नही था। संयोगवश उस गाँव मे एक बार हाथी आया। अधो ने हाथी की आकृति जाननी चाही और वे उसके पास गए। हाथी के समीप पहुंच कर किसी ने उसका पैर पकडा, किसी ने सूँड पकडी, किसी ने पूँछ को हाथ लगाया और किसी ने उसका पेट टटोला।

घर आकर वे सब हाथी के सम्बन्ध मे चर्चा करने लगे। पैर टटोलने वाले ने हाथी को स्तम्भ के समान समझा था और कहा भी यही। पर सूँड पकडने वाले ने क्रोधित होकर कहा—"झूठ! हाथी कही खभे जैसा होता है? वह तो मूसल जैसा था।" तीसरा अंधा कैसे चुप रहता? उसने हाथी का पेट टटोला था, बोल पडा—हाथी भी कही खभे जैसा या मूसल जैसा होता है? वह तो अनाज भरने की भारी-भरकम कोठी के जैसा था। अब चौथे अधे की बारी आई। उसने हाथी की पूँछ टटोली थी। वह गरजा—"अरे, क्यो बात का बतगड बनाते हो, हाथी को कोठी, खभा या मूसल कहकर। हाथी तो रस्सी जैसा था।

फिर क्या था ! आपस मे वाग्युद्ध ठन गया। सब एक दूसरे की भर्त्सना करने लगे। सौभाग्य से उसी समय एक आँखो वाला सज्जन पुरुष आ गया। उसने अंधो की तू-तू मैं-मैं सुनकर उन्हे समझाते हुए बताया—

"बंधुओ ! तुम सबकी बाते सत्य भी हैं और असत्य भी। तुममें से किसी ने भी पूरा हाथी नही समझ पाया है। उसके एक एक अग को टटोल कर अपनी समझ को पूर्णता का दावा कर रहे हो। एक दूसरे को झूठा मत कहो, बल्कि सबके दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करो। पैर की दृष्टि से हाथी खभे जैसा, पेट की दृष्टि से कोठी जैसा, सूँड की दृष्टि से मूसल जैसा, और पूँछ की दृष्टि से रस्सी जैसा होता है। इस प्रकार समझा बुझाकर उस सज्जन ने एकान्त की आग को अनेकान्त का शीतल जल डालकर शात किया।

इसी प्रकार ससार मे जितने भी एकान्तवादी आग्रहशील सम्प्रदाय हैं, वे पदार्थ के एक-एक अश अर्थात एक-एक धर्म को पूरा पदार्थ समझते हैं, और दूसरो से झगडते हैं। किन्तु स्याद्वाद आँखो वाला दर्शन है। वह एकान्तवादी दर्शनो की मूल बनाकर पदार्थ के सत्य स्वरूप को सामने रखता है और प्रत्येक मनुष्य को किसी एक अपेक्षा से ठीक बताता हुआ साम्प्रदायिक कलह को शात करन की क्षमता रखता है। भक्त कबीर ने भी इस सम्बन्ध मे अत्यन्त सुन्दर भाव व्यक्त किये हें। उन्होने सार ग्रहण करने के लिये कहा है —

एक वस्तु के नाम बहु, लीजे नाम पिछान।
नाम पच्छ न कीजिये, सार तत्त ले जान॥
सब काहू का लीजिए, साचा शब्द निहार।
पच्छपात ना कीजिए, कहै कबीर विचार॥
सभै हमारे एक हैं, जो सिमरे सतनाम।
वस्तु लहो पिछान के, बासन से क्या काम॥

विभिन्न दर्शन—भारतवर्ष मे दार्शनिक विचारधारा का जितना अधिक विकास हुआ है, उतना अन्यत्र कही नही हुआ। भारतवर्ष दर्शनो की जन्म-भूमि है। यहाँ भिन्न-भिन्न दर्शन बिना किसी प्रतिबन्ध और नियन्त्रण के विकास पाते रहे हैं।

जैन दर्शन का स्याद्वाद, सिद्धान्त सभी दर्शनो धर्मों और मतो का समन्वय करता है। यहाँ अगर भारत के सभी प्राचीन दर्शनो का परिचय दिया जाए तो विषय बहुत विस्तृत हो जाएगा। अत मैं विस्तार मे न जाकर बहुत पुराने पाँच दार्शनिक विचारो को आपके सन्मुख रखूँगी। महावीर भगवान् के समय मे भी ये मौजूद थे और आज भी बहुत से व्यक्ति इन्हे मानने वाले हैं।

(१) **कालवाद**—दर्शन अत्यन्त पुराना है। यह काल को सर्वाधिक महत्त्व देता है। यह बताता है कि विश्व मे जो भी कार्य हो रहे है सब काल के प्रभाव से ही हो रहे हैं। स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ और नियति काल के बिना अकिंचित्कर हैं, कुछ नहीं कर सकते। किसी भी व्यक्ति के पाप और पुण्य का फल समय आन पर ही मिलता है। आम का वृक्ष बोते ही मधुर फलो का रसास्वादन नही करा सकता। कई वर्ष बाद समय पकने पर वह फल देता है। बच्चा जन्म लेता है, किन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी वह उसी समय बोल नही सकता, चल नही सकता, कोई अन्य कार्य नही कर सकता, जैसे एक युवा पुरुष करता है। पर काल व्यतीत होने पर वही बालक, जो जन्म के समय सेर भर वजन नही उठा सकता, गेहूँ का दो मन वजन का बोरा भी उठा लेता है। इस विचारधारा के व्यक्तियो ने ही शायद मनुष्य को उतावला न बनने की शिक्षा दी है और समस्त कार्यों का फल प्राप्त करने के लिये उचित समय की प्रतीक्षा करने को कहा है। एक दोहे मे यही भाव है :—

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सौ घडा, ऋतु आए फल होय॥

(२) **स्वभाववाद**—स्वभाववाद का दर्शन भी अपने पक्ष के समर्थन मे बड़े जबर्दस्त तर्क देता है। इसका कहना है कि सृष्टि मे जितने कार्य हो रहे हैं, सब वस्तुओ के अपने स्वभाव के प्रभाव से ही हो रहे हैं। स्वभाव के बिना काल, कर्म, पुरुषार्थ या नियति कुछ नही कर सकते। आम की गुठली मे आम्र-वृक्ष होने का स्वभावहै, इसीलिये माली का पुरुषार्थ फल देता है। अन्यथा क्या कोई व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से निम्बोली की गुठली से आम पैदा कर सकता है? कितना ही काल क्यो न बीत जाए, क्या नीम के पेड से आम पाने की आशा फलीभूत हो सकती है? कभी नही। किसी भी वस्तु का स्वभाव बदलना कठिन ही नही, वरन् असम्भव है। नीम के पेड को कितना ही गुड और घी से सीचा जाय वह कडवाहट नही छोडता। तभी तो कहा जाता है :—

जो को जौन सुभाव, जाय नहिं जी से।
नीम न मीठो होय, कितहु सींचो गुड घी से।

तात्पर्य यही है कि किसी भी पदार्थ का स्वभाव कभी बदलता नही, चाहे कितना भी पुरुषार्थ क्यों न किया जाय और कितना ही काल इस प्रतीक्षा मे क्यो न व्यतीत कर दिया जाय। अग्नि उष्णता देगी, जल शीतलता प्रदान करेगा और सूर्य प्रकाश ही देगा, क्योकि इनका यही स्वभाव है। हजार प्रयत्न करने पर भी इसमे व्यतिक्रम नही होगा। इस स्वभाव से ही समग्र सृष्टि का सचालन हो रहा है।

(३) **कर्मवाद**—तीसरा दर्शन है कर्मवाद। यह भारत का चिर-पुरातन और प्रसिद्ध दर्शन है। अत्यन्त प्रबल विचारधारा है। कर्मवाद का कहना है समग्र विश्व मे कर्म का ही एक-छत्र राज्य है। इसके समक्ष बेचारे काल, स्वभाव पुरुषार्थ आदि सब नगण्य हैं। हम प्राय देखते भी हैं कि एक ही माँ की कोख से जन्म लेने वाले दो बालको मे भी जमीन-आसमान का अन्तर होता है। एक कुशाग्र बुद्धि होता है दूसरा बज्रमूर्ख। एक का रगरूप देवो को भी मात करता है और दूसरा काना, कुबडा या अपग पैदा होकर सदा अपने भाग्य को कोसता रहता है। ऐसा क्यो होता है ? इसके विषय मे कहा गया है —

"अयि खलु विषमः पुराकृतानाम्,
भवति हि जन्तुषु कर्मणा विपाकः।"

—कमलसयम

ओह ! निश्चित है कि प्राणियो के पहले किये हुए कर्मों का ही यह अति कटु फल है, जिसको य प्राणी वर्तमान मे भोगते हैं।

कर्म-बधनो के सामने मनुष्य की एक भी नही चलती, चाहे वह कितना भी पुरुषार्थ क्यो न करे। शुभ कर्मो का उपार्जन जिन्होने पूर्व मे किया है वे मूर्ख होकर भी जीवन भर गद्दे तकिये के सहारे श्रीमान् बनकर बैठते हैं और जिन्होंने अशुभ कर्मों का उपार्जन किया है, वे राजकुल मे जन्म लेकर भी दर-दर फिरने को बाध्य हो जाते हैं, अनेक बार जीवन भर बदीखाने मे भी सडते रहते हैं। राजा श्रेणिक इसी प्रकार अपने अशुभ कर्म-बधनो के कारण अपने ही पुत्र कोणिक के द्वारा बदी बनाकर जेल मे रखे गए थे और भारत के अतिम सम्राट बहादुरशाह को अपना तख्तेताऊस त्यागकर मारा-मारा फिरना पडा था। उनको तो अपने वतन मे प्राण-त्याग करने की तमन्ना भी पूरी नही हो सकी। इस असीम दुख को उन्होने कितने करुणाजनक शब्दो मे व्यक्त किया है :—

कितना ये बदनसीब जफर दफन के लिये,
दो गज जमीन भी न मिली कूचे-यार मे।

तो, यह सब करामात कर्मों की ही है और इसीलिये कहा जाता है :—

"गहना कर्मणो गति।"

अर्थात्—कर्मों की गति बडी गहन है। कोई इसे समझ नहीं सकता, इससे पार नही पा सकता।

(४) पुरुषार्थवाद—पुरुषार्थवाद भी ससार मे अपना बडा महत्व रखता

है। पुरुषार्थवादियो का कथन है कि मनुष्य कर्म, काल और स्वभाव को कितना भी महत्त्व दे, पर अगर पुरुषार्थ न करे तो उनका कोई भी कार्य सफल नही हो सकता। ससार मे जहाँ कही भा कार्य होता देखा जाता है, उसके मूल मे पुरुषार्थ ही रहता है। उसके बिना भाग्य भी साथ नही देता। विल्हण कवि ने कहा है —

"एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्धयति।"

अर्थात्—विना प्रयत्न और पुरुषार्थ के भाग्य फलता-फूलता नही और कहा भी है —

"किं दूर व्यवसायिनाम्।"

अर्थात्—पुरुषार्थियो के लिये दूर क्या है? अर्थात् पौरुष से सव कुछ होना सम्भव है।

बिना पुरुषार्थ के कही भी कार्य सम्पन्न हुआ नही देखा जाता। आम की गुठली मे आम पैदा होने का स्वभाव है, किन्तु कितना ही काल व्यतीत हो जाने पर भी, क्या पौरुष के विना घर मे रखी हुई गुठली से आम का पेड खडा हो जाएगा? कर्म का फल भी तो बिना पुरुपार्थ के हाथ पर हाथ रख कर वैठे रहने से नही मिलता।

आज वैज्ञानिक क्षेत्र मे मनुष्य ने जो उन्नति की है, हवा मे उडने की, जल मे तैरने की, परमाणु और उद्जन बम जैसे महान् आविष्कार करने की, उसमे क्या उसका पुरुषार्थ ही काम नहीं कर रहा है? पुरुषार्थ के बिना कौन-सा कार्य हो सकता है? किसी भूखे के सामने आप मिठाई का थाल भरकर रखदे, किन्तु वह हाथ बढाकर उसे मुँह मे न डाले तो क्या उसका पेट भर जाएगा? नही, उसे पुरुषार्थ करना ही पडेगा। सोये हुए शेर के मुँह मे हिरण स्वय प्रवेश नही करते। उसे अपने पौरुष से अपना शिकार प्राप्त करना पडता है। पुरुषार्थ के महत्त्व को मानने वाले तो यहाँ तक कहते हैं कि पौरुष के द्वारा तो मनुष्य अपने भाग्य को भी वदल देता है।

(५) **नियतिवाद**—प्रकृति के अटल नियमो को नियति कहते हैं। नियतिवादियो का कथन है कि ससार मे जितने भी कार्य होते हैं सब नियति के अधीन है। सूर्य पूर्व मे ही उदित होता है पश्चिम मे नही, पक्षी आकाश मे उड सकते है, पशु नही, कोयल काली हो होती है सफेद नही, कमल जल मे उत्पन्न हो सकता है, पत्थर की शिला पर नही। यह क्यो? इसलिये कि ये इस प्रकृति के नियम है, जो अन्यथा नही हो सकते और अगर अन्यथा होने लगे तो प्रलय ही हो जाय। समुद्र उबलने लगे, अग्नि शीतल हो जाय, सूर्य पश्चिम मे उगने

लगे और आसमान शायद जमीन पर आ जाय। कहने का तात्पर्य यही है कि प्रकृति के नियमो मे अगर अटलता न रहे तो सृष्टि की समस्त व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाय और कही भी शान्ति का चिह्न न मिले।

यहाँ एक वात और जानने की है। कुछ विचारक नियति का अर्थ होनहार भी करते हैं। ससार मे होनहार के विना पत्ता भी नही हिलता। मनुष्य सोचता कुछ है, पर होता कुछ और है और वही होता है जो होनहार होता है। होनहार का अनुपम उदाहरण हम रामचरित मानस मे पाते हैं। श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक के अवसर पर अव समस्त अयोध्यावासी हर्ष से फूले नही समा रहे थे, राजा दशरथ और रानी कौशल्या उत्कंठित हृदय से प्रात'काल होने की प्रतीक्षा कर रहे थे, होनहार कुछ और ही करतूत करने मे सलग्न था। उसके कारण ही 'राम' को राजत्व प्राप्त करने के बदले उसे त्यागना पडा। इसी को होनहार कहते हैं। उसकी गति और क्रिया को कोई समझ नही सकता, टाल नही सकता, नियति और होनहार दोनो के सिद्धान्त अटल है। काल, कर्म, पुरुषार्थ और स्वभाव कोई भी इनके प्रतिकूल नही जा सकता। इनमे उलटफेर नही कर सकता।

सज्जनो! इन सभी दर्शनो को आप लोगो ने भलीभाँति समझ लिया होगा। इनमे से प्रत्येक अपने आपको सत्य और दूसरो को असत्य मानता है। इनके आपस मे खडन-मंडन के कारण जनता मे भ्रांतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। वह समझ नही पाती कि सत्य का मूल कहाँ है? किन्तु भगवान् महावीर ने इस सघर्ष को वहुत अच्छी तरह सुलझाया है और ससार के सामने सत्य को प्रगट किया है। जिसे उन्होने इन सब दर्शनो के समन्वय से सिद्ध किया है।

(६) **समन्वयवाद**—जैन दर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त इन सभी दर्शनो का समन्वय करता है। भगवान् महावीर का कथन है कि पाँचो ही वाद अपने स्थान पर ठीक हैं। ससार मे जो भी कार्य होता है, इन सभी के मेल से होता है। ऐसा कभी नही हो सकता कि इनमे से कोई भी एक कारण अन्य से निरपेक्ष होकर कार्य सिद्ध कर दे। हो सकता है कि किसी कार्य मे कोई एक प्रधान हो और दूसरे सव गौण हो, किन्तु उनका अभाव नही होगा।

उदाहरण के लिये हम एक किसान को ले सकते है। किसान फसल पैदा करने के लिये खेत मे बीज वोता है। यद्यपि बीज मे उगने का स्वभाव है, परन्तु वोने का और उसकी रक्षा करने का पुरुषार्थ वह न करे तो क्या होगा? मान लीजिये किसान ने बीज वोने का पुरुषार्थ भी कर लिया, किन्तु काल का परिपाक हुए विना फसल कैसे मिलेगी? और काल की मर्यादा पूरी होने पर

भी अगर शुभ कर्म अनुकूल नही है तो फसल कटकर घर मे कैसे आएगी ? हो सकता है कोई दुश्मन उसमे आग लगा दे, या उस पर पाला ही पड जाय । अब रही नियति । बीज से फसल होना प्रकृति का नियम है इससे कोई इन्कार नही करता ।

आशय यह कि जिस प्रकार किसान को फसल तैयार करने मे स्वभाव, काल, पुरुषार्थ, कर्म और नियति सभी की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार ससार का प्रत्येक कार्य सम्पन्न होने मे इन सभी का योग आवश्यक होता है ।

स्याद्वाद विश्व को यही शिक्षा देता है कि जगत के सभी धर्म और दर्शन किसी न किसी अपेक्षा से सत्य के अंश है, किन्तु जव वे एक-दूसरे से न मिलकर, एक-दूसरे का तिरस्कार करते है तब विकृत हो जाते है और वहाँ सत्य, सत्य न रहकर सत्याभास बन जाता है । उस स्थिति मे वह धर्म या दर्शन अपने अनुयायियो के लिये पाषाण की नौका साबित होता है । किन्तु जो मत पथ या दर्शन दूसरे सत्य के अशो को पचाने की क्षमता रखता है वह उदार और सगठित बनकर प्रगति करता चला जाता है ।

जैन धर्म का स्याद्वाद सिद्धान्त ऐसा ही सिद्धान्त है, जिसमे विभिन्न दर्शनो मे रहे हुए सत्य को समझने की तथा उनका समन्वय करने की अद्भुत शक्ति है, स्याद्वाद सिद्धान्त इस विषय मे मानव जाति को अपूर्व ज्योति प्रदान करता है और विभिन्न धर्मों के समन्वय की सुन्दर कला सिखलाता है । आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा भी है :—

उदधाविव सर्वसिन्धवः,
समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः
न च तासु भवान् प्रदृश्यते,
प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥

अर्थात्—हे नाथ ! जैसे सभी नदियाँ समुद्र मे पहुँचकर सम्मिलित होती है, उसी प्रकार विश्व के समस्त दर्शन आपके शासन मे सम्मिलित हो जाते हैं, जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियो मे समुद्र दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न दर्शनो मे आप दिखाई नही देते । फिर भी जैसे नदियो का आश्रय समुद्र है, उसी प्रकार समस्त दर्शनो का आश्रयस्थल आपका शासन ही है ।

बंधुओ ! हमारी आज की बातचीत के द्वारा आपने भलीभाँति समझ लिया होगा कि सच्चा धर्म क्या है ? जैन धर्म कितना महान् है और इसने किस प्रकार विभिन्न दर्शनो का समन्वय करके ससार के सामने स्याद्वाद का अनूठा आदर्श उपस्थित किया है ? जैन धर्म ने भली भाँति बता दिया है कि

मानव अपने भविष्य का निर्माता स्वय है, किसी दूसरे का उसमे हाथ नही है। अगर वह जैन धर्म को सच्चाई के साथ अपना लेता है तो भविष्य मे उसके लिये मुक्ति का भव्य द्वार खुल सकता है। उसकी आत्मा परमात्मा बन सकती है।

ईश्वरत्व पर किसी एक व्यक्ति का एकाधिपत्य नही है। अब तक अनन्त आत्माओ ने परमात्मपद प्राप्त किया है और अब भी भव्य आत्माएँ उच्चतम साधना करके उस पद को प्राप्त कर सकती हैं। ससार का कोई भी प्राणी उसे धारण कर सकता है। जाति, वर्ग और सम्प्रदाय उसे सीमित नही कर सकते, सकुचित नही कर सकते और बाँधकर नही रख सकते। वह जीवमात्र को शरण देने वाला है। भगवान् महावीर ने कहा है —

धम्मो ताण सरणं, धम्मो गई पइट्ठा य।
धम्मेण सुचरिएण य, गम्मई अजरामर ठाण ॥

—तदुलवेयालिय

अर्थात्—धर्म त्राण करने वाला है, है, शरण देने वाला है, धर्म ही गति है और धर्म ही जीवो के लिये आधार है। धर्म की सम्यक् आराधना करने से जीव अजर-अमर स्थान अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।



१५

धर्म और नई पीढ़ी

बधुओ !

हमारा आज का विषय है, 'धर्म और नई पीढी'। सुनकर आप चोकेंगे, और सोचेंगे कि केवल नई पीढी से सम्बन्धित धर्म के विषय मे ही आज प्रवचन क्यो ?

इसका कारण सिर्फ यही है कि आधुनिक युग मे नई पीढी के सदस्य, नवयुवक और नवयुवतियाँ धर्म के नाम से जितना भयभीत होते हैं और घवराते हैं उतना अन्य किसी भी वस्तु से नही। उनकी दृष्टि मे धर्म एक उलझन बना हुआ है, जिसे वे समझ नही पाते और समझ न पाने के कारण उसे अपनाने का साहस नही करते। परिणाम यह होता है कि प्रत्येक माता-पिता को अपनी संतान के लिये और सास-श्वसुर को अपने वहू-वेटे के लिये एकमात्र यही शिकायत रहती है कि उनके वेटे, वहू, पौत्र या पौत्रियाँ धर्म को नही मानते अथवा उस पर अमल नही करते।

धर्म पर [illegible] विश्वास और श्रद्धा का होना मानव-जीवन के लिये सबसे [illegible] आवश्यक है। अगर मानव-जीवन से धर्म निकाल दिया जाय तो मानव की क्रियाएँ पशुओं की क्रियाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण साबित नहीं होंगी। मानव को विकास और अभ्युदय की प्रेरणा देने वाला एकमात्र धर्म ही है। धर्म ही मन और मस्तिष्क का परिमार्जन करता है तथा विचार [illegible] और दृष्टिकोण [illegible] करते हुए जीवन में समरसता, सरसता और मधुरता का संचार करता है। धर्म तो एक ऐसा पथ-प्रदर्शक है, जो जीवन की समस्त [illegible] हुआ आत्मा को महात्म-पद और उसके बाद परमात्म-पद की ओर अग्रसर करता है। डा० राधाकृष्णन् ने धर्म के विषय में कहा है—

"धर्म की शक्ति ही जीवन की शक्ति है, धर्म की दृष्टि ही जीवन की दृष्टि है।"

[illegible] धर्म पर हमारी नई पीढ़ी की आस्था न होना हमारे लिये दुःख का [illegible] है [illegible] इसके लिये केवल उसे ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता। [illegible] जो उसे धर्म से विमुख बनाए रखते हैं। [illegible] और मुख्य कारण है [illegible] वर्ग का धर्म के [illegible] न समझ पाना। मेरी बात [illegible] और आडम्बर-[illegible] है [illegible]। वास्तव में ही हमारी आज की पीढ़ी [illegible] है कि [illegible] धर्म क्या है और उसका स्थान क्या है?

धर्म क्या है?— हमारी [illegible] उलझन में पड़ी [illegible] धर्म [illegible] धर्म माना है। [illegible] में भी [illegible] धर्म ही माना जाता है। [illegible]

[illegible]

इसी प्रकार कोई सामायिक प्रतिक्रमण और तपस्या करने मे धर्म मानते हैं तो कोई रामायण, महाभारत और गीता आदि का पाठ करने मे। परिणाम यह होता है जन साधारण की समझ मे धर्म का सच्चा स्वरूप आता ही नही है, अपितु वडे-वडे तत्त्ववेत्ता भी चक्कर मे पड जाते हैं। वेदव्यास जी जैसे महर्षि ने तो परेशान होकर कह दिया है --

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना,
नैको मुनिर्यस्य वच प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गत स पन्था ।

अर्थात्—धर्म का निर्णय तर्क के द्वारा नही किया जा सकता, न ही विभिन्न और विरोधी होने के कारण शास्त्रो के द्वारा ही इसे समझा जा सकता है। मुनियो के वचन भी इसे समझने मे प्रमाण स्वरूप नही माने जा सकते, अत ऐसा लगता है कि धर्म-तत्त्व बुद्धि की गहन गुफा मे छिपा हुआ है और हमे तो केवल उसी मार्ग पर चल देना चाहिये, जिस पर अन्य अनेकानेक महापुरुष चले हैं।

व्यास जी का यह कथन भी मानव के मन की उलझन वढाने वाला सावित होता है। अपनी बुद्धि के द्वारा निर्णय किये विना और पथ की सत्यता को समझे विना ही भेडो के समान चल देना अनुचित होने के साथ-साथ हास्यास्पद भी है। इसके अलावा यह भी समस्या है कि अनुकरण किस महापुरुष का किया जाय ? किसी भी महापुरुष के विचारो को जव तक वास्तविकता की कसौटी पर नही कसा जाएगा, उसके आदर्शो को समझा नही जाएगा तव तक उन्हे ग्रहण करना अथवा उनके अनुसार चलना क्या अंधे के समान ही चलना नही होगा ?

इसलिये, प्रत्येक मनुष्य के लिये और विशेपकर हमारी नई पीढी के सदस्यो के लिये आवश्यक है कि वह सच्चे धर्म की परख करे, अपनी बुद्धि को कसौटी पर कसकर उसकी सत्यता का निर्णय करे और उसके पश्चात् उस पर अमल करे। हमारा जैन धर्म इस विपय मे उनका पूर्ण सहायक वन सकता है। जैन शास्त्रो ने धर्म का जो स्वरूप प्रतिपादित किया है, वह इतना उदार, सार्व और सुन्दर है कि प्रत्येक देश, प्रत्येक काल और प्रत्येक समाज के लिये समान रूप से उपादेय है। जैनदर्शन के आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने धर्म की छोटी सी परिभापा दी है —"वत्थु सहावो धम्मो।"

प्रत्येक वस्तु का जो निजी स्वभाव है वही उसका धर्म है। जैसे अग्नि का

स्वभाव अथवा धर्म उष्णता है और जल का स्वभाव शीतलता है। उसी प्रकार आत्मा का जो निजी स्वभाव है वही उसका धर्म है। आत्मा के स्वभाव और गुणो को किस प्रकार धर्म बताया गया है इस विषय मे 'दशवैकालिक' सूत्र के प्रारम्भ मे ही कहा है :—

धम्मो मगल मुक्किट्ठ, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमसति, जस्स धम्मे सया मणो॥

—दशवैकालिक सूत्र

अर्थात्—अहिंसा, सयम और तप रूप धर्म उत्कृष्ट मगलमय है। जिसका मन सदा धर्म मे रमा रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

मगलमय का अर्थ है—बुराइयो एव पापो को दूर करने वाला और सुख शाति प्रदान करने वाला। जो व्यक्ति के लिये मगलमय है वह व्यक्ति का धर्म है और जो परिवार, समाज, देश और विश्व के लिये मगलमय है वह क्रमश इन सबका धर्म है। जैन दर्शन के अनुसार यही धर्म की परिभाषा है।

प्रश्न उठता है कि ऐसा कौन सा विधि-विधान है, जिससे सबका मगल-साधन हो सकता है ? शास्त्रकार इसका उत्तर देते हैं कि, अहिसा, सयम और तप की त्रिवेणी ही एक ऐसी अनुपम तथा कल्याणकारिणी साधना है, जिसके द्वारा प्राणिमात्र का मगल हो सकता है।

भीषण महायुद्धो की मार-काट से ध्वस्त और त्रस्त विश्व आज शाति की कामना कर रहा है और वह शाति हिंसा से नही, अहिंसा से ही प्राप्त हो सकती हैं। शताब्दियो से गुलामी के बन्धनो मे जकडे हुए भारत ने अहिसा के दिव्यास्त्र से अपने बधनो को काटकर समग्र विश्व के सामने एक महान् आदर्श उपस्थित किया है। भारत आज भी अपनी अहिंसक नीति पर चल रहा है। इसका आदर्श महान् है। 'Let and let live' स्वय जीओ और दूसरो को जीने दो, यही इस आदर्श की समाप्ति नही होती, यह तो कहता है कि दूसरो को जीवित रखने के लिये ही स्वय जीओ।

धर्म का दूसरा स्वरूप है 'सयम'। सयम का अर्थ है—नियंत्रण। अपनी समस्त आकाक्षाओ को तथा आवश्यकताओ को अपने काबू मे रखना ही संयम है। कोई भी व्यक्ति या कोई भी देश, जब अपनी कामनाओ को और आवश्यकताओ को अपरिमित बना लेता है, तब उसे दूसरो का हक छीनने की इच्छा होती है और वही इच्छा हिसा को जन्म देती है। अतएव अहिंसा का पालन करने के लिये सयम की आवश्यकता अनिवार्य है।

किन्तु सयम का पालन करना भी सहज नही है वरन् वडी टेडी खीर है। इसका पालन करने के लिये अनेकानेक कठिनाइयो पर विजय प्राप्त करना होता है। इस दृष्टिकोण से धर्म का तीसरा अग तप बतलाया गया है। स्वेच्छापूर्वक तथा प्रशस्त भाव से कष्टो को सहन करना तप है और जब तप को जीवन मे स्थान मिलता है तो अहिंसा और सयम का भी यथाविधि पालन होता है।

जीवन के दो अग होते हैं—आचार और विचार। जैनधर्म ने आचार मे अहिंसा को और विचार मे अनेकान्तवाद को स्थान देकर अपनी महत्ता को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया है। अहिंसा के द्वारा इसने समग्र सृष्टि की मगलकामना की है और अनेकान्त के द्वारा समस्त दर्शनो और धर्मों के पारस्परिक विरोध के विष को नष्ट करके उनमे ऐक्य लाने का सराहनीय प्रयत्न किया है।

इसी का परिणाम है कि आज जैन धर्म के अनुयायियो की सख्या अल्प होने पर भी इसके सिद्धान्तो का प्रभाव प्रत्येक धर्म के अन्दर झलक रहा है। भगवान् महावीर के उपदेश आज भी जन-जीवन पर छाये हुए हैं। सक्षेप में, जैन कहलाने वाले भले ही अल्पसख्यक हो, किन्तु जैनधर्म के सिद्धान्त विश्व-व्यापी हो चुके हैं। अनेक पाश्चात्य विद्वानो ने भी जैनधर्म को महत्ता को मुक्तकठ से स्वीकार किया है। 'जार्ज बर्नार्डशा' ने एक स्थान पर लिखा है —

"यदि मेरी कोई इच्छा है तो केवल एक ही है, और वह यही कि मैं मरकर किसी जैन परिवार मे, धार्मिक स्थान मे जन्म लूँ। क्योंकि जैनधर्म ज्ञान से भरपूर है, जैनधर्म का पालन इस लोक और परलोक मे मानव की मानवता तथा आत्मा के लिये अनन्त शक्ति प्रदान करता है।" —बर्नार्डशा

श्रीमती एनीबीसेन्ट का कथन है —

"जैनो की सख्या कौम से नही, परन्तु जीवन की पवित्रता से अधिक शक्तिवान है।" —एनीबीसेन्ट

जैनधर्म की सराहना तो इस्लाम धर्म के अनुयायियो ने भी की है। एक ने कहा है —

"मैं जैन सिद्धान्तो के सूक्ष्म तत्त्वो का पूर्ण प्रेमी हूँ।

—मुहम्मद हाफिज सैयद

एक जर्मन डॉ० जैनधर्म से अत्यन्त ही प्रभावित हुए। उन्होने इसके विषय मे लिखा है —

"कैसे उत्तम विचार और उच्च नियम जैनधर्म तथा जैनाचार्यों मे हैं ?"
—डॉ० जोहन्नेस हस्टर

कहने का तात्पर्य यही है कि जैनधर्म न केवल भारत का, अपितु विश्व का धर्म साबित हुआ है। इसने जैसे आचार मे पावनता लाने के लिये अहिंसा, सत्य, सयम आदि का उपदेश दिया है, उसी प्रकार विचारों मे व्यापकता और निर्मलता लाने के लिये स्याद्वाद का अमूल्य उदाहरण भी समर्पित किया है। अपने अनुपम सिद्धान्तो के द्वारा विविधता मे एकता और एकता मे विविधता का दर्शन कराकर जैनधम ने विश्व की महान् सेवा की है। और विश्वधर्म होने के साथ-साथ वैज्ञानिक धर्म भी साबित हुआ है।

गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म मानव-मात्र के लिये ही नही, वरन् प्राणी मात्र की सुख-वृद्धि के लिये है। यह मानव-जीवन को सुखी, शान्त और स्वस्थ बनाने के लिये पृथ्वी पर एक वरदान के रूप मे अवतरित हुआ है। धम ही मानव के मन मे स्थित दानवीय वृत्ति को निकालकर मानवीय वृत्ति की स्थापना करता है, तथा व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की समस्त मानसिक बीमारियो की तथा आत्म-विकारो की चिकित्सा करता हुआ मत्य-लोक को स्वर्ग के रूप मे परिणत करता है।

आवश्यकता है सिफ धर्म को समझने की। जब तक मनुष्य धर्म के सही स्वरूप को नहीं समझ लेते, तब तक वे अपने कर्त्तव्यो का निर्धारण नहीं कर सकते, अपने आपसी व्यवहारो को मधुर नहीं बना सकते तथा दूसरो के प्रति शुभ अथवा नि स्वार्थ भावनाएँ रखने मे समर्थ नही हो सकते। ऐसे लोग चाहे गृहस्थ हो, या साधु, धर्म के असली स्वरूप को न पहचान कर तथा धर्म का मर्म न समझ कर अपने अपने सम्प्रदाय या पथ को लेकर ही खीचातानी करते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि जिस धर्म का अवलम्बन लेकर वे आत्मा के कर्ममल को धो देना चाहते है, उसी धर्म का दुरुपयोग करके वे अपनी आत्मा को कर्म-भार से और भी बोझिल बना लेते हैं। इसी बात को राजस्थानी भाषा मे बडे सुन्दर और व्यगात्मक ढग से कहा गया है —

दर्शनी (साधु) होग्या फर्शनी (किसान), श्रावक होग्या पाणी।
आप आपरा खेत मे, मांडी खींचा-ताणी॥

पापी नर गंगा गया, मन चञ्चल चित चोर।
पहला पाप धोया नही, दस मण लाया और॥

खेद है कि ऐसे व्यक्ति धर्म के नाम को कलकित करते हैं और हमारी नई पीढी को उलझन मे डालकर उसे धर्म मे विमुख कर देते हैं। नवयुवक वर्ग धर्म का मर्म न समझते हुए विभिन्न धर्म पथो को, सम्प्रदायो को और धर्म के

नाम से चलने वाले निरर्थक क्रियाकाडो को ही धर्म का रूप माना जाता देखकर, और उनमे पारस्परिक सघर्ष, कलह तथा द्वेष देखकर उससे घृणा करने लगते हैं।

उन्हे भली भाँति यह जान लेना चाहिये कि धर्म उन निरर्थक क्रियाओ मे नही है, धम किसी विशेष वेपभूपा को अपना लेने में नही है, धर्म शरीर पर तिलक छापे लगा लेने या भभूत मल लेने मे नही है, धर्म उपदेश के नाम पर लोगो को वाग्जाल मे उलझा देने मे नही है, धर्म अनीति से कमाए हुए पैसे का दान देने मे भी नही है और धर्म नग्न रहने अथवा तपस्या करके शरीर को सुखा देने मे भी नही है। धर्म का स्थान मन्दिर, मस्जिद, स्थानक, उपाश्रय गुरुद्वारा या रामद्वारा मे नही है, वह तो केवल हृदय मे ही निवास करता है। सच्चा धर्म, अहिंसा, सत्य, न्याय, प्रेम, सदाचरण तथा सद्विचारो को अपनाने मे है। धर्म ससार के प्रत्येक प्राणी के प्रति सद्भाव रखने मे हैं, प्रत्येक प्राणी के प्रति करुणा, स्नेह और समभाव रखने मे है तथा सवके प्रति सच्चे कत्त ‥ का ‥लन करने मे है। धर्म अमीर और गरीव मे, उच्च अथवा निम्न जाति मे तथा ‥दायिकता और प्रान्तीयता के भेद-भाव को मिटाने मे है। धर्म अन्धविश्वासो को, मिथ्या धारणाओ को, कुप्रथाओ को और कुसस्कारो को मिटाने मे है। मन की निर्मलता और पवित्रता धर्म के सच्चे लक्षण हैं। जिसके हृदय मे छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष अथवा अनैतिकता रहती है वहां धर्म का प्रवेश नही हो सकता। धर्म आत्मा का गुण है। इसके द्वारा ही आत्म-शोधन तथा आत्मोन्नति की जा सकती है। जो व्यक्ति अपनी आत्मा को नही पहचानता तथा उसमे रहे हुए सच्चे धर्म को नही समझता, वह वाह्य जगत मे धर्म को खोजता हुआ भटकता रहता है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार नाभि मे कस्तूरी के विद्यमान रहने पर भी हरिण व्याकुल होकर उसे ढूंढता हुआ भागता फिरता है। धर्म को वही व्यक्ति अपना सकता है, जो अपनी आत्मा मे से दूपित वृत्तियो को हटाकर उसमे पवित्रता तथा निष्कपटता की स्थापना करे। कवि भूधरदास ने मानव को यही सीख दी है —

अन्तर उज्ज्वल करना रे भाई !
जप, तप, तीरथ, यज्ञ व्रतादिक, आगम अर्थ उचरना रे,
विपय कपाय कीच नहिं धोयो, यों ही पचि पचि मरना रे।
वाहिर भेप किया उर शुचि सो, कीयें पार उतरना रे,
नाहीं है सव लोक-रजना, ऐसे वेदन वरना रे।
अन्तर उज्ज्वल करना रे भाई !

"हे भाई ! अगर तुमने अपने अन्त करण से वासना और कपायो का

कीचड साफ नही किया तथा क्रोध, अहंकार, माया और लोभ को उसमे बसाए रहे तो तुम्हारा समस्त जप, तप, तीर्थ-यात्रा यज्ञ, व्रतादिक ओर शास्त्रोपदेश निष्फल है और ऐसी स्थिति मे तुम्हे इन वासनाओ और कषायो के दलदल मे फँसे हुए ही अन्त मे मरना पडेगा।"

'तुम जितनी भी बाह्य-क्रियाओं का आचरण करते हो तथा उच्च से उच्च भेष धारण करते हो, उन सबकी सफलता केवल तुम्हारी मानसिक शुद्धि पर ही अवलम्बित है। अगर तुमने अपने मन को शुद्ध नही बनाया और उसमे वासनाओं को स्थान दिये रहे तो निश्चय जानो, तुम्हारा बाह्य क्रियाकाड और वेष-परिधान लोक-रजन के अलावा और कुछ भी नही होगा।"

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि हमारी नई पीढी पहले धर्म के सच्चे स्वरूप को परखे और उसके पश्चात् उसके अनुसार आचरण करे। हमारे भारत का प्राचीन नाम आर्यावर्त है। आर्यो की भूमि होने के कारण भारत को धर्म-भूमि का गौरवमय अभिधान प्राप्त हुआ है। भारतीय धर्मों का गहराई से अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट विदित होता है कि यहाँ के निवासियो की जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त की समस्त क्रियाओ मे धर्म की दृष्टि रहा करती है। भारतीय इतिहास मे ऐसे अनेक धर्म वीरो के उज्ज्वल वृत्तान्त है, जिन्होने अपने सर्वस्व का त्याग किया किन्तु धर्म का परित्याग करना स्वीकार नहीं किया। उनकी यह निश्चल धारणा थी—

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षित।

अर्थात्—जो अपने धर्म का विनाश करता है, उसका विनाश हो जाता है और जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी रक्षा होती है।

बारह वर्ष का बालक हकीकतराय सच्चा धर्मवीर था। जिसने मृत्यु का आलिंगन करना स्वीकार किया, किन्तु अपने धर्म का त्याग नही किया। उसे मुस्लिम धर्म स्वीकार करने को बाध्य किया गया तथा बालक समझ कर फुसलाने की भी अनेक कोशिशे की गई।

कातल आखिया अजेता है वेला,
　　　　जल्दी लडकिया तूं मुसलमान होजा।
इज्जत करागे असी कमाल तेरी,
　　　　छड पोथियाँ हाफज कुरान होजा।
दे हूरा मिलनगिया जन्नत विच बोत तेनूं,
　　　　माडे मजहब दे विच गलतान होजा।
ते हकीकत सराह दे असूल सब याद करके,
　　　　बे फिकर तूं विच जहान होजा।

हकीकतराय को मुस्लिम धर्म स्वीकार कराने और न करने पर मार डालने के लिये जो कातिल आए थे वे उससे कहते हैं—"लड़के ! अभी समय है तू शीघ्रातिशीघ्र मुसलमान बन जा। अगर तू अपनी धर्म-पुस्तकों का त्याग करके 'कुरान शरीफ' का भक्त बन जाएगा तो हम तेरी बड़ी इज्जत करेंगे। इतना ही नहीं, अगर तू कुरान के उसूलों का पालन करने वाला बनकर हमारे मजहब को अंगीकार कर लेगा तो तुझे मरने के पश्चात् स्वर्ग मे भी अनेक अप्सराएँ मिलेगी। इसलिये तू मुस्लिम धर्म को स्वीकार कर ले और बेफ़िक्र होकर जीवन-यापन कर।"

बालक हकीकतराय ने कातिलो की बात सुनी किन्तु उस धर्मवीर को कहाँ झांसे मे आना था। तुरन्त बोला —

कलमा पढणा नहीं कदी जवान मेरी,
एमेई मूर्खा मगज खपाव नाहीं।
जीचर तकना जान फिदा होवे,
उचर तक भी मिलदा खुदा नाहीं।
मेरा राम दे नाल प्यार वडा,
ओस विना ओर किसे दी चाह नाहीं।
कर कतल ते कातल देर ना कर,
मेनूँ जीवण दी कोई परवाह नाहीं।

अर्थात्—"मूर्खो ! व्यर्थ मे दिमाग मत पचाओ, मेरी जबान कभी भी कलमा नही पढेगी। मैं जानता हूँ कि जब तक जान कुर्बान न की जाएगी, ईश्वर नही मिलेगा। मुझे अपने 'राम' से अटूट प्यार है, उसके अलावा अन्य किसी भी वस्तु की चाह नही है। अरे कातिल ! तू देर मत कर मुझे तो जीने की परवाह ही नहीं है।"

हकीकतराय के बलिदान को आज भी बड़े गर्व से स्मरण किया जाता है और ऐसे धर्मवीरो की पावन-स्मृति पर ही श्रद्धा के पुष्प बिखेरे जाते हैं। किन्तु आजकल देखा जाता है कि लोग धर्म के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की अज्ञान और अनुत्तरदायित्व से परिपूर्ण आलोचनाएँ करते हैं। कहते हैं—धर्म का युग बीत चुका है। अज्ञान के अंधकार मे धर्म की कल्पना हुई थी किन्तु अब विज्ञान के प्रकाश मे धर्म नही ठहर सकता।

ऐसा कहने वाले व्यक्ति धर्म की वास्तविकता को नही जानते। उन्हें समझना चाहिये कि धर्म शाश्वत है, स्थायी है। वह अहिंसा और सत्य के सुदृढ स्तंभों पर अवलम्बित है और विश्वमैत्री तथा समता की [illegible]

से सुरक्षित है। व्यक्ति मिट सकता है, जातियाँ मिट सकती हैं, साम्राज्य समाप्त हो जाते हैं, किन्तु धर्म नही मिट सकता। क्योकि धर्म वस्तु का स्वभाव है, अतएव जब तक वस्तु विद्यमान है धर्म विद्यमान रहेगा।

कई व्यक्तियो का आक्षेप यह भी है कि धर्म के कारण ही ससार मे रक्त की नदियाँ बही हैं और एक जाति दूसरी जाति से अथवा एक समूह दूसरे समूह से लडता रहा है।

इसमे सन्देह नही है कि इतिहास मे ऐसी अनेक घटनाओ का उल्लेख है। किन्तु इन अन्यायो, अत्याचारो और हत्याओं का कारण धर्म नही, धर्मोन्माद है तथा धर्मोन्माद को धर्म समझ लेना ककर को रत्न समझ लेने के समान भ्रम-मात्र है। अधकार और प्रकाश मे जितना अन्तर है, धर्म और धर्मोन्माद मे भी उतना ही अन्तर है। धर्म की तो प्रथम शिक्षा है कि प्राणी मात्र को आत्मा के समान समझो और दूसरो का अनिष्ट अथवा अहित करने का विचार मन मे मत लाओ। कहा भी है :—

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्व।
मध्यस्थभाव विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव!

अर्थात्—हे प्रभो! मेरी आत्मा प्राणी मात्र पर मैत्री भाव धारण करे। गुणीजनो के प्रति प्रमोद भाव को धारण करे दुखी जीवो को देखकर दयाभाव धारण करे और अपने से विरोधी व्यवहार करने वालों पर मध्यस्थभाव को धारण करे।

श्लोक से स्पष्ट हो जाता है कि जो धर्म अपने विरोधियो के प्रति भी समभाव रखने का विधान करता है, वह कभी हत्याकांड की प्रेरणा दे सकता है? जो धर्म प्राणी मात्र को अपना मित्र और बन्धु समझने का आदेश देता है, क्या वह अन्य सम्प्रदाय के अनुयायियो का रक्त बहाने की अनुमति देगा? धर्म करुणा, परोपकार, परहित और उदारता रखने का विधान करता है, वह किसी भी प्रकार की मतविभिन्नता के कारण ईर्ष्या करना, द्वेष करना, किसी को कष्ट देना अथवा किसी का अनिष्ट करना नही सिखलाता। ऐसी स्थिति मे धर्म के विरुद्ध रक्त बहाने का आरोप करना सर्वथा निर्मूल है। भगवान् महावीर ने धर्म के सबध मे कहा है :—

धम्मो ताणं सरण, धम्मो गई पइट्ठाय।
धम्मेण सुचरिएण य, गम्मई अजरामरं ठाणं॥

— तदुलवेयालियम्

अर्थात्—धर्म त्राण करने वाला है, शरण देने वाला है, धर्म ही गति है, और धर्म ही जीवों के लिये आधार है। धर्म की सम्यक् आराधना करने से जीव अजर-अमर स्थान अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।

वास्तव मे, धर्म प्राणी मात्र के लिये हितकारी है। ससार को अन्य वस्तुएं तो ऐसी हैं कि उन्हे अगर एक व्यक्ति सचित कर लेता है तो उनके अभाव मे दूसरो को कष्ट होता है। किन्तु धर्म इसमे विपरीत है। धर्म को धारण करने वाला स्वय तो सुखी होता ही है, उसके कारण अन्य प्राणी भी सुखी होते हैं। धर्म मे किसी प्रकार की सकीर्णता नही है। यह जातिवाद और वर्णवाद के झमेले से कोसों दूर है। धर्म ससार मे एक अपूर्व वस्तु है, यह उस कल्पवृक्ष के समान है जिसकी शीतल छाया मे प्रत्येक प्राणी, चाहे वह ब्राह्मण हो या चाडाल, समान रूप से धर्म का आचरण कर सकता है और अपने समस्त सन्तापों को नष्ट कर सकता है। इतना ही नही, धर्माचरण करने वालो को तो इहलोक और परलोक दोनो मे ही किसी प्रकार का कष्ट नही होता। जैन शास्त्रों मे स्पष्ट लिखा है :—

"इहलोय परलोय हियाए, सुहाए, निसेसाए, खम्माए, अणुगमियत्ताए भवई।"

अर्थात्—धर्म मानव जीवन के इस लोक और परलोक के हित के लिये, सुख के लिये, कल्याण के लिये तथा समर्थ बनाने के लिये है। यहाँ पालन किया जाने वाला धर्म परलोक मे भी अनुगामी होता है।

मेरे कहने का साराश यही है कि धर्म आत्मा का गुण है। इसका पालन किसी भी समय और किसी भी स्थान पर किया जा सकता है। धर्म उस वायु के समान है जो प्राणी मात्र को जीवन देती है। उस सूर्य के समान है जो प्राणी मात्र को प्रकाश देता है और पृथ्वी के समान है जो विना भेदभाव के सब को सहारा देती है। जिस प्रकार किसी भी प्राकृतिक वस्तु मे जाति अथवा कुल का भेद-भाव नही देखा जाता, उसी प्रकार धर्म मे भी यह भेद नही होता। धर्म प्रकृति का ही स्वभाव है। कहा भी है :—

पयडिसहावो धम्मो।

अर्थात्—धर्म प्रकृति का स्वभाव है।

धर्म के उदार क्षेत्र मे जाति-पाँति और धन-वैभव का कोई महत्त्व नही होता। जिस प्रकार छोटी और वडी सरिताएँ सागर मे मिलकर एकाकार हो जाती हैं, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी धर्म के पावन प्रागण मे प्रवेश करने पर समान रूप मे धर्म का अधिकारी वन जाता है। फर्क अगर होता है तो सिर्फ

योग्यता के कारण। किन्तु वह योग्यता भी किसी जाति विशेष से सम्बन्ध नही रखती। वह आत्मा के गुणो के विकास पर निर्भर होती है।

संस्कारहीनता—धर्म पर विश्वास न होने का दूसरा कारण है उत्तम सस्कारो का अभाव। प्रत्येक मनुष्य का जीवन उसके अच्छे और बुरे संस्कारों का समूह होता हैं, और वे संस्कार उसकी शैशवावस्था से ही पनपने लगते है। शिशु जब माता का दुग्ध-पान करता है, उस समय संसार से सवथा अनभिज्ञ और अपरिचित होता है। किन्तु ज्यो-ज्यो उसकी इन्द्रियो का विकास होने लगता है और चेतनाशक्ति बढती है, त्यो-त्यो वह संसार से परिचित होता जाता है। उस काल मे बालक अपने आसपास के वातावरण से संस्कार ग्रहण करता है और उन्हे सचित करता रहता है। शैशवावस्था मे शिशु का हृदय और मस्तिष्क प्रत्येक प्रभाव को स्वीकार करने के लिये उत्सुक रहता है, क्योकि उसकी ग्राहक शक्ति बडी तीव्र होती है। बचपन मे ग्रहण किये हुए सस्कारो और प्रभावों से ही बालक के व्यक्तित्त्व का निर्माण होता है।

इसका अर्थ यह है कि जैसा वातावरण बालक को मिलता है, वैसा ही उसका जीवन बन जाता है। सही अर्थो मे, बालक के आसपास का वायु मडल ही उसके व्यक्तित्त्व का साचा है, जिसमे उसका जीवन ढलता है। अब प्रश्न यह है कि इस प्रकार का वातावरण बालक को किस प्रकार प्राप्त हो कि वह उत्तम से उत्तम प्रभाव को ग्रहण कर सके?

उत्तर एक ही है। यदि माता शिक्षित और धार्मिकभावना से परिपूर्ण हृदय वाली होगी तो वह अपने बालक मे प्रारम्भ से ही धार्मिक सस्कार डाल सकेगी। माता के सुसस्कार युक्त व्यवहार से ही बालक सुसस्कारी बन सकता है। कहा भी है—

"Men are what their mother made them"

अर्थात्— मनुष्य वही होते है जो उनकी माताएँ उन्हे बनाती हैं।

—एमर्सन

सस्कारवती माता अपने बालक को सदाचारी, सत्यवादी, और सद्‌विचार-शील बना सकती है। अपनी सतान के रूप मे वह देश को आदर्श नागरिक देती है। समाज को उच्च श्रेणी का सदस्य और परिवार को सुपुत्र के रूप मे कुल-दीपक प्रदान करती है। वह अपने बालक को धर्म और नीति की ऐसी व्यावहारिक शिक्षा देती है जिससे वह आगे चलकर अनीति और अधर्म के मार्ग पर न चले।

धर्म परायणा और विचारशीला माता के द्वारा बचपन मे धार्मिक शिक्षण

और सम्कार पाए हुए वालक जव युवावस्था प्राप्त करेगे तो उनके विचार उदार, पवित्र और पूर्ण धर्ममय होगे। सक्षेप मे समाज की अगली पीढी तभी सुन्दर और धार्मिक विश्वासो से ओत-प्रोत रह सकेगी जवकि उसमे वचपन मे ही माता-पिता के द्वारा धार्मिक सस्कार डाले जाएँगे। सस्कारित युवक ही अपने देश को ऊँचा उठा सकते है, समाज की प्रतिष्ठा वढा सकते हैं और स्वय भी उच्च कोटि का जीवन व्यतीत कर अपने इहलोक और परलोक को सुधारने का प्रयत्न कर सकते हैं।

इटली का गेरिवाल्डी नामक एक उत्साही युवक जिसने इटली की स्वतन्त्रता के लिये महान् कार्य किया था, वडा मातृभक्त और ईश्वर मे निष्ठा रखने वाला व्यक्ति था। गेरिवाल्डी के उच्च चरित्र-निर्माण मे उसकी माता का पूर्ण हाथ था। माता ने गेरिवाल्डी मे वचपन से ही उत्तम सस्कार कूट-कूट कर भरे थे।

गेरिवाल्डी ने अपनी आत्म-कथा मे एक स्थान पर लिखा है—"मेरे असाधारण साहस को देखकर लोग विस्मय करते हैं और युद्ध-क्षेत्र मे भी मेरे पास दैवी शक्ति होने का अनुमान करते हैं। किन्तु इसका मूल कारण यह है कि जव तक सतीत्व का आदर्श रूप और देवी के समान मेरी माता मेरे प्राणो की रक्षार्थ ईश्वर की उपासना एव आराधना मे सलग्न रहेगी, तव तक मेरे जीवन की पूर्ण रक्षा होती रहेगी।"

इस विश्वास के कारण ही वह रण-क्षेत्र मे भी निर्भय होकर अपूर्व-उत्साह से लडता था। युद्ध-क्षेत्र मे जव भी विरोधियो की गोली उसके कान के पास से सनसनाहट करती हुई निकलती थी, उसे यह आभास होने लगता था कि उसकी माता पृथ्वी पर घुटने टेके हुए प्रभु से अपने पुत्र की जीवन-रक्षा के लिये प्रार्थना कर रही है।

नैपोलियन वोनापार्ट का जीवन भी उसकी माता के द्वारा डाले गए उत्तम सस्कारो के कारण ही महान् वना था। अपनी माता पर उसकी अगाध श्रद्धा थी। उसका कथन है . —

"The future destiny of the child is always the work of the mother

अर्थात्—वालक का भाग्य सदैव उसकी माता के द्वारा निर्मित होता है।

अशिक्षित और सस्कारहीन स्त्रियाँ प्राय वालको के मानस को न पहचानने के कारण स्वय परेशान होती है और वालक को भी परेशान करती हैं।

वालक स्वभावत चंचल होते हैं। उनकी चपलता को अपने कार्य-कलापो मे वाधा समझकर नासमझ स्त्रियाँ उन्हे भूत, हौआ या ऐसे ही किसी अन्य प्राणी के द्वारा पकड लिये जाने का भय दिखाकर बचपन से ही उन्हे दब्बू और डरपोक बना देती हैं। इतना ही नही, हमारी अनेक बहने तो बच्चो को साधु-साध्वियो का नाम लेकर भी डराती हैं कि महाराज झोली मे डालकर ले जाएँगे। अब वताइये ! बाल्यावस्था से ही साधु-सन्तो के नाम से भडकने वाले बालक आगे जाकर कैसे उनसे सम्पर्क रखेंगे और कैसे उनके सदुपदेशो का लाभ उठाएँगे ? बचपन से तो साधु-सन्तो के नाम से बच्चो को डराना और उनके बड़े होने पर शिकायत करना कि हमारे पुत्र स्थानक मे नही आते, सन्तो के दर्शन नही करते और उपदेश नही सुनते यह माता-पिता की कैसी नासमझी होती है।

संक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि अगर माता-पिता अपनी सन्तान को सदाचारी, परोपकारी, नीतिमान और धर्मपरायण बनाना चाहते है तो उन्हें शैशवावस्था मे ही बालको मे उत्तम संस्कार डालने होंगे। बहनो को शिवाजी की माता जीजाबाई और भरत की माता शकुन्तला के समान बनना पडेगा।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि अपने बालको को धर्मप्रिय बनाने के लिये माता-पिता को किसी शाला के भरोसे नही रहना चाहिये। प्रत्येक बालक के लिये माता-पिता की गोद और उनका चारित्र्य ही सबसे बडी शाला है। माता-पिता का जीवन अगर सादा, संयमी, सदाचार पूर्ण एव धर्मनिष्ठ होगा तो निश्चय ही उनके बालक इन सब गुणो के अधिकारी बन जाएँगे। बालको के कोमल हृदय, कही जाने वाली बात को जितना ग्रहण करते है उसकी अपेक्षा अनेक गुना अधिक वे देखी जाने वाली क्रियाओ को अपनाते हैं। इसलिये उनके निष्कपट सरल और स्वच्छ चित्त पर नीति और धर्म के संस्कार अंकित करने के लिये स्वय माता-पिता को अपना जीवन श्रेष्ठ और सस्कार युक्त बनाना होगा। ऐसा करने पर ही उनकी सन्तान मे धर्म के प्रति रुचि पैदा होगी और आगे चलकर वे धर्म परायण बन सकेंगे। सस्कार-शील माता अपने बालक मे शैशवावस्था से ही उत्तम विचार भरने का प्रयत्न करती है उसके लिये गाई जाने वाली लोरी मे भी वह कहती है —

नही छोडता पथ सत्य का, कितना भी व्याघात हो !
करना ऐसा श्रम अवनी पर, जिसमे पुण्य प्रभात हो !
धूल भरे हीरे उपवन के, सुरभित सुमन ललाम तुम !
राम, कृष्ण, ईसा, पैगम्बर के शुचि गौरव धाम तुम !

ध्रुव, अभिमन्यु, हकीकत गुरु-सुत, भरत और बलराम तुम !
बाल-ब्रह्मचारी शान्तनु-सुत पवन-पूत अभिराम तुम !
जगहित गरल पान करने तुम, अशिव भयकर गात हो !
आदिकाल मे ज्ञान प्रेम के, अक्षय अमर प्रभात हो !
काश्मीर, कैलाश, हिमालय की गोदी के लाल तुम !
मानसरोवर पुण्य झील के मृदुल प्रशान्त मराल तुम !

कितनी सुन्दर भावनाएँ हैं ? अगर प्रत्येक माता अपने बालक को ऐसे महापुरुषो के समान बनाने की कामना करेगी तो क्यो नही उसके बालक वैसे ही बनेंगे ? आज के युग मे जबकि लोगो ने धर्म को सबसे गई बीती वस्तु समझ लिया है, प्रत्येक माता-पिता का सबसे बडा कर्त्तव्य यही है कि वे अपनी सतान को धर्म का सच्चा स्वरूप समझाएँ और उनके आचरण को धर्ममय बनाने का प्रयत्न करें।

सद्‌शिक्षा का अभाव—युवक वर्ग मे धर्म के प्रति आस्था न होने का तीसरा कारण है सद्‌शिक्षा का अभाव। साधारणत आजकल शिक्षण का अर्थ साहित्यिक ज्ञान समझा जाता है तथा उसे जीवन की सुख सुविधाओ की पूर्ति मे साधन मात्र माना जाता है। किन्तु शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य यही नही है। शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य अज्ञान को दूर करना है। बालक का शिक्षा प्राप्त करना तभी सफल हो सकता है जब क उसकी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियाँ विकसित होकर उसके जीवन मे सुसस्कार उत्पन्न करें। एक पाश्चात्य विद्वान् ने भी कहा है —

"To develop in the body and in the soul and the beauty and all the perfection of which they are capable" —प्लेटो

अर्थात्—शरीर और आत्मा मे अधिक मे अधिक जितने सौन्दर्य और जितनी सम्पूर्णता का विकास हो सकता है उसे सम्पन्न करना ही शिक्षा का उद्देश्य है।

आधुनिककाल मे, जबकि हमारे देश का नैतिक स्तर अत्यन्त नीचा हो रहा है, प्रत्येक माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे अपने बच्चो का सही निर्माण करने का प्रयत्न करे। बालकों के जीवन का निर्माण होना उनके घर मे ही प्रारम्भ हो जाता है और परिपक्वता प्राप्त करना है स्कूलो और कालेजो मे जाकर। इसलिये उनके लिये यह ध्यान रखना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है कि उनमे जो सुन्दर सस्कार घर पर डाले जायें, आगे चलकर उन्ही के अनुरूप शिक्षा भी प्राप्त हो सके। अन्यथा शैशवावस्था मे माता-पिता कितने भी

सुन्दर सस्कार अपने बालक मे क्यो न डाले, स्कूलो मे जाने पर वे नष्ट हो जाते है ।

आज के युग मे शिक्षा का प्रचार बडी तीव्रगति से हो रहा है । नए-नए स्कूल, कॉलेज और यूनिवर्सिटियाँ खुलती जा रही है, किन्तु जिस प्रकार की शिक्षा हमारे बालको के लिये आवश्यक है, क्या उस प्रकार की शिक्षा ये सब शिक्षण सस्थाएँ दे रही हैं ? नही, इसका सबसे बडा कारण यही है कि आज का शिक्षक स्वय को एक वेतनभोगी अध्यापक मात्र मानता है । अपने आपको विद्यार्थियो का गुरु अथवा अभिभावक नही समझता । हमारी प्राचीन सस्कृति गुरु को केवल पुस्तकीय ज्ञानदाता नही मानती, वरन् उसे शिष्यो के चरित्र का निर्माता भी मानती है । किन्तु आज के शिक्षक अपने उत्तरदायित्वो का पालन करने म रुचि नही रखते । उनकी उदासीनता और उपेक्षा का परिणाम यही होता है कि शिक्षार्थियो की श्रद्धा, विश्वास और स्नेह सब कुठित हो जाता है और उनके हृदयो मे उच्छृखलता तथा अनुशासनहीनता घर कर जाती है । इतना ही नही, शिक्षा के प्रति भी उनकी अभिरुचि नही रहती । उसका उपहास करते हुए वे सरेआम कहते है —

रामराज्य मे शिक्षा की आवश्यकता क्या है ?
राजा रामचन्द्रजी पर क्या,
बी० ए०, एम० ए० की डिगरी थी ?
वे तो ए, बी, सी, डी तक भी नही पढे थे ।
फिर भी राज-काज मे कितने बढ़े चढे थे ।
तब क्यो शिक्षा पर हम इतना खर्च बढाये ?
सब कॉलिज और स्कूलो को बन्द कराकर,
उन भवनो मे—
फिल्मी स्टूडियो और सिनेमाघर खुलवा दो !
शिक्षा पर जो खर्च करोडो का होता है,
वह बच जाये ।
और मनोरंजन-कर से इनूकम बढ जाये ।

ऐसी स्थिति मे यह अनिवार्य है कि शिक्षक अपने तथा शिक्षार्थियो के मध्य मे बनी हुई अलगाव की खाई को मिटाकर उनके हृदय मे प्रवेश करे, उनकी सद्वृत्तियो को उभारे, उनकी जिज्ञासा जागृत करे और उन्हे आत्म-चिन्तन की दिशा मे प्रेरित करे तथा उनमे शुद्ध-ज्ञान और चारित्र्य का विकास करे ।

शिक्षा का मूल पुस्तको मे नही, शिक्षक के जीवन मे होता है । हमारी

भारतीय संस्कृति शिक्षक को आचार्य मानती है। आचार्य का अर्थ है—आचारवान्। जो आचरण-प्रधान व्यक्ति ज्ञान को जीवन मे उतार लेते थे, आचार्य के पद पर आसीन किये जाते थे। उस समय की शिक्षा-प्रणाली भी आज की शिक्षा-प्रणाली से भिन्न थी। प्रकृति की गोद मे स्थित आश्रमो मे शुद्ध और श्रमपूर्ण जीवन विताते हुए विद्यार्थी विद्या का मर्म अपने आचार्यों के द्वारा हृदय मे उतारते थे। आचार्य और शिष्य आत्मीयता तथा एकरसता के सूत्र मे वधे रहते थे। शिष्य के जीवन की समस्त जिम्मेदारियाँ आचार्य पर होती थीं। छात्रो के रहन-सहन, खान-पान और अध्ययन-मनन आदि का वे अत्यन्त सजगता से निरीक्षण करते थे। छात्रो को विद्याध्ययन कराने के साथ-साथ सदाचारी वनाने की ओर भी उनका सम्पूर्ण लक्ष्य रहता था। क्योकि सदाचार के विना जिस प्रकार धन-वैभव का कोई मूल्य नही होता, उसी प्रकार ज्ञान और विज्ञान का भी कोई मूल्य नही माना जा सकता। कोई मनुष्य कितना भी ज्ञान क्यो न हासिल करले, शास्त्रो मे पारगत महाविद्वान् क्यो न वन जाय, सदाचार के अभाव मे वह महामूर्ख ही कहा जा सकता है। किसी कवि ने कहा है —

मतिमान हुए धृतिमान हुए गुणवान हुए वहु खा गुरु लातें,
इतिहास भूगोल खगोल पढ़े नित न्याय रसायन मे कटी रातें।
रस पिंगल भूषण भाव भरी गुण सीख गुणी कविता करी घातें,
यदि मित्र; चरित्र न चारु हुआ धिक्कार है सव चतुराई की वातें।

कवि का कथन सर्वथा सत्य है। जिस प्रकार भौतिक दवा भौतिक शरीर की व्याधियो का नाश करती है, उसी प्रकार सदाचार आत्मा की विकाररूप व्याधियो का संहार करता है। इसीलिये शास्त्रों मे आचरण की महिमा को मुक्त कठ से स्वीकार किया गया है। सासारिक वस्तुओ के स्वरूप को समझने के लिये ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता होती है। किन्तु ज्ञान का फल सदाचरण ही है। जिस ज्ञान से चारित्र की प्राप्ति न हो वह ज्ञान कोरा और निष्फल है। विश्व मे जितने भी सत, महात्मा और धर्मपरायण महापुरुष हुए हैं, वे अपने आचरण की उत्तमता मे ही महान् वने हैं। इसलिये आवश्यक है कि हमारे वालक शिक्षा की प्राप्ति के साथ-साथ उत्तम चारित्र को भी प्राप्त करें। अर्थात् विद्वान् वनने के साथ ही सदाचारी भी वनें। सदाचार ही श्रेष्ठ धर्म है। मनु महाराज ने कहा है —

"आचारः प्रथमो धर्म."

खेद है कि आजकल शिक्षा का रूप वदल गया है और इसमें विजातीय

तत्त्वो की प्रधानता हो गई है। पश्चिमी प्रणाली पर दी जाने वाली शिक्षा हमारे बालको मे सुसस्कार नही डाल सकती। आज के विद्यार्थी विदेशी रहन-सहन, विदेशी खान-पान और विदेशी भाषा को अपनाने मे ही अपने ज्ञान को सार्थक मानते हैं, तथा अपनी मातृभाषा को छोडकर अग्रेजी मे वार्तालाप करने मे अपने को गौरवान्वित समझते हैं। यह हाल देखकर किसी कवि ने गहरे व्यग से कहा है :—

छोटे छोटे बच्चो को अग्रेजी-शिक्षा,
वर्तमान सरकार दे रही प्राइमरी मे।
लेकिन मैं तो इससे भी कुछ आगे बढकर,
गर्भवती सब माताओ को,
अग्रेजी की पहली पुस्तक,
'किंग प्राइमर'
घोट,पीसकर पिलवा दूँगा !
शिशु पृथ्वी पर आएगा तो,
रोयेगा भी अंग्रेजी मे,
हँसेगा भी अग्रेजी मे,
खाँसेगा भी अग्रेजी मे ।

कहने का अभिप्राय यही है कि अपनी आदर्श सभ्यता और उच्च सस्कृति को त्यागकर विदेशी सभ्यता और सस्कृति को अपना लेना ही विद्या-प्राप्ति का फल नही है। हमारे ऋषि मुनियो की अमर वाणी है —

"सा विद्या या विमुक्तये।"

सच्ची विद्या वही है जो हमे ससार से मुक्त करती है, भ्रमजाल व अज्ञानान्धकार से बचाती है, माया के आवरण को छिन्न-भिन्न करके ज्ञान चक्षुओ को खोलती है तथा मानव को रूढियो और अधविश्वासो के दलदल से निकालकर आत्मा के दिव्य सदेश को सुनने मे समर्थ बनाती है।

आज के युग मे सद्शिक्षा की बडी आवश्यकता है। सद्शिक्षा ही हमारे बालको का शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास कर सकती है। जिस विद्या से आत्म-ज्ञान होता है, आत्मा की शक्ति और उसके रहस्य का पता लगता है, वह 'परा' विद्या कहलाती है और जिससे भौतिक जगत व शरीर का ज्ञान होता है वह 'अपरा' विद्या होती है। 'परा' एवं 'अपरा', दोनो प्रकार की विद्याओ का जब सुन्दर समन्वय होता है तभी ज्ञान पूर्णता प्राप्त करता है।

विदेशी भाषाओ से लिये गए विचारो को रटकर या उनकी नकल करके

ही कोई शिक्षित नही कहला सकता। आज हम देखते हैं कि विश्वविद्यालयो की कतिपय उपाधियाँ प्राप्त करके भी हमारे नवयुवक श्रीहीन दिखाई पडते हैं। इसका कारण है, शिक्षा के साथ-साथ उनके मनोबल और चारित्र्यबल का न बढना। शिक्षा और चरित्र मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिक्षा की पहचान उच्च चरित्र से होती है। शिक्षा एक प्रकार की साधना है जिससे शिक्षार्थी जीवन तत्त्व को पहचानने मे समर्थ हो सकते हैं और उस शक्ति को प्राप्त कर सकते हैं जो उन्हे सही मापने मे मानव बना सके। अध्यापको को रिश्वत देकर अथवा परीक्षाओ के समय नकल कर करके पास होने वाले विद्यार्थी कभी अपने आपको ऊँचा नहीं उठा सकते तथा अपने देश और समाज के कर्णधार नही बन सकते। विद्यार्थी जीवन मे ही सद्गुणो का विकास हो सकता है अत उस समय मे शिक्षक को बडी सावधानी से अपने छात्रो मे सद्गुणो का बीजारोपण करना चाहिये। शिक्षा के साथ-साथ बालक मे नैतिकता, सच्चाई और साहस भी उसी क्रम से बढता जाय तभी शिक्षा सार्थक बन सकती है। एक साहसी बालक का उदाहरण है —

एक बार इंगलैंड के राजा जेम्स द्वितीय के पौत्र प्रिन्स चार्ल्स प्रथम, जार्ज के सेनापति से परास्त होकर अपने प्राण बचाने के लिये स्कॉटलैण्ड की पहाडियो मे छिप गये। चार्ल्स को खोज कर लाने की घोषणा की गई तथा उसके लिये चार लाख रुपये का इनाम रखा गया।

कुछ समय बाद एक खोजकर्ता केप्टिन ने एक छात्र से पूछा कि क्या तुमने प्रिन्स चार्ल्स को देखा है? बालक ने उत्तर दिया—मैंने चार्ल्स को जाते हुए देखा है, किन्तु यह नही बताऊँगा कि कब और किस रास्ते से जाते देखा है।

यह सुनते ही केप्टिन ने तलवार निकाली और छात्र को मार डालने का भय दिखाया। किन्तु छात्र तनिक भी नही डरा और प्रिन्स के विषय मे कुछ भी बताने के लिये तैयार नही हुआ। क्रोध मे आकर केप्टिन ने छात्र पर तलवार से प्रहार किया। चोट लगने के कारण छात्र चीख उठा किन्तु साथ ही बोला—

"मैं इस घातक प्रहार के कारण ही चिल्लाया हूँ, पर तलवार के भय से भी बताऊँगा कुछ नही। मैं मेक्फर्सन वंश का बालक हूँ और मेरे गुरु ने मुझे सिखाया है कि जान देकर भी शरणागत की रक्षा करनी चाहिये। प्रिन्स चार्ल्स का जीवन इस समय मेरे हाथ मे है किन्तु मैं तलवार के डर से अथवा चार लाख रुपये के लोभ मे पडकर, कभी उनका पता आपको नहीं बता सकता चाहे आप मेरी बोटी-बोटी ही क्यो न काट डालें।"

केप्टिन बालक की वीरता, साहस एव दृढता से बहुत प्रभावित हुआ और उसने प्रसन्न होकर उस छात्र को चाँदी का क्रास इनाम मे दिया। आज भी मेक्फर्सन वश के व्यक्ति उस इनाम को सम्मानपूर्वक रखते है।

बधुओ ! मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि जब शिक्षा वाणी मे ही नही बोलती वरन् कार्य मे उतरती है, जब ज्ञान आचारवान बन जाता है, मस्तिष्क मे विवेक का प्रकाश होता है और सेवाभिलाषा हृदय मे जागृत हो जाती है तभी समझना चाहिये कि शिक्षा का सच्चा फल प्राप्त हुआ है।

हमारे होनहार बालको को जब ऐसी शिक्षा प्राप्त होगी तभी उनका हृदय-प्रदीप निर्मल ज्योति से जगमगा सकेगा। शिक्षा के साथ-साथ जब उनकी आत्मा मे सेवा, विनय, दया, श्रद्धा और नैतिकता आदि गुणो का आविर्भाव होगा तब ही वे जीवन और जगत के रहस्य को समझने मे समर्थ हो सकेंगे।

समाज के इन भावीकर्णधारो को धर्म का पाठ अलग से पढाने की आवश्यकता नही है, अपितु जिस दिन इनका ज्ञान आचरण मे उतर आएगा और विवेक मार्ग-दर्शन करने लगेगा, धर्म की अलौकिक ज्योति स्वय ही इनके अन्तर्मानस को आलोकित कर देगी। एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा भी है —

"गम्भीरता, उदारता, विश्वस्तता, तत्परता तथा दयालुता का व्यवहार ही सच्चा धर्म है।"

—कनफ्यूशियस



१६

आरोह-अवरोह का चक्र

सृष्टि के कण-कण मे प्रत्येक क्षण परिवर्तन का चक्र चलता रहता है। चेतन और जड सभी पदार्थ प्रतिपल परिवर्तित होते रहते हैं। किन्तु कुछ परिवर्तन स्थूल होते है जिन्हे हम देख सकते हैं और कुछ परिवर्तन इतने सूक्ष्म होते हैं जो हमारी दृष्टि मे नही आ पाते। उदाहरण स्वरूप, मेज पर सजाए हुए गुलदस्ते के फूल कुछ घटो मे ही मुरझा जाते हैं और उनमे हुआ परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाता है किन्तु जिसमे गुलदस्ता रखा हुआ था वह फूलदान भी परिवर्तित हो रहा है, यह हम नही जान पाते।

इतिहास हमें बताता है कि ससार मे कितना जबर्दस्त परिवर्तन होता रहा है। बडे-बडे साम्राज्य अल्पकाल मे ही छिन्न-भिन्न हो गए और उन पर एक छत्र शासन करने वाले सम्राट् दर-दर की ठोकरें खाते फिरे। महाराणा प्रताप जैसे प्रतापी राजा वर्षो तक घोर जगलो मे छिपते फिरे, और उनके सुकुमार राजकुमारों को घास की बनी रोटियां भी नसीब नही हो पाईं।

इतना ही नही, हिन्दुस्तान के अन्तिम सम्राट बहादुरशाह 'जफर' तो अपनी जन्मभूमि मे मरने के लिये भी तरस गए। कितना दर्द था उनके शब्दो मे :—

कितनां ये बदनसीब 'जफर' दफन के लिये,
दो गज जमीन भी न मिली कूँचे यार मे।

कहने का तात्पर्य यही है कि क्षणभगुर संसार की प्रत्येक वस्तु, चाहे वह चेतन हो या जड, परिवर्तनशील है। प्रतिपल वे परिवर्तित होती रहती है। कल तक जहाँ हिंसक पशुओ से भरे घोर जगल थे, आज उन्ही स्थानो पर मन-मोहक महल निर्मित है और विद्युत् के प्रकाश से जगमगाती हुई गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। जहाँ उच्च सभ्यता तथा संस्कृति के धारक नागरिको से परिपूर्ण सुन्दर नगर थे, वहाँ अब कोसो तक एक दीपक भी नही टिम-टिमाता। हम देखते हैं—आज जो सुमन के सदृश सुकोमल शिशु हरिण-शावक की तरह कुलाँचे भरता हुआ क्रीडा करता है और दुख किस चिडिया का नाम है, यह भी नही जानता, कुछ समय बाद वही जरा-जर्जरित तन का भार ढोता हुआ निस्तेज और निर्बल होकर सिर धुनता हुआ कहता है :—

जीवन का सौन्दर्य सुनहरा शैशव कहाँ गया रे।
आँधी सा मदमाता यौवन भी तो चला गया रे।
अर्धमृत्यु-सम बूढ़ापन भी जाने को आया है,
हा! सारा जीवन ही जैसे बादल की छाया है।

—भारिल्ल

इस परिवर्तन की महिमा का कहाँ तक वर्णन किया जाय? किसी दिन भारत सोने की चिडिया कहलाता था। सम्पूर्ण देश मे राम राज्य था। गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दो मे—

"नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना,
नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।"

अर्थात्—न तो कोई यहाँ पर दीन, दरिद्र और दुखी था और न कोई असंस्कारी या बुद्धिहीन ही था। उस समय भारत को विश्व गुरु माना जाता था। ह्वेनसाग और मेगस्थनीज जैसे सैकडो ज्ञान-पिपासु हमारे यहाँ तक्षशिला और नालन्दा विद्यापीठ मे रहकर ज्ञानार्जन करते थे तथा अध्यात्म-दर्शन के गूढ रहस्यो को समझते थे।

परन्तु आज भारत न सोने की चिडिया है और न विश्व गुरु। उलटे इसके निवासी ही इगलैंड, रूस और अमेरिका आदि मे शिक्षार्थी बनकर जाया करते

हैं। काल की क्रूरता ने समृद्धि के स्थान पर भयंकर दरिद्रता और अभाव का साम्राज्य स्थापित कर दिया है। कल जो उन्नति के शिखर पर चढा हुआ था, वह आज अवनति के गर्त मे पडा हुआ है। कल जो ऐश्वर्य मे लोटता था, आज भीख मांगता है। महान् से महान् वैभवशाली राष्ट्र भी समय के परिवर्तन से धराशायी हो गये। कितनी ही सभ्यताओं के नामोनिशान भी समय के प्रवाह ने मिटा दिये। तभी तो कहा जाता है—

आज गर्वोन्नत हर्म्य अपार, रत्न, दीपावलि मन्त्रोच्चार,
उलूकों के कल भग्न विहार, झिल्लियों की अप्रिय झनकार।

इस परिवर्तन का नाम ही ससार है। मनुष्य कभी पूर्ण सुख का अनुभव करता है और कभी असह्य दुख का। कभी वह आशा की सुन्दर झलक देखता है और कभी निराशा के अतल सागर मे डुबकियाँ लगता है। सुख और दुख दोनो ही रथ के समान आते जाते रहते हैं। इसलिये कहा है —

"चक्रवत् परिवर्तन्ते दु खानि च सुखानि च।"

जिस प्रकार रथ के पहिये का एक हिस्सा ऊपर और एक हिस्सा नीचे क्रमानुसार होता रहता है, उसी प्रकार सुख के बाद दुख और दुख के बाद सुख भी क्रमश आता रहता है। उत्थान और पतन का अथवा सुख और दुख का क्रम सृष्टि मे अनवरत रूप से चल रहा है, चाहने और न चाहने पर भी। तब यह प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति मे मनुष्य क्या करे? क्या सुख और दुख के ऊपर उठते हुए और नीचे जाते हुए चक्र को विधि का विधान मानकर वह निश्चित और निष्क्रिय होकर बैठा रहे? नही, कर्मवीर व्यक्ति कभी अपने आपको दैव के अधीन नही छोडता।

दैव दैव आलसी पुकारा—इस उक्ति को चरितार्थ करने वाले कर्मभीरु व्यक्ति सदा दैव-दैव पुकारते हैं, स्वय कुछ नही कर पाते। आत्म-निर्भरता उनसे कोसो दूर रहती है। आत्म-हीनता के कारण वे किसी भी काम मे हाथ डालने मे हिचकिचाते है, भयभीत होते है और उसके परिणामस्वरूप पराश्रयी बनकर जीवन-यापन करते हैं। वास्तव मे यह उक्ति अपने मे सारगर्भित है। आलसी मनुष्य ही दैव का, भाग्य या प्रारब्ध का काल या समय का आश्रय लेते हैं। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये वे स्वय तो पूरा प्रयत्न करते नही, किन्तु असफल होने पर भाग्य और ईश्वर को दोषी ठहराते हैं। ऐसे कायर पुरुषो का जीवन सिर्फ इसलिये होता है कि वे समाज से निन्दित और तिरस्कृत होकर दूसरो के धन और बल पर जीवन-यापन करे और दुर्गति का शिकार बने रहे। सुख और दुख प्रदान करने वाला नियति का

चक्र भी उनके लिये दु ख के प्वाइ ट पर आकर थम सा जाता है। उनके हाथ-पैरों की शक्ति, मन की सबलता और अन्त करण का विश्वास-सभी कु ठित हो जाते हैं और वे कुछ भी नही कर पाते सिवाय इसके कि अपनी असफलताओं, पराजयो, अवनतियो और हानियो के लिये बैठे-बैठे ईश्वर, भाग्य, दैव, समय और पूर्व जन्मो के कर्मों को दोष देते रहे।

इसके विपरीत अपनी कर्म-शक्ति पर भरोसा रखने वाले सिंह-पुरुष कभी भाग्य और प्रारब्ध का अनावश्यक आश्रय नही लेते। यह जानते हुए भी कि इस परिवर्तनशील संसार मे कभी सुख है कभी दु ख, कभी लाभ है कभी हानि, कभी उत्कर्ष है कभी अपकर्ष, वे विपत्तियो से नही घबराते और यही मानकर कर्म-रत रहते हैं—

"छिन्नोऽपि रोहतितरुः, क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः।
इति विमृशन्तः सन्ता, सन्तप्यन्ते न ते विपदा॥"

अर्थात्—वृक्ष कटने के बाद फिर बढ जाता है, क्षीण हुआ चन्द्रमा भी फिर वृद्धि को प्राप्त हो जाता। इस प्रकार विचार करके बुद्धिमान् जन कभी विपत्तियो से नही घबराते।

अपनी प्रबल इच्छाशक्ति के द्वारा मानव सुख और दुख प्रदान करने वाले साधनों पर आधिपत्य स्थापित कर लेता है। साथ ही ऐसी दैवीशक्ति भी प्राप्त कर लेता है कि उसके द्वारा एक बार तो मृत्यु के क्षणों को भी टाल सके।

भीष्म पितामह जब मृत्यु शैय्या पर थे, उस समय सूर्य दक्षिणायन था। भीष्म ने दृढतापूर्वक कहा "मैं अभी प्राण त्याग नही कर सकता। जब सूर्य उत्तरायण होगा उसी समय प्राण-विसर्जन करूँगा।" हुआ भी ऐसा ही। अपनी आत्म-शक्ति के बल पर उन्होने इच्छा-मृत्यु प्राप्त की।

इस परिवर्तनशील ससार मे देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति अनुकूल सहायता, अनुकूल प्रेरणा और अनुकूल वातावरण मिलने पर भी उन्नति नही कर पाते। देखने मे स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट होते हैं, अच्छा पहनते और खाते भी है, किन्तु उपलब्धि जैसी कोई वस्तु उनके पास नही फटकती और न वे उसके लिये प्रयत्नशील ही दिखाई देते हैं। असफलताओ और संघर्षों से वे दूर भागते है। किसी भी दुखद या भयानक परिस्थिति का वे मुकाबला नही कर पाते। सदा भय और निराशा के गर्त मे डूबते उतराते रहते है।

दूसरी ओर ऐसे भी व्यक्ति पाए जाते हैं जो देखने मे अस्थिपञ्जर मात्र दिखाई पडते हैं, मालूम होता है कि हवा का एक साधारण झोका भी इन्हे

उठाकर ले जा सकता है। किन्तु अवसर आने पर ज्ञात होता है कि उन डेढ पसली वाले व्यक्तियों को संघर्षों के भयानक तूफान भी डिगा नही पाते। प्रश्न उठता है कि ऐसी कौन सी दैवी शक्ति होती है जो उन्हे पराजय के क्षणो मे भी, असफलता की घडियो मे भी मुस्कराते हुए आगे बढने को प्रेरित करती है और अपने लक्ष्य तक पहुँचा कर छोडती है? उत्तर एक ही है, उनका "मानसिक बल"।

मन के जीते जीत है मन के हारे हार—शक्ति को तीन भागो मे विभाजित किया जाता है। शारीरिक शक्ति, मानसिक शक्ति और आत्मिक शक्ति। संसार के सभी देशो के व्यक्ति शारीरिक शक्ति मे थोडे बहुत अन्तर के साथ समान होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह अमेरिका का निवासी हो, चाहे अफ्रीका का, भारत का हो या ईरान का, करीब-करीब समान रूप मे स्वस्थ होता है। किन्तु जहाँ मनोबल या मानसिक शक्ति का प्रश्न आता है, वहाँ प्रत्येक व्यक्तिमे भारी अंतर पाया जाता है।

शरीर एक यन्त्र है, उसमे कोई-कोई न खराबी होते रहना स्वाभाविक है। जल, वायु, अग्नि कोई भी भौतिक तत्त्व उस पर अपना प्रभाव डाल सकते हैं। लेकिन इन सबके बावजूद भी मन तन को बडी भारी शक्ति प्रदान करता है। थके हुए निराश तन को मन शक्ति प्रदान करके खडा कर देता है। मानव चाहे भौतिक क्षेत्र मे अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र मे बढे, मन ही उसे सहारा देता है। दृढ मनोबल रखने वाला व्यक्ति किसी भी स्थिति मे हिम्मत नही हारता। उसका सिद्धान्त ही यह होता है :—

> कहनो न वृथा अपने दुख को, सिर आन परैं जु सबै सहनो,
> सहनो जिय शान्ति लिये जग मे, मत छोडिये धीरज को गहनो।
> गहनो गुण दोष विचार हिये, कहिं जाय नहीं अपनो लहनो,
> लहनो घर बैठे ही आय मिले, विसवास नहीं जिहि को कहनो।

जब तक मनुष्य मे धैर्य और हिम्मत बनी रहती है तब तक वह पराजय को भी जय मे बदल देने की शक्ति रखता है तथा कभी भी शान्त और निष्क्रिय होकर नही बैठता। शरीर कितना भी अशक्त क्यो न हो जाय, वह प्रतिकूल परिस्थितियो से संघर्ष करता रहता है। और सफलता प्राप्त करके ही इस उक्ति को सार्थक करता है—"मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।" विश्व का इतिहास इस उक्ति का साक्षी है। नेपोलियन ने कहा कि आल्पस् नही है तो आल्प्स नही रहा। अर्थात् उसकी सेना ने उस दुर्गम पर्वत को आनन-फानन मे पार कर लिया। महात्मा गांधी ने कहा—'देश को

आजाद करके रहूँगा' तो सारे देश मे प्रेरणा का बिगुल बजाकर उसे शताब्दियो की दासता के चगुल से मुक्त कर लिया। विघ्न, बाधाएँ और मार्ग की रुकावटे तो प्रत्येक उत्तम कार्य को असफल बनाने का प्रयास करती है किन्तु साधारण व्यक्ति का मन उन विपत्तियो को देखकर शीघ्र हार मान जाता है, जबकि महान् एवं प्रतिभाशाली व्यक्ति अपने मानसिक बल के आधार पर विषम परिस्थितियों पर भी दृढता पूर्वक विजय प्राप्त कर लेता है।

सबै दिन जात न एक समान—अगर मनुष्य इस बात पर भलीभाँति विश्वास करले कि एक सरीखे ही सब दिन नही होते, सुख के बाद अगर दुख आया है तो दुख के बाद सुख भी आएगा तो वह प्रत्येक स्थिति मे धैर्यवान् बना रह सकता है, निराशा के अथाह सागर मे डूबे रहकर भी आशा का मधुर दीप प्रज्ज्वलित कर सकता है। पाश्चात्य कवि गेटे ने कहा भी है —

"In all things it is better to hope than to despair."

अर्थात्—प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध मे निराश होने की अपेक्षा आशावान होना बेहतर है।

प्रतिदिन तो प्रकृति भी एक-सी नही रहती। आज हम चारो ओर बसन्त की हरीतिमा, झूमते हुए पुष्प और उन पर गुंजन करते हुए भ्रमरो को देखते हैं तो कल पतझड का रौद्ररूप दिखाई देने लगता है। किन्तु भ्रमर फिर भी निराश नही होता। वह पुन. बसन्त के आने और फूलो के खिलने की प्रतीक्षा करता है। उसके लिये सत्य ही कहा जाता है :—

इहि आसा अटक्यो रह्यो, अलि गुलाब के मूल।
अइहे बहुरि बसन्त ऋतु, इन डारनि वे फूल॥

इस परिवर्तनशील ससार मे, जबकि पशु पक्षी भी दुख आने पर निराश नही होते तो मानव तो एक महान् और शक्तिशाली प्राणी है। उसे सघर्षो और विपत्तियो से कभी घबराना नही चाहिये। मानव जीवन का सचार सूत्र आशा है। आशा के सहारे वह बडे-बडे वीरतापूर्ण कृत्य कर लेता है। आशा मानव को कर्म करने की प्रेरणा देती है, उसे अकर्मण्य नही बनने देती। अकर्मण्य व्यक्ति मे उत्साह का अभाव रहता है और इसके फलस्वरूप वह जीवन में किसी भी लक्ष्य को प्राप्त नही कर पाता। उत्साह सफलता का मूल है और यही मानव को कर्मों मे प्रवृत्त कराने वाला है। प्राणी जो भी कर्म करता है, अपने उत्साह और आशा के आधार पर ही करता है। कहा भी है —

उत्साहोबलवानय नात्युत्साहात्पर बलम्।
सोत्साहस्य हि लोकेषु न किंचिदपि दुर्लभम्॥

—वाल्मीकि

उत्साह बलवान होता है। उत्साह से बढ़कर दूसरा कोई बल नही है। उत्साही पुरुष के लिये संसार मे कोई भी वस्तु दुर्लभ नही है।

उत्साही और आशावादी मनुष्य प्रतिपल कर्म-रत रहता है। उसके लिये प्रत्येक क्षण अमूल्य होता है। वह भलीभाँति जानता है कि बीता हुआ समय और कहे हुए शब्द कभी वापिस नही आते। कोटि प्रयत्न करने पर भी गए हुए क्षण को पुन नही लाया जा सकता। युगो से बिछुडे हुए प्राणी भी किसी जन्म मे मिल सकते है किन्तु बीता हुआ एक क्षण भी कभी वापिस नही लाया जा सकता।

क्षण-क्षण मे परिवर्तित होनेवाले इस संसार में एकमात्र वही व्यक्ति जीवन का लाभ उठा सकता है जो समय का मूल्य समझता है और उसका सदुपयोग करता है। समय पर किसी की बपौती नही है। चाहे कोई निर्धन हो या धनवान्, विद्वान् हो या मूर्ख, सभी का उस पर समान अधिकार है। आवश्यकता है उसका लाभ उठाने की। संघर्ष और संकट के क्षणो मे तो समय का अद्भुत चमत्कार देखा जाता है। इतिहास वेत्ता जानते हैं कि पाँच मिनिट के माहात्म्य और महत्त्व को न समझ सकने के कारण ऑस्ट्रेलियन सेना संग्राम मे नेपोलियन से हार गई थी और वही नेपोलियन अपने साथी ग्रूशी के पाँच मिनिट लेट आने के कारण बन्दी बना लिया गया था।

जीवन की सफलता का रहस्य समय के सदुपयोग मे ही निहित है। जो मनुष्य आज का काम कल पर टाल देते हैं उनका काम कभी पूरा नही होता और वे सदैव पश्चात्ताप की अग्नि मे जलते रहते है।

अब पछिताए होत का—कबीर का यह कथन यथार्थ है कि जब चिडियो ने खेत चुग लिया तो बाद मे पश्चात्ताप करने से क्या लाभ? इन शब्दो का अभिप्राय यही है कि कालरूपी चिडिया जीवन के स्वर्णिम क्षण रूपी कणो को एक-एक कर निगल रही है। पहले तो मनुष्य चेतता नहीं और उनकी रक्षा का कोई ध्यान नही रखता किन्तु जब उनकी समाप्ति का यानी इस संसार से चल देने का वक्त आता है तब वृथा पश्चात्ताप करता है और —

कालहि, कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाहि।

अर्थात्—काल को कर्म को और ईश्वर को दोष देता है।

इस अद्भुत सृष्टि मे एकमात्र मानव ही ऐसा प्राणी है, जिसके पास बुद्धि का अक्षय कोष है। अपने बुद्धि-बल के सहारे ही वह वर्तमान मे रहता हुआ भूत और भविष्य मे विचरण करता है। क्या हो चुका है और क्या होना चाहिये, इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके लक्ष्य प्राप्ति के मार्ग पर दृढता-पूर्वक चलने का सकल्प करता है। किन्तु जो अज्ञानी पुरुष इस पर विचार नही करते वे अपने अविवेकपूर्ण कृत्यो से न केवल वर्तमान को ही व्यर्थ गँवाते है, अपितु भविष्य को भी अन्धकारमय बना लेते हैं। पश्चात्ताप के सिवाय उनके हाथ कुछ भी नही आता।

इसलिये प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष को समय रहते ही सावधान हो जाना चाहिये। प्यास से व्याकुल हो जाने पर जो व्यक्ति कुआँ खोदना प्रारम्भ करता है, वह प्यासा ही मर जाता है। परीक्षा प्रारम्भ हो जाने पर जो छात्र पढना शुरू करता है वह अनुत्तीर्ण होता है। अतएव समय की गति को पहचानकर उसका लाभ उठाना ही बुद्धिमान् का कर्त्तव्य है। समय तभी तक मानव का अनुचर है जब तक उसकी इन्द्रियाँ काम देती है, मस्तिष्क मे विवेक जागृत रहता है और वृद्धावस्था शरीर को निर्बल तथा निस्तेज नही बना देती। उस समय मनुष्य असाधारण से असाधारण कार्य भी सहज ही सम्पन्न कर सकता है। अग्रेजी मे एक कहावत भी है '—

"Strike while the iron is hot."

अर्थात्—जब का लोहा गरम है उसे पीट लो।

गरम लोहे को पीटकर ही मनुष्य अपनी मनोनुकूल वस्तुओ का निर्माण कर सकता है। अगर वह ठण्डा पड गया तो उस पर लाख हथौडे चलाकर भी कोई वस्तु नही बनाई जा सकेगी। इसी प्रकार जब तक शरीर जरा-जर्जरित नहीं हो जाता, उसके द्वारा इस लोक और परलोक का हित साधन किया जा सकता है। नि:शक्त हो जाने पर उससे कोई काम नहीं लिया जा सकता, केवल पश्चात्ताप ही किया जा सकता है।

हारिये न हिम्मत—बधुओ ! अभी मैंने बताया है कि समय रहते ही मनुष्य को चेत जाना चाहिये क्योकि फिर वृद्धावस्था का आक्रमण हो जाने पर और इन्द्रियो के क्षीण हो जाने पर इहलोक और पर लोक का हित-साधन नही हो सकता। किन्तु इस सत्य के बावजूद भी मनुष्य को हिम्मत नही हारना चाहिये। उसे स्मरण रखना चाहिये कि मानव मे शरीर बल के अलावा आत्मिक बल भी है और वह शरीर बल से अनत गुना श्रेष्ठ है। शरीर की शक्ति तो रोग-शोक आदि अनेक कारणो के द्वारा वृद्धावस्था आने से पहले

भी क्षीण हो जाती है, किन्तु आत्मा की शक्ति जीवन के अन्तिम क्षणों तक भी उतनी ही दृढ़ बनी रहती है, जितनी वह जीवन के प्रारम्भ में होती है। इस अद्भुत शक्ति के द्वारा मनुष्य अपने अन्तिम क्षण में भी बहुत कुछ प्राप्त कर सकता है। यह सही है कि शारीरिक शक्ति त्याग, तपस्या और साधना में सहायक होती है और उसके द्वारा श्रेष्ठ गति प्राप्त की जा सकती है किन्तु आत्मा की शक्ति अगर पूर्णरूप से जागृत हो जाय तो उसके द्वारा अल्प समय में ही जन्म-मरण का यह चक्र भी छूट सकता है। आवश्यकता है सिर्फ उसे समझने की और जगाने की।

जीवन में सुख और दुख आते रहते हैं किन्तु उनके कारण उत्साह और अनुत्साह का अनुभव सिर्फ वे ही करते हैं जो अपनी आत्म-शक्ति को नहीं पहचानते। आत्म-शक्ति पर विश्वास रखने वाले महापुरुष तो दोनों ही स्थितियों का समान भाव से मुकाबला करते हैं। उनका ध्येय भौतिक सुख प्राप्त करना नहीं, वरन् आत्मिक सुख प्राप्त करना होता है। वे इस लोक के सुखों में संतुष्ट नहीं होते, स्वाधीन आत्मिक सुख की आकांक्षा रखते हैं। ऐसे भव्य प्राणियों का चरम लक्ष्य सिर्फ 'मुक्ति' प्राप्त करना ही होता है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वे तपस्या, यम, नियम आदि का पालन करते हैं।

सच्चा सुख तो आत्मा का गुण है। वह विषयाश्रित नहीं, आत्माश्रित है। जो सुख किसी भी परपदार्थ के निमित्त से होता है, वह सच्चा सुख नहीं हो सकता। ऐसा सुख न परिपूर्ण होगा, न स्थायी होगा। क्योंकि परपदार्थ का संयोग कुछ समय तक ही रह सकता है, उसके बाद उसका वियोग हो जाता है। अतएव वास्तविक सुख वही है जो बिना किसी के संयोग से, केवल आत्मा से ही हो। जो काल से सीमित न हो और परिमाण में भी सीमित न हो। अर्थात् जो अक्षय और अनन्त हो तथा भविष्य में दुख का कारण बनने वाला न हो।

संसार की किसी भी वस्तु में सुख नहीं है। वर्षों के अथक परिश्रम से कमाया हुआ धन बात की बात में विलीन हो जाता है। उसके नष्ट होते ही मेरा-मेरा कहने वाले सभी सम्बन्धी मुँह मोड़ लेते हैं। कहा भी है :—

सुख में आन बहुत मिल बैठत, रहत चहूँ दिस घेरे।
विपत पड़े सब ही संग छोड़त, कोउ न आवत नेरे॥
घर की नार बहुत हित जाती, रहत सदा संग लागी।
जब ही हंस तजी यह काया, प्रेत-प्रेत कह भागी॥

इस प्रकार समस्त सांसारिक सुख रेत के लड्डू के समान है जो बाहर से

मन को मोह सकते हैं, किन्तु सार उनमे कुछ भी नही होता। सच्चा सुख इन्द्रियो के द्वारा न भोग्य है और न गम्य ही है। वह तो गूँगे का गुड है, केवल अनुभव के द्वारा ही जाना जा सकता है।

अभिप्राय यही है कि आत्मा जैसे-जैसे पर-पदार्थों से अपनी ममता हटाता हुआ अपने स्वरूप मे निष्ठ होता जाएगा, वैसे ही वैसे वह सच्चे सुख को प्राप्त करता जाएगा। ज्ञानीजन कहते है —

अकिञ्चनस्य दान्तस्य, शान्तस्य समचेतस ।
सदा सन्तुष्टमनसः, सर्वा· सुखमया दिश· ॥

अर्थात्—जिसके पास एक कानी कौडी भी नही है, उसने यदि अपनी कामनाओ को वशीभूत कर लिया है, वह शान्ति मे मग्न रहता है और प्रत्येक अवसर पर समभाव को सुरक्षित रखता है और उसके मन मे सन्तोप का शीतल झरना वह रहा है तो सारा ससार उसके लिये सुखमय है।

बंधुओ, साराश यही है कि मानव ससार के अन्य समस्त प्राणियो की अपेक्षा उच्च है। उसके पास प्रवुद्ध मन और असाधारण बुद्धि है। इसोलिये उसे अन्य प्राणियो की अपेक्षा अधिक लौकिक कर्त्तव्यो का पालन करना पडता है। यह सही है कि धन का नाश होता है और सासारिक सम्वन्ध इस जन्म के साथ ही टूट जाते है। किन्तु किन्ही असाधारण व्यक्तियो के अलावा अन्य सभी व्यक्ति उनकी अपेक्षा नही कर सकते और एक सामाजिक प्राणी होने के नाते उन्हे उन सबके प्रति अपने कर्त्तव्यो का पालन करना पडता है। ऐसी स्थिति मे चक्रवत् पलटने वाले सासारिक सुखो और दुखो का उसे सामना करना चाहिये किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि उनके कारण उसका आत्मिक सुख नष्ट न हो। समस्त लौकिक सुख और दुख दर्पण पर पडते हुए प्रतिबिंबो की तरह उसके मन पर से गुजरते जाने चाहिये।

मनुष्य को यह कभी नही भूलना चाहिये कि भौतिक सुख सच्चा सुख नही है, वरन् सुखाभास है। सच्चा सुख इन सबसे परे, उसकी अपनी आत्मा मे ही छिपा हुआ है। जिस दिन उसे इस सत्य पर विश्वास हो जाएगा उसकी आत्मा स्वयं ही सासारिक सुखो से विरत हो जाएगी तथा राग, द्वेष, अहंकार, ईर्ष्या, मोह, ममता, आसक्ति आदि से ऊपर उठती हुई एक दिन अपना शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर लेगी जिसे हम मुक्ति या मोक्ष कहते है।

****

१७

धर्म और धर्मान्धता

सज्जनो, हमारा आज का विषय है, धर्म और धर्मान्धता। एक अमृत है और दूसरा विष। आज हम विचार करेंगे कि किस प्रकार धर्म रूपी अमृत का पान किया जाय और किस प्रकार धर्मान्धता के विष से बचा जाय। धर्म रूपी अमृत को ग्रहण करने के लिये उसके सच्चे स्वरूप को समझना और पहचानना आवश्यक है और उसी प्रकार धर्मान्धता रूपी जहर से बचने के लिये उसके दुर्गुणों और दुष्परिणामों को जानना भी अनिवार्य है। जब तक इन दोनों की सच्ची पहचान हमें नहीं होगी, हम अमृत का पान नहीं कर सकेंगे और हलाहल से बच नहीं पाएँगे। इसलिये हम क्रमशः इन दोनों के विषय में विचार करेंगे।

'धर्म' शब्द का उद्गम संस्कृत की 'धृ' धातु से हुआ है, जिसका अर्थ है धारण करना। अर्थात् जो समाज को धारण करे और पतन होने से बचावे वही धर्म है। मनुष्य अगर धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझे और उसे हृदय में धारण करे तो निश्चय ही मानव [illegible] सकता है। धर्म ही मानव समाज को नष्ट होने से बचाता है और इसीलिये सब

व्यवस्था स्थापित करता है। हमारे शास्त्रो मे धर्म के दस प्रकार बताए गए हैं —

"खंती मुत्ती अज्जव मद्दव लाघव सच्चे सजम चियाए तवे बभचेर।"

अर्थात्—क्षमा, निर्लोभ, सरलता, मृदुता, लघुता, सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्य, इन्हे ग्रहण करना तथा सम्यक् रूप से इनका पालना करना ही धर्म है। ये सब आत्मा को उन्नत बनाने वाले सहज गुण हैं। इन सद्वृत्तियों के द्वारा ही जीवन का विकास होता है। धर्म को दूसरे शब्दो मे हम मनुष्योचित कर्म भी कह सकते है। इनके द्वारा जीवन मर्यादित और विकार मुक्त बनता है।

धर्म से जीवन का आध्यात्मिक पक्ष प्रबल होता है। हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि मानव-जीवन का आध्यात्मिक पक्ष उसके भौतिक पक्ष से कही अधिक महत्त्वपूर्ण है। एक पाश्चात्य दार्शनिक का कथन है :—

"इस जीवन मे क्या रखा है ? निर्जीव शव को आत्मा ढोती फिरती है।"

दार्शनिक का कथन अक्षरशः सत्य है। वास्तव मे ही आत्म-तुष्टि के बिना देह-पुष्टि निरर्थक है। इसीलिये शास्त्रकारो ने शरीर की प्राकृतिक खुराक के साथ ही आत्मिक खुराक की भी व्यवस्था की है। प्राकृत भोजन शरीर का पोषण करता है और आत्मिक भोजन आत्मा को बल देता है। धर्म के उपरोक्त जो दस प्रकार बताए गए है उनका मनन करना और उनके अनुकूल आचरण करना ही आत्मा को खुराक देना और उसका उत्कर्ष करना है। सद्वृत्तियो के पोषण से आत्म बल बढता है और हृदय उत्तरोत्तर पवित्र बनता है। इसके विपरीत जब मनुष्य अन्याय, अत्याचार और अकर्म करता है तो देह-पुष्ट होने के बावजूद भी उसका हृदय भय, चिन्ता, विषाद और ग्लानि से अन्दर ही अन्दर जर्जर होने लगता है। इसलिये व्यक्ति को चाहिये कि वह आत्मा के सहज गुणो को या सद्वृत्तियो को जगाए और उनको आचरण मे लाए। यही सच्चा धर्म है। कहा भी है —

"वत्थु सहावो धम्मो।"

अर्थात्—प्रत्येक वस्तु का जो सहज स्वभाव है वही धर्म है। जैसे जल का स्वभाव शीतलता प्रदान करना, अग्नि का स्वभाव उष्णता देना, आकाश का अवकाश प्रदान करना और धरती का सहज स्वभाव भारवहन करना है, उसी प्रकार आत्मा का सहज स्वभाव चेतना है और यही उसका धर्म है। क्षमा आदि चेतना के विकास और विशुद्धि के कारण होने से धर्म है और उन का उद्देश्य आत्मा को पवित्र, निष्कलंक और उन्नत बनाना है। अगर ऐसा

"When passion enters at the foregate, wisdom goes out at the postern.

अर्थात्—जब अगले द्वार से क्रोध प्रवेश करता है तब पिछले द्वार से बुद्धि भाग जाती है।

क्रोध विष से भी अधिक भयानक होता है। विप खाने से तो मृत्यु एक बार ही आती है किन्तु क्रोध रूपी विप के सेवन से अनन्त वार मृत्यु का शिकार होना पडता है। क्रोधी व्यक्ति माता-पिता, भाई बहिन किसी का भी लिहाज नही करता। अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु का भी नाश कर देता है और फिर पश्चात्ताप करता है। इसीलिये कहा जाता है :—

Anger begins with folly, and ends with repentance

—मौण्डर

अर्थात्—क्रोध की आदि मे मूर्खता है और अन्त मे पश्चात्ताप।

हृदय के समस्त गुणो को जलाकर खाक कर देने वाली इस अग्नि की तरफ भगवान् महावीर ने गौतम को ध्यान देने की आज्ञा दी है। कहा है —

संपज्जलिया घोरा, अग्गी चिट्ठई गोयमा !

—उत्तराध्ययन, अ० २३

अर्थात्—हे गौतम ! अत्यन्त जलती हुई और बडी भयकर अग्नि हृदय मे रही हुई है।

क्रोध के समान ही मान, माया और लोभ आदि अनेक विकार है जो मनुष्य की सद्वृत्तियो को घुन की तरह धीरे-धीरे खोखली बना देते हैं। इन सबसे घबराकर ही साधु व्यक्ति कदम-कदम पर अपने मन को सभालने का प्रयत्न करते हैं। उसे उद्बोधन देते हैं :—

बुद्धि विवेक की ज्योति बुझी,
ममता-मद-मोह-घटा घनी घेरी।
है न सहारो अनेकन हैं ठग,
पाप के पन्नग की रही फेरी॥
त्यो अभिमान को कूप इतै,
उत कामना-रूप सिलान की ढेरी।
तू चलु मूढ सम्हारि अरे मन,
राह न जानी है रैन अधेरी॥

धर्म का स्वरूप—चिन्तन की गहराई मे उतरने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म का सही अर्थ है—जीवन का आध्यात्मिक विकास, मनोभावो का

उत्कर्ष, जिससे उत्प्रेरित होकर व्यक्ति अन्तर्मुखी बनता है। और बाह्य-पदार्थों एव विषय वासनाओ की ओर न दौड कर आत्म-विकास की ओर अग्रसर होता है। मन को विषय-वासनाओ से हटाना ही यथार्थ धर्म है।

अगर मानस वासनाओ से परिपूर्ण है और वह इन्हे शमन करने का प्रयत्न नही करता तो उसके बाह्य साधन एव क्रिया-काड कितने भी उत्कृष्ट और कितने भी श्रेष्ठ क्यो न हो, वे धर्म के अन्तर्गत नही माने जा सकते। धर्म-भावना के अभाव मे वे सभी साधन और क्रियाएँ अधर्म और कर्म बन्ध के हेतु बन जाते है। क्रिया-काड मात्र को धर्म मानना भयकर भूल है। परिणामो और विचारो के उत्कर्ष से बाह्य साधन धर्म और निर्वाण के हेतु बनते हैं तथा अपकर्ष से वे सभी साधन पाप एव कर्म-बन्ध के हेतु भी बन सकते हैं।

धर्म भावना प्रधान है। आप लोग यह न समझे कि धर्म मे आचार का स्थान नही है। आचार का महत्व और मूल्य धर्म मे है, किन्तु प्रधानता भावना की है। यदि मानव के मन मे धर्म के भाव, विचारो मे धर्म की ज्योति और चिन्तन-मनन मे धर्म की आभा नही है, तो उसके आचार मे वास्तविक धर्म परिस्फुरण नही हो सकता।

इस प्रकार धर्म के दो रूप है—पहला मन शुद्धि और दूसरा बाह्य व्यवहार। मन की शुद्धि से तात्पर्य है—मन मे अवतरित होने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मोह आदि मनोविकारो को क्षमा, नम्रता, निष्कपटता, सतोष, सयम आदि आत्मगुणो मे परिणत कर लेना। तथा बाह्य व्यवहार का अर्थ है—आत्म गुणो को जीवन-व्यापार मे क्रियान्वित करने के लिये सामायिक, सवर, प्रतिक्रमण तथा व्रत-उपवास आदि क्रियाएँ करना। मन को विकारो से मुक्त करना विचार-धर्म है और उन निर्विकारी भावो को विवेकपूर्वक जीवन व्यवहार मे उतारना आचार धर्म है। यदि विचारो मे राग-द्वेष आदि विकारो का विष नही है तो आचार मे भी उनका कुप्रभाव प्रतिबिम्बित नही होगा। इसलिये आचार शुद्धि अगर करनी है तो विचारो को परिमार्जित करना अनिवार्य है।

अनेकान्त दृष्टि—'अनेकान्तवाद' जैन धर्म का प्राण, और उसकी आधार-शिला है। धर्म आचरण मे अहिंसा और विचारणा मे अनेकान्तवाद को प्रधानता देता है। जैनधर्म प्रत्येक वस्तु को अनेकान्त की कसौटी पर कसता है और उसकी परख करता है। अनेकान्त का अर्थ है—वास्तविकता के जानने के लिए अपने दृष्टिकोण के साथ-साथ विरोधी दृष्टिकोण को भी परख करना।

प्रत्येक वस्तु मे निहित सत्य को समझने के लिये सभी अपेक्षाओ से विचार करना। उसका दृष्टिकोण विशाल होता है, सकीर्ण नही।

अनेकान्तवादी कदाग्रही नही होता। जहाँ अनेकान्त दृष्टि होती है वहाँ वेष-भूषा अथवा बाह्य-जीवन को नही देखा जाता, अपितु अन्तरात्मा को परखा जाता है। व्यक्ति कितना कर रहा है, यह नही देखा जाता, वरन् कैसा और किन भावनाओ से कर रहा है, यह देखा जाता है। भगवान् महावीर से किसी ने प्रश्न किया—"साधु-जीवन श्रेष्ठ है या गृहस्थ जीवन ?" भगवान् ने उत्तर दिया—"जीवन के क्षेत्र मे श्रेष्ठता और निम्नता का नाप-तोल आत्म-परिणति पर निर्भर है। अगर साधु अपने कर्त्तव्य का भली-भाँति पालन नही करता और गृहस्थ अपने कर्त्तव्य-पथ पर पूर्ण सच्चाई और ईमानदारी से चल रहा है तो उसका जीवन साधु जीवन से श्रेष्ठ है।"

अनेकान्त दृष्टि मे सकीर्णता और अपने ही दृष्टिकोण को सही मनवाने की प्रवृत्ति नही होती, इसीलिये जहाँ अनेकान्त की ज्योति जलती है, वहाँ घृणा, द्वेष, तिरस्कार और अवहेलना की क्रूर-धारा नही बहती। वह बुराई मे भी अच्छाई ढूँढने का प्रयत्न करता है।

आज के युग मे जो सघर्ष चल रहा है उसका मूल कारण अनेकान्त दृष्टि का न होना ही है। प्रत्येक व्यक्ति अपने दृष्टिकोण को सही समझता है और दूसरे के दृष्टिकोण को गलत। दूसरे की उपेक्षा करके वह अपनी बात को ही सत्य साबित करने का प्रयत्न करता है। परिणाम-स्वरूप सघर्ष खडे हो जाते है। किन्तु अनेकान्त दृष्टि हमे ऐसी पवित्र दृष्टि प्रदान करती है, हमे बताती है कि सामने वाले के विचारो को समझे बिना और उस पर विचार किये बिना उसके लिये किसी भी तरह का निर्णय देना गलत है। एक दृष्टि मे जो विचार असत्य प्रतीत होता है, वही विचार दूसरी दृष्टि मे सत्य भी हो सकता है। एक ही दृष्टिकोण से पदार्थ का अवलोकन करने की पद्धति अपूर्ण मानी जाती है। सत्य असीम एवं अनन्त है और उसे समझने के लिये हमारा दृष्टिकोण विशाल तथा उदार होना चाहिये। तभी हम पूर्ण सत्य को हृदयगम कर सकेंगे और सही माने मे धर्म को अपना सकेंगे।

धर्म सरल और निष्कपट होता है। मायावी पुरुषो की धर्म मे गति नही होती। आज हम देखते हैं कि कितने ही व्यक्ति थोडा सा ज्ञान हासिल करके महाज्ञानी बन जाने का दम भरते है। लोक दिखावे के लिये थोडा बहुत जप-तप करके सरल और भोले व्यक्तियो को दबाते है। ऐसे बगुला-भगत न अपना कल्याण कर पाते हैं और न दूसरो का ही, धर्म के नाम पर अधर्म का विप-

पान करते हुए इस लोक और परलोक दोनों ही बिगाड़ लेते हैं। ऐसे लोगों के लिये गुजराती कवि दलपतराय ने कहा है —

पाणी नी तरस लागी–विषतणो कीधो पान,
एह्वो पाणी पीवायी, न पीधो तेज मारूं छे।
दाखे दलपतराय ठगवा प्रभु नो नाम,
एह्वो नाम लीधा थी, न लीधो तेज मारूं छे।

कहने का तात्पर्य यही है कि धर्म के नाम पर थोथे और बाह्य क्रियाकाण्डों का उपदेश देना, आन्तरिक पवित्रता के बिना पूजा-पाठ और जप-तप में लोगों को उलझाए रखना धर्म नहीं है। और जो ऐसा करता है वह धर्म का पालन नहीं करता वरन् अधर्म का पोषण करता है। धर्म निर्देशन करता है कि जीवन के अभ्युदय का सही मार्ग कौनसा है। किसी भी कर्म को विवेक और सदाचार से संयुक्त करना ही धर्म है।

धर्म और प्रगति—आधुनिकता के आवेश में आकर मनुष्य धर्म के नाम से चौंकते हैं और धर्म-शास्त्र को प्राचीन कहकर उसकी अवहेलना कर देते हैं। यह बुद्धिमानी नहीं है। जिस प्रकार जीवन कभी प्राचीन नहीं होता उसी प्रकार सच्चा धर्म कभी पुराना नहीं होता। वह सदा सामयिक होता है। उसका तात्विक ज्ञान कभी भ्रमित नहीं हो सकता। बहुत से व्यक्ति धर्म को प्रगति में बाधक मानते हैं। उनका कथन है कि उससे अन्ध-अनुसरण की प्रवृत्ति का पोषण होता है। यह समझना उनकी भारी भूल है।

पुरातन आत्मा से नवजीवन का निर्माण होता है। पुराने बीजों से ही नई फसल तैयार होती है। प्राचीन होने से ही वस्तु की उपयोगिता नष्ट नहीं हो जाती। धर्म-शास्त्रों से जीवन सम्बन्धी तत्वों को समझकर समयानुसार उनका सदुपयोग और विकास करना चाहिये। महापुरुष ऐसा ही करते रहे हैं। अहिंसा, सत्य आदि अनुपम सिद्धान्तों का लेकर ही गांधी जी ने नवभारत का निर्माण किया। तात्त्विक ज्ञान को व्यावहारिक रूप देकर उसे विकसित करना धार्मिक शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिये।

धर्म के साथ जो रूढ़ियाँ और अन्ध-परम्पराएँ चल पड़ी हैं, वे ही मनुष्य की उन्नति को रोकने वाली बेड़ियाँ हैं। इनसे मुक्त होकर अपनी बुद्धि और विवेक से धर्म की मूल भावनाओं को समझकर उसे ग्रहण करें तो मनुष्य निश्चय ही भविष्य को समुज्ज्वल बना सकेगा, और सच्चे धर्म-पथ पर आगे बढ़ सकेगा। सच्चा धर्म किसी भी धर्म के मार्ग में रोड़े नहीं अटकाता। अनेकान्त दृष्टि से मनुष्य पर किसी धर्म से घृणा करना नहीं सिखाता क्योंकि सभी धर्मों के मूल सिद्धान्त सभी धर्मशास्त्रों में एक सरीखे हैं और वे मानवमात्र के हित

आचरण मे ने योग्य हैं। जो धर्म अन्य धर्मो को बाधा पहुँचाता है वह धर्म नही अधर्म है। किसी ने कहा भी है :—

धर्मो यो बाधते धर्मं न धर्मः कुधर्म तत्।
धर्माविरोधी यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रमः ॥

अर्थात्—जो धर्म दूसरे धर्म को बाधा पहुँचाता है वह धर्म नही कुधर्म है। जो धर्म का अविरोधी है वही धर्म सत्य पराक्रमशील है।

धर्मान्धता—बधुओ! अब हमे यह देखना है कि धर्मान्धता क्या है? और वह किस प्रकार धर्म के नाम पर लोगो को अधर्म की राह पर ले जाती है। धर्मान्धता का विष किस प्रकार धर्म के नाम पर मनुष्यो के हृदय मे उँडेला जाता है और उन्हे गुमराह किया जाता है। अगर हम इतिहास उठाकर देखे तो जान सकते हैं कि धर्म के नाम पर कितने अन्याय और अत्याचार होते आए है और किस प्रकार मनुष्य एक दूसरे का गला काटते रहे हैं। आज भी धर्मान्धता का प्रसार कम नही है। इसी के कारण मनुष्य धर्म के नाम से चौकते हैं और उसका उपहास तथा उपेक्षा करके जीवन को लक्ष्यहीन बना डालते है। परिणाम यह होता है कि उनका धर्म रहित जीवन पतवार विहीन नौका के समान इतस्तत डोलता हुआ एक दिन जन्म-मरण के भयंकर भँवर में विलीन हो जाता है और यह मानव-भव निरर्थक चला जाता है।

ऐसे व्यक्तियो की आज भी कमी नही है जो धर्म के नाम पर अधर्म का पोषण करते हैं। पूजा-पाठ, वेष-भूषा और तिलक-छापे को ही धर्म का अकाट्य चिह्न मानते हैं। प्राचीन काल मे शैव और वैष्णव भक्त सिर्फ तिलक को लेकर ही परस्पर घोर सघर्ष करते रहे हैं। तिलक को इतना महत्त्व दिया गया था कि उसके बिना मुक्ति असभव मानी जाती थी। वैष्णव परम्परा मे तो एक कथानक भी आता है—

एक अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति किसी वन मे एक पेड के नीचे सो गया। दुर्भाग्यवश उसी समय उसकी मृत्यु हो गई। उस वृक्ष की एक डाली पर एक चिड़िया बैठी थी उसने बीट की और वह उस व्यक्ति के मस्तष्क पर तिलक के समान आ गिरी। ठीक उसी समय यम के दूत और विष्णु के दूत मृत व्यक्ति की आत्मा को ले जाने के लिये आ पहुंचे। यमदूतो का कथन था कि यह व्यक्ति दुराचारी था अत इसे नरक मे ले जाएँगे और इसके विपरीत विष्णु-दूत कह रहे थे—"चाहे कितना भी दुराचारी यह क्यो न रहा हो, पर इसके माथे पर तिलक लगा है अत यह स्वर्ग का अधिकारी है। दोनो स्थानो के दूतो मे बड़ा सघर्ष हुआ पर आखिर विष्णु के दूत उसे स्वर्ग मे ले ही गए।"

अंध-विश्वास की पराकाष्ठा है। जीवन भर किये गये दुराचार का कोई फल उस व्यक्ति को नहीं भुगतना पड़ा। सिर्फ मस्तक पर का तिलक ही उसके स्वर्ग में पहुँच जाने का कारण बन गया और तिलक भी कैसा? चिड़िया की बीट का बना हुआ।

धर्म की पवित्रता और महानता का इससे बढ़कर और क्या उपहास हो सकता है? इस प्रकार की एक ही नहीं सैकड़ों अंध-मान्यताओं से आज भी धार्मिक मानस ग्रस्त हो रहा है। ऐसे व्यक्तियों के लिये ही कहा जाता है :—

साधुता, सद्धर्म चर्चा, ब्रह्मनिष्ठा कुछ नहीं,
तिलक-छापे लगाकर ही मूढ़ स्वामी बन गए।

प्रत्येक धर्म क्रिया में तथा भगवान् का स्मरण करने में सर्वप्रथम सच्चाई और सरलता आवश्यक है। धर्म के प्रति कट्टरता मनुष्य को धर्मान्ध बनाती है। धर्मान्ध व्यक्ति कैसी भी धर्म क्रिया क्यों न करे वह धर्म की श्रेणी में नहीं आती। स्वार्थ के कारण दिखावे के लिए किया जाने वाला पूजा-पाठ जप-तप तथा और भी अनेक प्रकार का ढोंग मनुष्य को मुक्ति की ओर नहीं ले जाता। और वह इस संसार में अगुवा भगत बनकर रह जाता है। ऐसे धर्म व्यक्ति बाह्य व्यवहार में तो अत्यन्त नम्रता तथा पवित्रता का दिखावा करते हैं किन्तु उनके अन्तस्तल धर्म के नाम पर खोखले रहते हैं। आज के युग में श्वेताम्बर, पीताम्बर, रक्ताम्बर, कृष्णाम्बर दिगम्बर तथा और भी तरह-तरह के भेषधारी साधु नजर आते हैं। किन्तु परमात्म-पद पर चलने वाले तथा धर्म के वास्तविक रूप को समझने वाले सत्पुरुष विरले ही होते हैं। मान-पूजा और यश प्राप्ति की आकांक्षा व दिखावा करने वाले व्यक्ति परमात्मपद को प्राप्त नहीं कर सकते। सुंदरदासजी ने अत्यन्त मनोरंजक ढंग से बताया है कि महात्मा होने का दिखावा करने वाले व्यक्ति इस ओर से कितनी भी प्रशंसा क्यों न प्राप्त कर लें। अपनी ऊँची तपस्या और त्याग से कितनी भी धूम क्यों न मचा दें किन्तु परमात्मा के दरबार में पाखण्डियों का गुजर नहीं है। वहाँ दूध का दूध और पानी का पानी कर दिया जाएगा। वे कहते हैं —

जो पै मन तजो नाहीं, तो क्यों वा भवन त्यागो,
काहे को मुंडाई जो मुंडाई फेर मारी है।
काहे को विरागमन जारे का विरामसन,
एता वीर जो दे पर वीर न विचारी है।
कैसो कर योगी उन जान्यो न वियोगी मन,
आसन ही मारी उन्हों आग नहीं मारी है।

उकति उपाय एती उमर गँवाई कछु,
कीनो न कमाई भयो नाम न भलाई को।
यहाँ तो सदाई धाम-धूम ही मचाई पर,
वहाँ तो नहीं है भाई ! राजा पोपाबाई को।

कवि का कथन सत्य है। ज्ञानियों की दृष्टि मे जाति, धर्म, वर्ण, ऊँच-नीच और गरीब-अमीर मे कोई भेद नही है। इनके लिये प्राणी मात्र समान है। सबको अपने किये कर्मों के अनुसार फल प्राप्त होता है। मनुष्य के लिये सिर्फ अपने ही पथ को ईश्वर प्राप्ति का मार्ग समझना भूल और धर्मान्धता है।

कहते है, पेरिस मे इब्राहीम नामक एक व्यक्ति अपने परिवार के साथ एक झोपड़े मे रहता था। अपने धर्म पर उसे प्रगाढ श्रद्धा थी, साथ ही उसका हृदय भी उदार था। सडक पर ही झोपडी होने के कारण आने जाने वाले यात्री अक्सर उसके यहाँ ठहरा करते थे। इब्राहीम उनका यथाशक्ति आतिथ्य करता। कोई भी अतिथि जब उसके और उसके परिवार के साथ खाने बैठता, तब इब्राहीम खाने से पहले एक प्रार्थना बोलता और ईश्वर का आभार मानता। उसके मेहमान भी प्रार्थना मे शामिल होते।

बहुत दिनो तक यह क्रम चलता रहा। लेकिन सब दिन समान नही होते। कुछ वर्षों के बाद इब्राहीम बहुत गरीब हो गया, फिर भी इब्राहीम ने यात्रियो का स्वागत करना बन्द नही किया। वह अपने परिवार सहित एक वक्त खाता तथा दूसरे वक्त का भोजन मेहमानो के लिये रख दिया जाता। इब्राहीम को इससे बडा आनन्द होता। मगर धीरे-धीरे उसे अभिमान होने लगा कि वह बडा पुण्यात्मा है और उसका धर्म सबसे बडा है।

एक दिन एक अत्यन्त वृद्ध व्यक्ति इब्राहीम के यहाँ आया। जर्जर तन वाले उस थके-माँदे व्यक्ति ने इब्राहीम का द्वार खटखटाया। इब्राहीम ने अन्दर बुलाकर उसका स्वागत किया। बूढे ने कहा—बेटा ! मैं बडी दूर से आया हूँ, भूखा हूँ।

इब्राहीम उठा और तुरन्त खाना ले आया। परिवार के सभी व्यक्ति खाने बैठ रहे थे। इब्राहीम ने खाना प्रारम्भ करने से पहले अपनी प्रार्थना पढी। सभी ने उसमे भाग लिया। पर इब्राहीम ने देखा कि वह वृद्ध व्यक्ति प्रार्थना मे शामिल नही हुआ। अत उसने उससे पूछ लिया—"क्या तुम हमारे ईश्वर मे विश्वास नही करते ?"

बूढे ने उत्तर दिया—"हम अग्नि की पूजा करते हैं।" सुनकर इब्राहीम आग बबूला हो गया। उसने चिल्लाकर कहा—"अगर तुम्हे मेरी प्रार्थना बोलने से इनकार है तो तुम इसी वक्त मेरे घर से निकल जाओ।"

इब्राहीम ने बूढ़े को बिना विचारे घर से निकाल दिया और दरवाजा बन्द कर लिया। लेकिन ज्यों ही उसने ऐसा किया कि कमरे में प्रकाश की एक ज्योति फैली और एक फरिश्ता प्रकट हुआ। वह इब्राहीम से बोला—

"यह तुमने क्या किया ? ईश्वर उस गरीब बूढ़े का सौ वर्ष से पोषण कर रहा है मगर तुम धर्मात्मा बनकर भी उसे अन्य धर्मावलम्बी होने के कारण खाना नहीं खिला सके। दुनिया में कितने भी धर्म हों, लेकिन ईश्वर एक ही है और वह सबका पिता है।"

यह कहकर फरिश्ता गायब हो गया। इब्राहीम को अपनी धर्मान्धता का भान हुआ। वह बूढ़े के पीछे भागा और उससे क्षमा माँगी।

सच्चे धर्म की लौ जब जल उठती है तो भेद-भाव का अन्धकार पलायन हो जाता है। व्यक्ति, परिवार, समाज और देश में भेद नहीं करता। धर्मों और पन्थों में भिन्नता नहीं समझता। उसकी दृष्टि अन्तर के अखण्ड सत्य पर टिकी रहती है, वह चाहे उसे कहीं से भी मिले। किन्तु इसके विपरीत भेद-दृष्टि मानवता की ज्योति को बुझा देती है। जिसकी दृष्टि ऐसी होती है समझना चाहिये कि उसके हृदय में धर्म नहीं वरन् धर्माभास है। उपाध्याय श्री अमरचन्द जी म० ने अपने संस्मरण में एक घटना का उल्लेख किया है—

राजगृह के एक दिगम्बर मन्दिर में अलग-अलग वेदियों पर तेरापंथी और बीसपंथी मूर्तियाँ स्थापित हैं। इनकी पूजाविधियों में कुछ अन्तर है। बीसपंथी भगवान् के सामने फूल चढ़ाते हैं तेरापंथी नहीं।

एक बार एक बीसपंथी श्रावक मन्दिर में आया, उसने बीसपंथी मूर्ति की पूजा की, फूल चढ़ाए और भूल से तेरापंथी मूर्ति के सामने भी फूल चढ़ाकर चला गया। उसी दिन मन्दिर में एक तेरापंथी (दिगम्बर) मुनि दर्शन करने आए। तेरापंथी मूर्ति पर भी फूल चढ़े हुए देखकर उन्हें बड़ा क्रोध हो आया। उसी समय मैनेजर को बुलाकर कहने लगे —

"हमारे भगवान् कहाँ हैं ? अब हम किसके दर्शन करें ? बस अपवित्र हो गए यहाँ। तेरापंथी भगवान् को भी बीसपंथी बना दिया।"

मैनेजर बिचारा क्या करता ? उसने कहा—"क्षमा करें महाराज ! बीसपंथी ने भूल वश से उल्टा देख है। अब आप दर्शन कीजिये।"

इस प्रकार की भावनाओं ने धर्म का सुन्दर स्वरूप और कितना विकृत और दूषित बना डाला है ? जो धर्म प्रेम का सम्बन्ध जोड़ता है, वही दुर्भेद्य दीवार खड़ी कर मानव की स्नेह-धारा रोक देता है। धर्म का विराट रूप आज अत्यन्त संकुचित बना दिया गया है। उसकी विशालता सीमित हो रही है।

और अखडता खंडित हो गई है। जीवन कहीं और है और धर्म कहीं और है। ऐसी स्थिति मे की जाने वाली शुभ क्रियाएँ भी शुभ फल का कारण नहीं बनती। व्यक्ति आत्म-कल्याण करने का प्रयत्न करता हुआ भी आत्मा का पतन कर लेता है और मुक्ति के बदले अनन्त-पाश मे आत्मा को जकड लेता है। अन्ध-विश्वासी का आचार निरतर मूर्खतापूर्ण एव आत्म-घातक होता है। कवि बनारसीदास आत्मा को सम्यक-बोध कराने के लिये बड़ी स्पष्टता से कहते हैं :—

"चेतन, तोहि न नेक संभार।
ज्यो गजराज पखार आप तन, आपहिं डारत छार।
आपहि उगल पाटको कीरा, तनहि लपेटत तार।
नख सिख लो दिढबन्धन बेढ़े, कौन करै निरवार।
चेतन, तोहि न नेक संभार।

आत्मन्! तुम्हे तनिक भी विवेक नहीं है। जिस प्रकार हाथी स्नान करके अपने शरीर पर धूल डाल लेता है। और जिस प्रकार रेशम का कीडा तन्तुओं को उगलकर उन्ही से अपने को बांध लेता है। उसी प्रकार नख से लेकर शिखा तक किस प्रकार तुमने अपने को कर्म-बन्धन से वेष्ठित कर लिया है, इसकी तुम्हे जानकारी नही है। इस अविवेकपूर्ण अवस्था मे पडे हुए तुम्हारा उद्धार कैसा होगा?

बन्धुओ! सरल और सीधे शब्दा मे कहे गए कवि के इन शब्दो मे मनुष्य मात्र के लिये अनुपम शिक्षा है। व्यक्ति कितना भी ज्ञान क्यो न प्राप्त करले किन्तु उसके आचार-विचार मे और मनोभावनाओ मे अगर निष्पक्षता और उच्चता नही है तो वह निरर्थक है। कोरे ज्ञान से धर्मान्धिता का नाश नही होता, वरन् उसकी पुष्टि होती है। धर्म के नाम पर कोरे पण्डित क्रिया-काण्डो का मिथ्या उपदेश देकर दूसरों का धर्म भ्रष्ट कर देते हैं। नाना वेष धारी साधु भी ऐसे लोगो के चक्कर मे आ जाते हैं। और धर्म के नाम को कलंकित करते हुए पतन की ओर उन्मुख हो जाते हैं। मनुष्य को चाहिये कि वह सच्चे धर्म का स्वरूप समझे और दिखावा करने वाले धर्मात्माओ से बचे। क्योकि :—

अनार्यस्त्वार्य संस्थानः शौचाद्धीनस्तथा शुचि:।
लक्षण्यवदलक्षण्यो दु:शीलः शीलवानिव॥
—वाल्मीकि

पाखण्डी मनुष्य अनार्य होकर भी आर्य के समान हो सकता है, शौचाचार से हीन होकर भी अपने को परम शुद्ध रूप मे प्रकट कर सकता है, उत्तम

कि वे धर्म के नाम पर क्या-क्या करते है। कभी वे मन्दिरो को लेकर झगडते है, कभी मूर्तियो को। कभी मुखवस्त्रिका को लेकर और कभी क्रिया-काडो को।

जिस समय हिन्दुस्तान का अन्तिम राजपूत राजा पृथ्वीराज चौहान हारा और मुस्लिम सुल्तान शाहबुद्दीन गोरी ने इस्लामी राज्य की स्थापना की उस समय देश मे भयानक खून-खच्चर हुआ। राज्यसत्ता हाथ मे आते ही मुगल-सत्ताधारियों पर धर्मान्धता का जनून बुरी तरह हावी हो गया। और उन्होंने देश के समस्त निवासियो को मुसलमान बनाने मे ही अपने धर्म के प्रति अपनी वफादारी समझी। परिणाम स्वरूप लाखो व्यक्तियों को जबर्दस्ती मुसलमान बनाया गया। उन दुख के मारे व्यक्तियों ने हिन्दुओ के पास आकर गिड़-गिडाते हुए बार-बार कहा—"हमे जबर्दस्ती मुसलमान बनाया गया है, कृपा करके हमे पुन. हिन्दू बनाओ।" फिर से हिन्दू बनने के लिये प्रजा छटपटा रही थी और प्रार्थना कर रही थी लेकिन उस समय हिन्दू जाति मे ऊँचे और होशियार माने जाने वाले ब्राह्मणो ने घोर घृणा करते हुए उनकी प्रार्थनाओं को ठुकरा दिया। और धर्मान्धता के जहर से बुझी हुई छुरी के सदृश अपनी जिह्वा द्वारा निर्णय दिया—

"तुम लोग अब हिन्दू नही हो सकते। तुमने मुसलमानो का पानी पीकर अपने को भ्रष्ट कर दिया है, अत. इस जन्म मे अब किसी भी प्रकार तुम्हारा हिन्दू बनना सभव नही है।"

कैसी भावनाएँ थी हिन्दुओं की ? उनके धर्मोन्माद ने उन्हे यह भी नही समझने दिया कि धर्म कभी भी भ्रष्ट नही होता। और जो धर्म ऐसा निर्बल होता वह सच्चा धर्म नही माना जा सकता। सच्चे धर्म मे तो पतित से पतित को भी पावन करने की शक्ति होती है। यही बात राम, कृष्ण, बुद्ध तथा अन्य पैगम्बरों ने समझाई है। धर्म के नाम पर नोआखाली मे हुई हृदय विदारक घटनाओ के समय गाँधीजी ने भी सच्चे धर्म का स्वरूप लोगो को समझाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने जबर्दस्ती बनाए हुए अनेक मुसलमानो को पुन हिन्दू बनाया। अस्पृश्यता तथा जाति भेद के कारण व्यक्तियों को ऊँचा या नीचा न माने जाने के लिये हमारी वर्तमान सरकार ने कानून भी बनाए है, किन्तु मनुष्यो के दिलो मे धर्मान्धता का जहर ऐसा रम गया है कि वह निकाले नही निकलता।

यद्यपि हम आज भी 'पतित पावन सीताराम' का अखड जप करते हुए अनेक मडलियो को देखते है, किन्तु ये शब्द सिर्फ उनकी जबान से निकले हुए ही होते है, हृदय से नही। जिन्हे वे पतित-पावन कहते है उन्ही सीता-राम

या मूर्तियों का अगर कोई निम्न जाति का व्यक्ति स्पर्श कर ले, कोई पतित आकर राम की मूर्ति के चरण छू ले तो वे हाय-तोबा करने लग जाते हैं। इससे भगवान् को अपवित्र मानने लगते हैं। कैसी बेहूदी कल्पनाएँ हैं? अगर ऐसा ही हो जाता हो तो फिर वे भगवान् पतित-पावन कैसे हुए? राम का नाम तो एक बार लेकर ही अनेक पतित और पापी तर गए हैं।

एक राजा से ब्रह्म-हत्या हो गई। इस घोर पाप के प्रायश्चित्त के लिये वह एक ऋषि के आश्रम में गया। ऋषि कहीं बाहर गए हुए थे लेकिन उनका पुत्र वहीं था। राजा की बात सुनकर ऋषि-पुत्र ने कहा—'राम का नाम तीन बार लो, तुम्हारे पाप का प्रक्षालन हो जाएगा।' राजा चला गया।

जब ऋषि लौटकर आश्रम में आए तो पुत्र के मुँह से प्रायश्चित्त के विधान के विषय में सुना। सुनते ही रुष्ट होकर बोले—'भगवान् का नाम केवल एक बार लेने से ही अनन्त जन्मों के पाप कट जाते हैं। तेरा विश्वास कितना कच्चा है? तूने तीन बार नाम लेने के लिये कहा।'

जिनके हृदय में धर्म का सच्चा रूप होता है, वे उदार-हृदय वाले व्यक्ति ऐसा ही मानते हैं। किन्तु इसके विपरीत धर्म का दिखावा करने वाले व्यक्ति धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता की मजबूत दीवारें खड़ी कर देते हैं और परिणामस्वरूप अपना ही अपकार करते हैं। धर्मान्धता या [illegible] उन्माद कैसा भयंकर परिणाम लाता है, यह एक उदाहरण से समझा जा सकता है—

प्रार्थना की और वहाँ से चला आया। घर आकर उसने विचार किया कि बादशाह की पुत्री रूप-गुण सम्पन्न है साथ ही हिन्दू-धर्म भी ग्रहण करना चाहती है। इस स्थिति मे उस कन्या से विवाह करने में क्या हर्ज है? सोच-विचार करके वह शास्त्र पारगत विद्वान् ब्राह्मणो के पास गया और अपनी इच्छा उन्हे बताई।

पर अपने को हिन्दू जाति का सिर-मौर मानने वाले ब्राह्मण देवता यह बात सुनते ही आग बबूला हो उठे। उसी समय सबने एक मत होकर निर्णय दे दिया—

"यह अशक्य है। मुसलमान कभी हिन्दू बन ही नही सकता।"

कालिचन्द्र वहाँ से निराश लौटा। पर साथ ही उसकी हिन्दू-धर्म पर से श्रद्धा हट गई। वह सोचने लगा—"अगर हिन्दू-धर्म ऊँचा और विशाल है तो उसमे किसी को अपनाने की शक्ति क्यो नही है? छोटी-छोटी नदियाँ ही तो बडी नदी मे और फिर समुद्र मे जाकर मिलती है। उसी प्रकार अगर हिन्दू-धर्म महान् है तो अन्य धर्म के किसी व्यक्ति को अपने मे क्यो नही मिला सकता? इससे लगता है कि हिन्दू-धर्म अत्यत सकीर्ण और तुच्छ है। जो धर्म औरो को पावन नही कर सकता, किसी को अपना नही सकता उसका तो मिट जाना ही श्रेयस्कर है।"

अगले दिन कालिचन्द्र बादशाह के समक्ष उपस्थित हुआ और नम्रतापूर्वक बोला—"जहाँपनाह! मैं शाहजादी के साथ विवाह करने के लिये तैयार हूँ, और साथ ही मुस्लिम धर्म भी अंगीकार करना चाहता हूँ।"

अधा क्या चाहे? दो आँखे। बादशाह अत्यन्त विस्मित और प्रसन्न हुए। धूम-धाम से विवाह हो गया। कालिचन्द्र मुसलमान बन गया। उच्च-पद तथा सत्ता प्राप्त हो जाने के कारण कालिचन्द्र के मन मे हिन्दू-धर्म के प्रति रही हुई अनास्था ने वैर का रूप धारण कर लिया और उसने बादशाह की सहमति लेकर विशाल सेना के साथ जगन्नाथ पुरी, आसाम और दूसरे अनेक प्रदेशो पर आक्रमण किया।

आक्रमण के दौरान उसने लाखो हिन्दुओ को बलपूर्वक मुसलमान बनाया। आसाम के उन प्रदेशो मे, जहाँ मुसलमानो का नाम निशान भी नहीं था, असख्य मुसलमान दिखाई देने लगे। हिन्दू समाज पुन उन्हे अपनाता नहीं था अत उस सख्या के कम होने की संभावना भी नही थी। इतिहास बताता है जिस समय भारत मे मुसलमानो का आगमन हुआ, उनकी सख्या अधिक से अधिक पचास हजार थी, किन्तु हिन्दुओ को मुसलमान बनाते-बनाते वही सख्या करोडो तक पहुँच गई।

कट्टरपन्थी मुसलमान बनाए गए हिन्दू पुनः अपने धर्म में आने के लिये रोते थे गिड़गिड़ाते थे और फिर पुकारते थे, किन्तु हिन्दू लोग उन्हें भी नहीं लेते थे। मर्यादा मानने वाले ब्राह्मण पसीजे नहीं। उनका धर्म नष्ट हो जाता और अपवित्र हो जाता अगर वे इन धर्मान्धता के शिकार व्यक्तियों को अपना लेते। परिणाम यह हुआ कि ज्यों-ज्यों मुसलमानों की संख्या बढ़ी, उनका साहस बढ़ता गया और अन्त में जगह-जगह कत्लेआम करके खून की नदियाँ बहाकर उन्होंने पाकिस्तान के रूप में हिन्दुस्तान का एक बड़ा भाग ले लिया।

यह सब परिणाम हिन्दू और मुसलमान दोनों ही जाति के व्यक्तियों के धर्मान्धता के कारण सामने आया। किन्तु मुसलमानों ने जहाँ अन्य किसी भी धर्म के व्यक्तियों को अपने में मिलाकर अपने धर्म को और अपनी जाति को शक्तिशाली बना लिया था, हिन्दू अपवित्र हो जाने के भय से हिन्दुओं को भी नहीं अपना सके। हिन्दू धर्म की रक्षा नहीं कर सके। और इतिहास बताता है कि बंगाल और पंजाब आदि स्थानों में लाखों व्यक्तियों की बलि चढ़ानी पड़ी। [illegible] यह बात [illegible] कह दिया है —

अर्थात्—अपनी आत्मा को पहचानो, उसको अच्छी तरह समझो।

धर्मान्धता के कारण मनुष्य की आत्मा पतित और सकुचित हो जाती है। अत उसका त्याग कर उसके स्थान मे समदृष्टि, उदारता, विशालता और विवेक को हृदय मे स्थित करना आवश्यक है। विवेकपूर्वक किया गया मनुष्य का प्रत्येक कार्य धर्ममय होगा।

मनुष्य के जीवन मे, चाहे वह साधु हो या गृहस्थ, विवेक जागना चाहिये। भगवान् महावीर से किसी ने पूछा—धर्म किसमे है ? उन्होंने दो शब्दो मे ही बताया—"**विवेगे धम्मो**" विवेक मे धर्म है। वह किसी मदिर, मसजिद गुरुद्वारे या गंगा, यमुना मे नही रहता। सिर्फ विवेकपूर्ण आत्मा मे ही रहता है। उसे जीवन की हर सास मे चलता रहना चाहिये हर समय और हर क्षेत्र मे उसकी प्रतिध्वनि गूँजनी चाहिये। वह स्थान और समय मे बँधकर नही रह सकता। हमारे आचार्यो ने धर्म का लक्षण ही बताया है—"**दिक् कालाद्यनवच्छिन्नः।**" देश, काल, स्थान आदि की सीमाओ से जो मुक्त है, वही धर्म है।

धर्म के सबंध मे भिन्न-भिन्न विचार पाए जाते है। कोई पूजा-अर्चना मे, कोई तिलक लगाने मे या त्रिशूल धारण करने आदि धर्म मानते है। कुछ मानते है अहिंसा मे धर्म है, कुछ सत्य मे, और कुछ करुणा या सेवा मे धर्म मानते है। उन्हे भगवान् महावीर का यह कथन स्मरण रखना चाहिये कि यदि अहिंसा मे विवेक है तो वह धर्म है, यदि सत्य मे विवेक है तो धर्म है, इसी प्रकार पूजा, पाठ, वन्दना और सेवा आदि मे विवेक है तो वह भी धर्म है। किन्तु विवेक अगर लुप्त हो गया तो इनमे से कोई भी धर्म नही है। तात्पर्य यही कि हमारी प्रत्येक क्रिया धर्म कहला सकती है यदि उसके साथ विवेक जागृत रहता है। विवेकपूर्ण की गई क्रिया आत्मा के लिये अमृत का काम करती है और अविवेक सहित की जाने वाली विष का। एक धर्म है और दूसरी धर्मान्धता, हमे अमृतमय धर्म को ग्रहण करना है और धर्मान्धता रूपी विष से बचना है।



करते हैं। किसी कवि ने पिंजरे मे बद बुलबुल के भावो को कागज पर अकित किया है। बुलबुल का अपने पूर्व जीवन का स्मरण करते हुए दुखपूर्ण कथन है :—

आता है याद मुझको, गुजरा हुआ जमाना,
वह झाडियां चमन की, वह मेरा आशियाना।
वह साथ सबके उडना, वह सैर आसमां की,
वह बाग की बहारें, वह सबका मिलके गाना।
आजादियाँ कहाँ अब, वह अपने घोसले की,
अपनी खुशी से आना, अपनी खुशी से जाना।
तडपा रही है मुझको, रह-रह के याद घर की,
तकदीर मे लिखा था, पिंजडे का आबोदाना।

कितने मर्मस्पर्शी भाव है? छोटा सा अबोध पक्षी भी जब परतन्त्रता का अनुभव कर इतना दुखी होता है तो फिर अन्य बुद्धिमान प्राणी किस प्रकार परतन्त्रता को सहन कर सकते हैं? मानव ससार के समस्त पशु-पक्षियो और नाना प्रकार के अन्य प्राणियो से श्रेष्ठ प्राणी है। उसमे अन्य प्राणियो की अपेक्षा अनेक गुनी बुद्धि है, बल है, विवक है और अन्य प्रकार की कई क्षमताएँ हैं। इससे स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि जब ससार के निर्बुद्धि प्राणी भी बधन मे रहना पसद नहीं करते तो फिर असीम बुद्धि का अधिकारी मानव किसी भी प्रकार का बधन या दासता कैसे पसद कर सकता है? नीतिनिपुण शुक्राचार्य का कथन है :—

पारतन्त्र्यात्परं दु:खं न स्वातत्र्यात्परं सुखम्।

अर्थात्—पराधीनता से बडा कोई दुख नही है और स्वाधीनता से बडा कोई सुख नही है।

तुलसीदासजी ने भी यही कहा है—"पराधीन सपनेहुँ सुख नाही।" यह कथन पूर्णतया सत्य है। परतन्त्र व्यक्ति स्वप्न मे भी कभी सुख का अनुभव नही कर सकता। इतना ही नहीं, पराधीन प्राणी का तो जीवित रहना न रहना भी बराबर ही होता है। जहाँ बंधन होता है वहाँ सुख, शाति या प्रसन्नता का निवास नही हो सकता। किन्तु अत्यन्त गम्भीर और विचारणीय प्रश्न यह है कि वास्तव मे बंधन है क्या?

बंधन कौन सा है?—हम प्राय. देखते हैं कि सासारिक पदार्थ वही होते हैं किन्तु दृष्टिभेद के कारण उनके प्रति प्राणियो की विचारधाराएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की बन जाती हैं। भोगी व्यक्ति जिन वस्तुओ का उपभोग करके स्वर्ग

परिजनो से घिरे रहकर मन सतुष्ट बना रहता है। ऐसे मन वाले किसी व्यक्ति का कथन है —

मेरे माता पिता मेरी पत्नी और पुत्र मेरो,
मेरो देह गेह मेरो स्वजन समाज है।
मेरो धन वैभव अखंड औ अटूट जानो,
हिरदे को तुष्ट करे ऐसो साज बाज है।
इनके सजोग ते यो जीवन सुखारी मेरो,
चाहूं नही सपनेहुँ स्वर्ग केरो राज है।

मानव के ऐसे उद्‌गारो को सुनकर लगता है कि आत्मा को बाँधने वाला मन और इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियो के द्वारा भोगविलाम के समस्त पदार्थों का उपभोग कर मन सन्तुष्ट होता है। हम देखते भी हैं कि सुन्दर रूप, सुन्दर वस्तु और नाटक सिनेमा आदि देखकर नेत्र तृप्ति का अनुभव करते हैं, अपने प्रिय व्यक्तियो के स्नेह-सने शब्दो को सुनकर अथवा मधुर सगीत के कानो मे प्रवेश करने पर व्यक्ति प्रसन्न होते हे। सुस्वादु मिष्टान्न अथवा अन्य खाद्य पदार्थों का आस्वादन कर जिह्वा सन्तुष्ट होती हुई दिखाई देती है। दुर्गन्ध का अनुभव होने पर व्यक्ति नाक मिकोडता है और इत्र, सेन्ट आदि सुगन्धित वस्तुओ का प्रयोग कर उसे नष्ट करता है। इसी प्रकार कोमल, शीतल और शरीर को सुखद महसूस होने वाली वस्तुओ का स्पर्श कर शान्ति और सुख का अनुभव करता है। इन्ही सब प्रमाणो के आधार पर यह जाना जाता है कि शरीर मे स्थित इन्द्रियाँ ही आत्मा को बाँधती हैं। किन्तु गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा को बाँधने वाली इन्द्रियाँ नही हैं अगर इन्द्रियो मे आत्मा को बाँधने की शक्ति होती अनन्त बलशाली आत्मा को ये बाँध सकती, तो आजकल कोई भी आत्मा मुक्त न हो पाती। संसार के जड-पदार्थों मे, इन्द्रियो मे या शरीर मे आत्मा को बाँधने की अथवा मुक्त करने की क्षमता कतई नही है।

आत्मा को विचार बाँधते हैं—अभी मैंने आपको बताया कि ससार के जड द्रव्य आत्मा को बाँधने मे समर्थ नही हैं। द्रव्य-बधन बंधन के सदृश दिखाई देने पर भी आत्मा के बंधक नही हैं। आत्मा के वास्तविक बधक है मनुष्य के मन के भाव। भावो मे ही आत्मा बँधती है और भावो से ही मुक्त होती है। भावो का यह करिश्मा समझने मे आपको तनिक कठिनाई होगी और अटपटा लगेगा किन्तु सत्य को समझना आवश्यक है। इसलिये पूर्ण मनोयोग पूर्वक आप सब इसे समझने का प्रयत्न करेंगे ऐसा मुझे विश्वास है।

बद्धो हि को? यो विषयानुरागी।
का वा विमुक्तिर्विषये विरक्तिः॥
—शङ्कराचार्य

वास्तव मे बधन मे कौन है? जो विषयो मे आसक्त है। और विमुक्ति क्या है? विषयो से वैराग्य होना।

भावनाओ से कर्म बंधन होते है, यहाँ तक कि शरीर से तनिक भी पाप क्रियाएँ न करने पर भी सिर्फ भावनाओ से उन्हे करने से ही कर्म बध हो जाता है। आगमो मे इस रहस्य को अनेक उदाहरणो से समझाया गया है। एक उदाहरण है तंदुल मत्स्य का। एक छोटा सा मत्स्य जिसका शरीर सिर्फ तदुल अर्थात् एक चावल के दाने के बराबर होता है। वह विशालकाय मत्स्य की भोंहो के बीच मे रहा करता है।

अनेक बार तदुल मत्स्य देखता है कि जिसकी भोहो मे वह रहता है, वह विशाल मत्स्य पानी मे मुँह फाड़े पडा रहता है और पानी के बहाव के साथ बहुत सा पानी उसके मुँह मे आकर बाहर निकलता है। अनेक छोटी-छोटी मछलियाँ उस जल के साथ ही मत्स्य के मुँह मे आकर फिर वापिस बाहर निकल जाती हैं। यह देखकर तदुल मत्स्य सोचता है, कितना मूर्ख है यह महामत्स्य? इतने जीवो को अपने मुँह मे पाकर भी पुन. निकल जाने देता है। अगर इसके स्थान पर मैं होता तो एक भी प्राणी को पुन. बाहर नही निकलने देता। सभी को उदरस्थ कर जाता।

यद्यपि तंदुल मत्स्य उन जीवो मे से एक को भी खा नही सकता, किन्तु उन्हे खाने की इच्छा मात्र करते रहने से ही मरकर सातवे नरक मे जाता है।

इसी प्रकार अन्य पापो के विषय मे भी समझना चाहिए, इन्द्रियो की, शरीर की, द्रव्य की अथवा अन्य किसी प्रकार की शक्ति क्षीण होने पर भी अगर मनुष्य अपनी भावनाओ के द्वारा उन पापो को करने की आकाक्षा करता है, तो उन्हे न कर पाने पर भी उतना ही पाप कर्मो का बंध हो जाता है जितना उसे अपने शरीर के द्वारा करने पर होता है। अग्रेजी मे एक कहावत है—

Fancy may kill or cure.

अर्थात्—भावना मार भी सकती है और जिला भी सकती है।

मनुष्य के विचारो मे अगर शुद्धता हो तो उसके द्वारा अनजान मे पाप कर्म हो जाने पर भी उनसे कर्मो का बधन नही होता। उदाहरण के लिये, कोई व्यक्ति अत्यन्त सावधानीपूर्वक मार्ग मे चलता है, देखता जाता है कि

मुक्त क्यो कर हुआ जाय ?—अभी हमने यह तो समझ ही लिया है कि आत्मा स्वयं ही बधन करती है और स्वयं ही उन्हे भोगती है। अपने कर्मों के कारण ही वह नाना योनियो मे भ्रमण करती और स्वय ही कर्मो से मुक्त होकर मोक्ष पद को प्राप्त करती है। मुक्ति के लिये उसे कही अन्यत्र भटकना नही पडता। अत. स्पष्ट है कि आत्मा की शक्ति ही बधनकर्त्ता और मोक्ष प्रदाता है। मुक्ति जीवन की परम गति है उसे प्राप्त करना ही आत्मा का लक्ष्य होना चाहिये।

मुक्ति शब्द का अर्थ है छूटना। यहाँ प्रश्न होता है कि छूटना किससे ? उत्तर स्पष्ट है कि दुख अर्थात् बंधन से छूटना ही मुक्ति है। जहाँ बंधन होता है वही मुक्ति होती है। अगर बंधन न हो तो मुक्त किससे हुआ जाएगा ? जीवात्मा अनन्त काल से अनन्त बधनो मे बँधी है, इसीलिये इसे मुक्ति की आवश्यकता हैं। अभी मैंने आपको बताया है कि सासारिक योग्य पदार्थों के प्रति मन की आसक्ति होने से कर्म-बंधन होते है। उन पदार्थों को मनुष्य भोग सके तो भी और न भोग सके तो भी मन की उनका भोगने की अदम्य लालसा ही बधन का कारण बनती है।

मनोनिग्रह—मुक्ति के अभिलाषी मानव को सर्वप्रथम अपने मन पर अकुश लगाना होगा। मन पर अकुश लगाने का तात्पर्य है मन के विकारो पर अकुश लगाना। अन्तर मे जो काम, क्रोध, मोह, लोभ, लालसा तथा आसक्ति आदि रोग हैं उनसे मन को हटाकर अनासक्ति और निर्वेद की ओर ले जाकर आत्मिक स्वास्थ्य लाभ करना होगा। क्योकि जब तक मन पर विजय प्राप्त नही की जाती, जब तक उसमे चलते रहने वाले राग-द्वेष आदि के तूफानो को शान्त नही किया जाता और तब तक मनुष्य के लिये मुक्ति गूलर के फूल के समान अप्राप्य बनी रहती है। एक पाश्चात्य दार्शनिक ने भी कहा है :—

"मन ही अपने लिए जीवन का रास्ता बनाता है और मृत्यु का रास्ता भी मन मे ही तैयार होता है।"

—स्वेट मार्डन

जीवन के रास्ते से दार्शनिक का तात्पर्य है मुक्ति का मार्ग और 'मृत्यु की राह' से उसका अभिप्राय है बंधन का मार्ग। वास्तव मे ही मन की गति अद्भुत है। अगर वह चाहे तो मनुष्य की आत्मा को स्वर्ग मे ले जा सकता है और चाहे तो नरक की ओर प्रयाण करवा सकता है। इसीलिये संसार के समस्त महापुरुष कहते आए हैं कि मुमुक्ष प्राणी को सर्वप्रथम अपने मन को वश मे करना चाहिये क्योकि —

अत्यन्त निराश होकर कवि आगे कहते हैं—इस मन के दुर्निवार विकारों के कारण आत्मा को अनेकानेक जन्म धारण करने पडे और कर्म रूपी कीचड मे लिप्त रहना पडा। किन्तु अब भी यह समझ नही पा रहा है, मुझे तो ऐसा लगता है कि जिस प्रकार किसी प्यासे व्यक्ति की कुआ खोदते हो जीवनलीला समाप्त हो जाती है और उसकी प्यास नही बुझ पाती, उसी प्रकार इस ससार सागर से छुटकारा पाने का प्रयत्न करते-करते ही मेरा जीवन भी समाप्त हुआ जा रहा है।

तात्पर्य यही है कि मन को समझाना तथा इन्द्रियो को वश में रखना अत्यन्त कठिन है। बडे-बडे ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी और सयमी अपने पथ से विचलित होते हुए देखे गए हैं। मन की इस गति को अपनी इच्छानुसार चलाना मानव के लिये असभव नही, किन्तु मुश्किल अवश्य है। जब तक हृदय मे विकारो का नर्तन चलता रहता है, आत्मा का बधन मुक्त होना सभव नहीं है। इसलिये प्रत्येक मुमुक्षु के लिये आवश्यक है कि वह सबत् प्रयत्न करके मन के दुर्विचारो को नष्ट कर उसमे सुविचारो को स्थान दे। विचारो की पवित्रता ही उसके कर्मों को पवित्र बना सकती है। दूषित विचार जहर के समान होते है जिनका थोडा सा अश भी हृदय के समस्त गुणो को नष्ट कर देता है, और सुविचार हृदय के अनेक अवगुणो को गुण बनाकर छोडते है। मानव वैसा ही बन जाता है, जैसे उसके विचार होते हैं और विचारो के अनुसार ही आत्मा बन्ध-युक्त या बन्ध-मुक्त होती है।

अपना कौन ?—मनुष्य अपने और अपने कुटुम्बियो को भी अपना मानकर सबके लिये भोग-विलास के साधन जुटाता है। उन्हे जुटाने के लिये असंख्य पाप करता है। वह भूल जाता है कि ससार स्वार्थी है। जब तक स्वार्थ सिद्ध होता है तभी तक सब स्वजन परिजन उसे अपना मानते हैं, मेरा कहते हैं। किन्तु जिस दिन मृत्यु का आमन्त्रण मिलता है, कोई भी उसे बचाने मे सहायक नही होता। ऐसे ही मूढ प्राणियो को संबोधन करके कहा जाता है :—

> नहि है तेरा कोय नहीं तू कोय का।
> स्वारथ का संसार बना दिन दोय का।
> मेरी-मेरी मान फिरत अभिमान मे, पण हां बाजिद !
> इतराते नर मूढ़ एहि अज्ञान मे।
> कूडा नेह कुटुम्ब धनो हित धायता।
> जब घेरे यमराज करे को सहायता।
> अन्तर फूटी आंख न सूझे आंधरे, पण हां बाजिद !
> अजहू चेत अज्ञान ! वीर से सांधरे।

वही मनुष्य कर्म-बन्धनों से मुक्त हो सकता है जिसके मन को ससार का कोई बन्धन बाँध न सका हो। अनासक्ति भाव के बिना प्राणी कितना भी जप-तप या पूजा-पाठ क्यों न करे उसका महत्व उतना ही है जितना कि अक के बिना शून्यो का। सख्या बढाने के लिये कितने भी बिंदु लगा दिये जायँ किन्तु प्रारम्भ का अंक अगर मिटा दिया जाए तो उन बिन्दुओं का कुछ भी महत्त्व नही रह जाता। इसी प्रकार धर्म ध्यान और साधना का कितना भी आडम्बर मनुष्य क्यो न करे, अगर उसके हृदय मे संसार के प्रति अनासक्ति का भाव नही है तो उसकी समस्त क्रियाएँ व्यर्थ हैं। वह मुक्ति का अधिकारी नहीं है। ससार मे रहते हुए भी जो साधक ससार को अपने में नही रखता सिर्फ वही मुक्ति का अधिकारी है। ऐसा साधक परिवार मे रहने पर भी और उसे छोडकर साधना के लिए जाने के समय भी एकसा भाव अपने हृदय मे बनाए रहता है। उसके लिए जन्म और मृत्यु, सोने और जागने के समान होती हैं। न उसे किसी के जन्म से हर्ष होता है और न किसी की मृत्यु पर शोक ही। अपनी मृत्यु को समीप देखकर भी वह न निराश होता है और न खिन्न ही। वह कहता है :—

कफन बढा तो किसलिये, नजर डबडबा गई ?
सिंगार क्यो सहम गया, बहार क्यो लजा गई ?
न जन्म कुछ, न मृत्यु कुछ, बस इतनी सिर्फ बात है।
किसी की आँख खुल गई, किसी को नींद आ गई।

कितनी सहज और सीधी बात है ? इस जीवन मे सुख और दुख कुछ भी सत्य नही। सत्य है सिर्फ चचल क्षण। अच्छा जीवन, ज्ञान और भावनाओं तथा बुद्धि और सुख दोनो का सम्मिश्रण होता है। और इसका आनन्द वही उठा सकता है जो मृत्यु का आलिगन उसी सहज भाव से करने को तैयार रहे जिस भाव से जीवन बिताता है। यही बात एक पाश्चात्य विद्वान् ने कही है—

"No man enjoys the true taste of life, but he who is ready and willing to quite it." —सेनेका

अर्थात्— कोई भी व्यक्ति, जब तक कि वह प्रसन्नता से मरने को तैयार नही रहता, जीवन का सच्चा आनन्द नही ले सकता।

बधुओ, आपने समझ लिया होगा कि आत्मा के बधन क्या हैं और उसकी मुक्ति कैसे होती है ? प्रत्येक प्राणी मुक्त होना चाहता है। मुक्ति शब्द उसको अत्यन्त प्रिय होता है। किन्तु मुक्त वह उसी अवस्था मे हो सकेगा जब उसकी आत्मा सासारिक वासनाओ से मुक्त रहेगी। सासारिक सबंधियो और

अज्ञ मनुज के लिए जगत में,
जो-जो बधन के हेतु।
बन जाते है सुज्ञजनो के,
वे ही भव-सागर-सेतु!



गंगा-जल सा शीतल-निर्मल,
मधुकर-सा रसग्राही मन।
पर-उपकारी, जन हितकारी,
संतो का पावन जीवन!

—'सरस'



स्वीकार न करके उन्हे ही अपने वश मे किये रहते हैं। ऐसे महात्माओ को भोग रोगवत् प्रतीत होते हैं और विलास विनाशकारी दिखाई देता है तथा ससार के विषय उन्हे विष तुल्य लगते हैं। ऐसे वासनाओ के विजेता पुरुष-पुंगव समस्त विषय भोगो से विरत होकर मुनिवृत्ति को अपनाते है और अपनी आत्मा के उत्थान की साधना मे लीन बने रहते है। उनके अन्तस्तल मे सदैव यही भावना रहती है—

दारा परिभवकारा, बन्धुजनो बन्धनं विष विषयाः।
कोऽयं जनस्य मोहो, ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा ? ॥

अर्थात्—दारा परिभव करने वाली है। बन्धु-बान्धव बन्धन रूप है। विषय-भोग विष के समान हैं। फिर भी आश्चर्य है कि मनुष्य इन सबके मोह मे फँसकर इतना मूढ बन जाता है कि वह इन सब शत्रुओं को भी मित्र समझता है।

गम्भीर आत्मिक साधना के द्वारा ही इस प्रकार की उच्च अनाशक्ति की भावना उत्पन्न हो सकती है। जन्म-जन्मान्तर के मोहनीय संस्कारो पर विजय प्राप्त करना आसान नही है। भोगो के प्रबल आकर्षण से छुटकारा पाने के लिये बडी दृढता की आवश्यकता रहती है। मुनिवृत्ति को धारण करने के लिये असीम साहस और उसे आजन्म निभाने के लिये अटल विरक्ति और सत्सकल्प होना चाहिये। विषय विकारो का त्याग और कठोर चर्या का अनुसरण विरले व्यक्ति ही कर सकते हैं।

संसार के कुछ कार्य शारीरिक वल से, कुछ बुद्धिबल से और कुछ मनोवल से सम्पन्न होते है। किन्तु मुनिधर्म की साधना के लिये इन तीनो के संयोग की अनिवार्य आवश्यकता होती है। निर्बल आत्माएँ इस कठिन मार्ग का अनुसरण नही कर सकती। इस वृत्ति के सबध मे कहा जाता है :—

जहा तुलाए तोलेउं, दुक्करं मन्दरो गिरी।
तहा णिहु य णीसंकं, दुक्करं समणत्तणं॥

—उत्तराध्ययन

अर्थात्—जिस प्रकार सुमेरु पर्वत को तराजू से तोलना दुशक्य है, उसी प्रकार निश्चल और शंकारहित होकर साधुता का पालना दुशक्य है।

मुनिवृत्ति एक ऐसी कसौटी है, जिस पर मनुष्य के धैर्य, संयम, शाति, सहनशीलता, सतोप और साहस सभी की परख होती है। वीर पुरुप ही इस कसौटी पर शुद्ध स्वर्ण के समान खरे उतर सकते ह। कायर मनुष्य प्रथम तो इस वृत्ति को अंगीकार ही नहीं कर सकते, और कदाचित अगीकार कर भी लेते हैं तो कठिन परीक्षा आते ही विचलित हो जाते है।

अर्थात्—मुझे ज्ञान है कि सच्चे संत अपने शत्रुओ के हृदय को भी दुखित नही करते। तू उनके उच्च स्थल पर कैसे पहुँच सकता है, जिसका कि अपने मित्रो के प्रति भी वैर और शत्रु भाव बना हुआ है।

वास्तव मे ही सच्चे सत समस्त ससार को अर्थात् विश्ववर्ती समस्त प्राणियो को अपना मित्र समझते हैं। प्रत्येक नर-नारी ही नही, वरन् क्षुद्र से क्षुद्र जीव-जन्तु भी उनका प्रिय बन्धु है। इतना ही नही उनका परिवार तो और भी विस्तृत है। किसी ने कहा है :—

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिः परम गेहिनी।
सत्यं सूनुरयं दया च भगिनी भ्राता मनः संयम।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृत भोजनम्,
एते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे ! कस्माद् भयं योगिनः॥

अर्थात्—धैर्य जिसका पिता हो, क्षमा माता हो, शान्ति गृहिणी हो, सत्य सुपुत्र हो, दया बहिन हो और मनोनिग्रह भाई हो, पृथ्वातल ही जिसकी शय्या हो, दिशाएँ जिसके वस्त्र हो और जो ज्ञान के अमृत का ही आहार करता हो, ऐसे सुन्दर और विशाल परिवार वाले योगी को किससे भय हो सकता है? वह प्रत्येक परिस्थिति मे निर्भय और निश्शक रहता है।

साधुवृत्ति धारण करने वाले व्यक्ति को अपनी समस्त वासनाओं का त्याग करना पडता है। सासारिक प्राणी को जहाँ एक इन्द्रिय वश मे करना भी कठिन होता हे वहाँ साधु अपनी समस्त इन्द्रियो को वश मे करते हैं। अपनी इच्छाओ का निरोध करते है और मन पर पूर्ण नियत्रण रखते है। इसक विना समीचीन रूप से साधु-वृत्ति का निर्वाह नही हो सकता। इसकी साधना साधारण साधना नही होती। इसे करने वाले साधु को निरन्तर सजग और सावधान रहना पडता है। सतत आत्मनिरीक्षण, स्वाध्याय, चिन्तन, मनन, और तपश्चरण करते हुए मन पर सयम का अंकुश लगा कर उसे रोकना होता है।

आज हम देखते हैं कि साधु वेशधारी अनेक व्यक्ति अपनी कुक्रियाओ के द्वारा साधुसमाज को कलकित करते हैं तथा अपने और अन्य प्राणियो के पतन का कारण वनत है। वे स्वय अपनी आत्मा को कर्म-वन्धनो मे जकड लेते हैं और जन-समाज को भी पाप-मार्ग की तरफ प्रवृत्त करते है। ऐसे व्यक्तियो के विषय मे कहा गया है—

अर्थात्—मुझे ज्ञान है कि सच्चे संत अपने शत्रुओ के हृदय को भी दुखित नही करते। तू उनके उच्च स्थल पर कैसे पहुँच सकता है, जिसका कि अपने मित्रो के प्रति भी वैर और शत्रु भाव बना हुआ है।

वास्तव मे ही सच्चे सत समस्त ससार को अर्थात् विश्ववर्ती समस्त प्राणियो को अपना मित्र समझते हैं। प्रत्येक नर-नारी ही नही, वरन् क्षुद्र से क्षुद्र जीव-जन्तु भी उनका प्रिय बन्धु है। इतना ही नही उनका परिवार तो और भी विस्तृत है। किसी ने कहा है :—

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिः परम गेहिनी।
सत्यं सूनुरय् दया च भगिनी भ्राता मनः संयमः।
शय्या भूमितल दिशोऽपि दसनं ज्ञानामृतं भोजनम्,
एते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे! कस्माद् भयं योगिनः॥

अर्थात्—धैर्य जिसका पिता हो, क्षमा माता हो, शान्ति गृहिणी हो, सत्य सुपुत्र हो, दया बहिन हो और मनोनिग्रह भाई हो, पृथ्वातल ही जिसकी शय्या हो, दिशाएँ जिसके वस्त्र हो और जो ज्ञान के अमृत का ही आहार करता हो, ऐसे सुन्दर और विशाल परिवार वाले योगी को किससे भय हो सकता है? वह प्रत्येक परिस्थिति मे निर्भय और निश्शंक रहता है।

साधुवृत्ति धारण करने वाले व्यक्ति को अपनी समस्त वासनाओ का त्याग करना पडता है। सासारिक प्राणी को जहाँ एक इन्द्रिय वश मे करना भी कठिन होता हे वहाँ साधु अपनी समस्त इन्द्रियो को वश मे करते हैं। अपनी इच्छाओ का निरोध करते हैं और मन पर पूर्ण नियत्रण रखते है। इसक विना समीचीन रूप से साधु-वृत्ति का निर्वाह नही हो सकता। इसकी साधना साधारण साधना नही होती। इसे करने वाले साधु को निरन्तर सजग और सावधान रहना पडता है। सतत आत्मनिरीक्षण, स्वाध्याय, चिन्तन, मनन, और तपश्चरण करते हुए मन पर सयम का अकुश लगा कर उसे रोकना होता है।

आज हम देखते हैं कि साधु वेशधारी अनेक व्यक्ति अपनी कुक्रियाओ के द्वारा साधुसमाज को कलकित करते हैं तथा अपने और अन्य प्राणियो के पतन का कारण बनत है। वे स्वय अपनी आत्मा को कर्म-बन्धनो मे जकड लेते हैं और जन-समाज को भी पाप-मार्ग की तरफ प्रवृत्त करते हैं। ऐसे व्यक्तियो के विषय मे कहा गया है—

गृहीतलिङ्गस्य हि चेद् धनाशा,
गृहीतलिङ्गो विषयाभिलाषी।
गृहीतलिङ्गो रसलोलुपश्चेद्,
विडम्बनं नास्ति ततोऽधिकं हि॥

अर्थात्—साधु का वेश धारण कर लेने पर भी यदि धन की आशा बनी रही, विषयो की अभिलाषा न मिटी, या रसलोलुपता का शमन हुआ तो इससे बढकर विडम्बना और क्या हो सकती है?

सच्चा साधु वह है जो मलिन और मन्द भावनाओ को नष्ट करके अपनी आत्मा मे विशुद्ध भावनाओ की ज्योति जगाता है, विरक्ति और सन्तोष को धारण करता है, जिसके लिये ससार का साम्राज्य भी धूल के बराबर है और जो कचन तथा कामिनी से मुँह मोडकर निरन्तर अपनी आत्मा मे रमण करता हुआ सच्चिदानन्दमय स्वरूप मे निमग्न रहता है। अनादिकालीन आत्मिक कल्मष को धो डालने के लिये जो सयम और सवर की साधना करता है, तथा सुख-दुख, हानि-लाभ, मान-अपमान, शत्रु-मित्र और जीवन-मरण आदि मे पूर्ण समभाव रखता है ऐसे सच्चे साधु के विषय मे सुन्दर कवि कहते हैं —

काम ही न क्रोध जाके, लोभ ही न मोह जाके,
मद ही न मत्सर जाके कोउ न विकारो है।
दुख ही न सुख माने, नाहिं हानि-लाभ जाने,
हरष न शोक आने देह ही सें न्यारो है।
निन्दा न प्रशसा करे, राग ही न द्वेष धरे,
लेन ही न देन करे, कछु ना पसारो है।
सुन्दर कहत ताको अगम अगाध गति,
ऐसो कोई साधु हो तो प्रभु को पियारो है।

साधु मानव-जीवन के पावन और उच्चतम उद्देश्य की प्रतिमूर्ति है, सयम और सदाचार की जीती जागती प्रतिमा है तथा अन्धकार मे विचरण करने वाले ससार के लिये ज्योति स्तम्भ है। साधु ही आत्मा को परमात्मा बनाने वाली साधना का प्रतीक है।

आत्मपद से परमात्मपद—जैन सिद्धान्त की मान्यता है कि आत्मा और परमात्मा में कोई मौलिक अन्तर नही है। भारत के ईश्वरवादी दार्शनिको का कथन है कि आत्मा और परमात्मा मौलिक रूप में पृथक पृथक हैं। परमात्मा वह है जो नित्य मुक्त है और इस सृष्टि की रचना करने वाला है। वह

अनादिकाल से ही परमात्मा है अर्थात् उसे परमात्मा बनने के लिये कोई साधना नही करनी पडी। क्योकि वह संसारी जीवो की भाँति विकार युक्त होने के कारण जन्म-मरण का भाजन नही था। वह नित्य ईश्वर व अद्वितीय है। कोई भी आत्मा कितनी ही महान् साधना क्यो न करे, वह परमात्मा का पद प्राप्त नही कर सकती। ईश्वरवादियो के कथनानुसार आत्मा अपनी साधना से मुक्तात्मा बन सकती है, किन्तु परमात्मा नही बन सकती। मुक्तात्मा और परमात्मा भिन्न-भिन्न हैं।

किन्तु जैन दर्शन परमात्मा की अनादिकता को स्वीकार नही करता। इसके अनुसार कोई भी आत्मा विना प्रयास और साधना के विशुद्ध नही हो सकती। ईश्वरवादियो की यह मान्यता कि आत्मा और परमात्मा मे मौलिक रूप से भिन्नता हैं, समीचीन नहीं है। क्योकि जिनमे मौलिक भिन्नता होती है उनके गुणो मे भी भिन्नता होती है। आत्मा और परमात्मा के गुणो मे भिन्नता नही है। ईश्वर सत्-चित्-आनन्द स्वरूप वाला है और आत्मा भी ऐसी ही है। इतना अवश्य है कि ईश्वर का चेतना उत्कृष्ट कोटि की है और उसका विकास चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है तथा वह आनन्द गुण से युक्त है। आत्मा का चैतन्य और आनन्द गुण उस कोटि का नही है, किन्तु यह मात्र तरतमता का ही भेद। आत्मा भी जब अपने स्वाभाविक गुणो का विकास करते-करते उन्हे अन्तिम सीमा पर पहुँचा देता है, तब वह परमात्मा बन जाता है।

आत्मा अपने मूल रूप मे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, और अनन्त सुख स्वभाव वाला है, किन्तु उपाधि-कर्म के संयोग से उसके इन गुणो का आच्छादन हो जाता है। ज्यो-ज्यो कर्म रूप उपाधि हलकी होती जाती है, त्यो त्यो वे गुण विकसित होते जाते है और कर्मों का पूर्ण क्षय होने पर वे गुण अपने वास्तविक रूप मे आविभूत हो जाते है। यही आत्मा की परमात्म-दशा प्राप्ति है।

आत्म-विकास की तरतमता की दृष्टि से शास्त्रो मे आत्मा तीन प्रकार की बतलाई गई है :—

(१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा (३) परमात्मा।

(१) **बहिरात्मा**—बहिरात्मा वह है जो कषायो से युक्त है, क्रोध, मान, माया और लोभ मे रमण कर रही है, जड और चेतन के विवेक से शून्य है, बाह्य पदार्थो के प्रति आत्म-भाव रखती है तथा अपने स्वरूप ज्ञान से सर्वथा शून्य है।

आज के अधिकाश व्यक्ति इसी श्रेणी मे आते हैं। उनकी दृष्टि बाह्य-जगत की ओर रहती है तथा वे बाहर की सृष्टि मे ही अपना ध्यान केन्द्रित रखते हुए बाह्य पदार्थों की प्राप्ति मे सलग्न रहते हैं। बाहरी वृत्तियो और प्रवृत्तियो मे वे इतने व्यस्त हो जाते है कि आत्म-दर्शन और आत्म-ज्ञान की ओर उनका ध्यान ही नही जाता। वे भूल जाते हैं कि बाह्य पदार्थ नश्वर हैं और बाह्य सौन्दर्य मन'कल्पित तथा अवास्तविक है। वास्तविक और स्थायी ज्योति तो आध्यात्मिक सौन्दर्य की है। वे बाह्य वस्तुओ को अपनी बनाने के प्रयत्न मे अशात होकर इधर से उधर भटकते रहते हैं और उनके सयोग-वियोग से चित्त मे चिन्ता, व्याकुलता तथा निराशा का अनुभव करते हैं। खेद की तरगे सदा ही उनके हृदय मे उठती रहती हैं, जिन्हे शात करना उनके लिये असम्भव हो जाता है। ऐसे ससारी प्राणियो को बाह्य जगत से आतरिक जगत में लाने के लिये कहा जाता है —

पुण्य पाप फल माँहि हरख बिलखौ मत भाई।
यह पुद्गल पर्याय, उपजि विनसे थिर नाई॥
लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग दद फंद निज आतम ध्याओ॥

(२) **अतरात्मा**—अन्तरात्मा वह कहलाता है जो जगत के समस्त बाह्य पदार्थों से अपनी राग-द्वेष की वृत्ति को हटा लेता है। किसी भी पदार्थ के भोग लेने पर उसे हर्ष नही होता और उसके वियोग होने पर वह विषाद का अनुभव नही करता। जीवन की प्रत्येक परिस्थिति मे वह समभाव धारण करके रहता है।

समभाव की महिमा असाधारण है उसे वही साधक अपना सकता है जिस ने त्यागवृत्ति धारण करली हो। त्यागवृत्ति अथवा मुनिवृत्ति को अगीकार कर लेने वाला साधक ही बाह्य पदार्थों से मुँह मोडकर काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि आन्तरिक रिपुओ से जूझकर विजय प्राप्त करता हैं। युद्ध भूमि मे गए हुए योद्धा के लिये जिस प्रकार कवच ही बचाव का साधन होता है, उसी प्रकार साधना की समरभूमि मे आध्यात्मिक साम्राज्य की प्राप्ति का अभि-लाषी साधक रूपी मोक्ष समभाव रूपी कवच के द्वारा अपने आन्तरिक शत्रुओ के प्रहार झेलता हैं। समभाव से विशुद्ध आत्म परिणति होती है और विशुद्ध आत्म परिणति होने पर आत्मा समस्त कर्मों को क्षयकर मुक्तावस्था प्राप्त कर लेती है। कहा भी है —

तस्यैवाविचलं सौख्य, तस्यैव पदमव्ययम्।
तस्यैव बन्धविश्लेष· समत्व यस्य योगिन·।

अर्थात्—जिस योगी के अन्त करण मे समभाव की स्वर्गीय सुधा का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता है, उसी को शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है, उसी को अक्षय पद, मोक्ष की प्राप्ति होती है और वही अपने बधनो को तोडकर फेक सकता हैं।

जब तक समभाव की जागृति नही होती तब तक संयम रूपी लक्ष्मी की प्राप्ति भी नही हो सकती। समभाव प्राप्त करने पर ही आत्मा मे ही ऐसी अपूर्व और अनिर्वचनीय शाति आती है। जो केवल अनुभव गोचर होती है। किसी उर्दू कवि ने कहा है —

जब तक इसी सागर से तू मखमूर है।
जोक से जामे बका से दूर है॥

अर्थात्—जब तक तू सासारिक पदार्थों के मद मे उन्मत्त है, तब तक परम शान्ति के आनद से दूर ही रहेगा।

स्पष्ट है कि जब तक विषय-भोगो की तृष्णा आग के समान अन्त करण मे धधकती रहेगी, जीव को शाति प्राप्त नही हो सकती। उस आग के संताप से पीडित होकर वह अशात और व्याकुल बना रहेगा तथा वह अशाति तथा व्याकुलता कर्म-बध का कारण बनेगी। ईसाई धर्म-ग्रन्थ इजील मे बडे अच्छे ढग से यह बात समझाई है :—

Can a man take fire in his bosom and his cloths not be burned ? Can on go upon hot coals and his feet not be burnt ?

अर्थात्—क्या यह सभव है कि कोई मनुष्य अपने वक्ष पर अग्नि रख ले और उसके वस्त्र जलने से बचे रहे ? क्या यह सभव है कि कोई मनुष्य धधकते हुए अगारो पर चले और उसके पैर न जले ?

तात्पर्य यही है कि जो त्यागी आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसे भान हो जाता है कि मै चिदानन्दमय हूँ और ससार के समस्त पदार्थ मुझसे भिन्न है। इनके साथ मेरा कोई सबध नही है। जब शरीर ही अपना नही है और आत्मा से अलग है तो दूसरे पदार्थ अपने कैसे हो सकते हैं। मुनिवृत्तिधारी मुमुक्षु साधक प्रतिक्षण दो बातो का ध्यान रखता है। प्रथम यह कि नवीन कर्मों का आस्रव और बध न होने पाए और दूसरे, पूर्व कर्मों की निर्जरा होती रहे। सवर द्वारा वह नवीन कर्मो का आगमन रोकता है और निर्जरा के द्वारा बद्ध कर्मों को नष्ट करता है। सवर और निर्जरा की जितनी भी क्रियाएँ हैं, वे सब उपादेय हैं और आस्रव तथा बधन करने वाली क्रियाएँ हेय है।

परमात्मा—वहिरात्मा किस प्रकार अन्तरात्मा बनकर परमात्मा के पद पर आरूढ हो सकता है, इस विषय पर जैन शास्त्रो मे बहुत विस्तार से विचार किया गया है और उसके लिये अनेक साधनो का उल्लेख किया है। उन सबके विषय मे अभी बताया नही जा सकता, सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि बहिरग आत्मा का सुधार करने के लिये उसकी बाह्य पदार्थों पर से आसक्ति हटाकर आत्म-दर्शन और आत्म-ज्ञान की ओर झुकाना होगा। आत्म-दर्शन को सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा में ऐसी निर्मलता आ जाती है कि तत्काल सम्यग्ज्ञान भी हो जाता है। तत्पश्चात् ज्यो-ज्यो क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायो का क्षय होता जाता है, त्यो-त्यो सम्यक् चारित्र की भी वृद्धि होती जाती है। चारित्र का चरम परिपाक होने पर आत्मा मोह और अज्ञानादि विकारो से सर्वथा अतीत होकर वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त करके अपनी स्वतंत्र सत्ता को कायम रखती हुई अनन्त चैतन्यमय होकर रहती है। दूसरे शब्दो मे वह परमात्मा बन जाती है।

बधुओ, मुनिवृत्ति के महत्त्व को आपने समझ लिया होगा तथा यह भी जान लिया होगा कि यह उच्चवृत्ति किस प्रकार आत्मा को परमात्मा बना देती है। आक्षेप करने वाले अबुधजन इसे सहज और सुखदायक मानते हैं। उनका कथन है कि ससार का प्रत्येक प्राणी पेट भरने के लिये रात-दिन परिश्रम करता है और तब भी अपने ध्येय मे सफल नही हो पाता। किन्तु मुनिवृत्ति को धारण कर लेने पर यह समस्या हल हो जाती है और भाँति-भाँति का रसमय भोजन सहज ही उपलब्ध हो जाता है।

ऐसे अज्ञानी व्यक्ति भूल जाते हैं कि मुनिवृत्ति के सच्चे धारक अन्य पदार्थों के समान ही भोज्य पदार्थों पर से भी ममत्व हटा लेते हैं। भोजन के विना शरीर टिक नही सकता और शरीर के बिना मुक्ति के लिये साधना नहीं होती, केवल इसीलिये वे इस शरीर को खुराक देते हैं, वह भी अनासक्त [illegible] निर्दोष। किसी त्रस या स्थावर की हिंसा हो, किसी को पीड़ा पहुँचे, [illegible] भोजन से वञ्चित हो जाय या किसी को तनिक भी असुविधा जिस [illegible] देने से हो, उसे मुनि कभी भी ग्रहण नही करते। कहा भी है—

अरस विरस वा वि, सूइअ वा असूइयं,
उल्ल वा जई वा सुक्क, मथु कुम्मासभोयणं।
उप्पण्ण नाइ हीलिज्जा, अप्प वा बहु फायुं,
मुहालद्ध मुहाजीवी, भुजिज्जा दोसवज्जियं।

—[illegible]

अर्थात्—साधु को जैसा भी आहार मिल जाय। वह उसे सन्तोप के साथ ग्रहण करे। चाहे सरस मिले या नीरस, ताजा मिले या वासी, गीला मिले या रूखा-सूखा, वेर का चूरा मिले या छिलके मिलें, जो भी साधु के लिये तैयार न किया हुआ हो और पर्याप्त हो या अपर्याप्त, साधु उस आहार की अवहेलना न करे। निष्कामजीवी साधु निष्काम भाव से प्राप्त निर्दोप आहार का उपयोग करे।

इतना ही नही जैन सतो के लिये तो जिन पाँच महाव्रतो को पालन करने का आदेश है, उनकी साधना करना भी सहज कार्य नही है। साधारण मनुष्य के द्वारा उनके जैसे कडे नियमो का पालन कदापि नही किया जा सकता। विचार करने पर मालूम हो जाता है कि सासारिक भोग-विलासो का वाह्य रूप मे त्याग करना ही कठिन होता है, किन्तु साधु को तो मान प्रतिष्ठा आदि आतरिक दुर्गुणो का भी परित्याग करना पडता है।

मुनिव्रतधारी को अनेकानेक कष्ट सहन करने पडते हैं, साथ ही तनिक भी असावधानी से या सहज दुर्बलता से किसी नियम का भग हो जाए तो उसके लिये वे घोर पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त करते हैं। साधु का जीवन तप और त्याग का जीवन होता है। पाँच महाव्रत, पाँच समिति तीन गुप्ति और बारह प्रकार की तपस्या आदि का विधान ही उनकी आत्मा को अधिक विशुद्ध बनाना चला जाता है।

इसमें सन्देह नही है कि मुनिवृत्ति अत्यंत दुष्कर है, किन्तु जो दुष्कर को करता है वही मुक्ति रूपी सुमधुर फल को प्राप्त कर सकता है। प्रवृत्तिमार्ग पर चलने वाले को तात्कालिक सुख की अनुभूति होती है, किन्तु वास्तव मे वह सुख नही, सुखाभास है। उसका अन्तिम परिणाम घोर दु खमय होता है। अतएव प्रत्येक सुखाभिलाषी को यथासभव निवृत्ति की ओर बढना चाहिये। जैनधर्म मे तो गृहस्थो के लिये विधान है कि वे भी समय-समय पर साधुओ के समान वृत्ति का पालन करें। इससे उन्हे त्यागवृत्ति के पालन का अभ्यास हो सकता है। कालातर मे यही अभ्यास स्थायी होता है और आत्मानंद की प्राप्ति का साधन बनता है। मुनिवृत्ति के प्रशस्तपथ पर जो साधक अग्रसर होते चले जाते हैं, वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अनन्त सुख के सागर, निराकार, निष्कलुष और शुद्ध चेतनामय बन जाते हैं।

****

२०

भावना और गतिबन्ध

[प्रथम खण्ड]

बधुओ !

आज हमे यह देखना है कि भावना कितनी बलवती होती है। अनेक शास्त्रकारो तथा ग्रन्थकारो ने इसकी अलौकिक शक्ति का वर्णन स्थान-स्थान पर किया है। बताया है कि, भावना की निकृष्टता के कारण जहाँ अनन्त ससार बढाया जा सकता है वहाँ इसकी उत्कृष्टता के द्वारा ससार मुक्त भी हुआ जा सकता है। ससार-भ्रमण अथवा मोक्ष-प्राप्ति केवल भावनाओ पर ही निर्भर है। अग्रेजी की एक कहावत है :—

'Fancy may kill or cure'

अर्थात्—भावना मार भी सकती है, जिला भी सकती है।

प्रत्येक कर्म के पीछे कोई न कोई भावना काम करती है तथा कर्म की अपेक्षा उसके पीछे रही हुई भावना का अधिक महत्त्व होता है। जो कार्य उच्च भावनाओ को लेकर किया जाता है वह छोटा होने पर भी उत्तम फल

प्रदान करता है और हीन भावनाओं को लेकर किया जाने वाला उत्तम कार्य भी निष्फल साबित होता है। सक्षेप मे यही कहा जा सकता है :—

'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।'

अर्थात्—जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

मन भावनाओ का भण्डार है इसमे स्नेह, प्रेम, करुणा, ईर्ष्या, द्वेष तथा पश्चात्ताप आदि अनेक प्रकार की भावनाएँ तथा आकाँक्षाएँ प्रतिपल अपनी-अपनी शक्ति का प्रयोग किया करती हैं तथा मनुष्य उसके अनुसार शुभ या अशुभ कृत्य करता रहता है।

आकांक्षा—मानव मात्र की आकाक्षा होती है कि वह अपनी वर्तमान स्थिति से श्रेष्ठ स्थिति मे पहुँचे। ससार में एक भी मनुष्य ऐसा नही होगा जो अपनी स्थिति से संतुष्ट हो। निर्धन व्यक्ति धनवान बनना चाहता है, मूख विद्वत्ता हासिल करके नाम और यश कमाने की फिराक मे रहता है, रोगी निरोग होने की कामना करता है तथा निर्बल मनुष्य 'गामा' पहलवान बन जाने की आकाक्षा रखता है। निजी सस्कार, परिस्थिति, वातावरण और मनोदशा के अनुसार मनुष्य की आकाक्षाएँ बढती और बदलती भी रहती हैं। कुछ व्यक्ति जो इन भौतिक आकाक्षाओ से ऊपर उठ जाते हैं वे अपनी आकाक्षाओ को आध्यात्मिकता की ओर मोड लेते हैं, जिन्हे महत्वाकाक्षा कहा जाता है।

महत्वाकांक्षा—जिस इच्छा या कामना की पूर्ति मे मनुष्य उचित अनुचित का विवेक त्याग देता है तथा सव प्रकार के भले-वुरे कर्म करने को उद्यत हो जाता है उसे हम सिर्फ आकाक्षा कहेगे, महत्वाकाक्षा नही। क्योकि वह उच्चाभिलाषा नही होती। उच्चाभिलाषी का शक्तिस्रोत 'आत्मिक' होता है। उसमे नैतिक उज्ज्वलता का प्रकाश होता है जिसके द्वारा मानव-मन का कलुष-रूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है।

जीवन का विशिष्ट लक्ष्य जितना ऊँचा होता है, उसके प्रति जितनी तन्मयता और एकाग्रता होती है, महत्वाकाक्षा उतना ही दिव्य रूप धारण करती जाती है। महत्वाकाक्षा प्रच्छन्न मानवीय शक्तियो के द्वार खोल देती है तथा उनके सहयोग से आत्मा की अद्भुत शक्तियाँ भौतिक जगत एवं उसके प्रलोभनो पर विजय प्राप्त कर लेती हैं। महत्वाकाक्षा अथवा उच्चाभिलाषा विजडित, शृ खलावद्ध आत्मा की मुक्ति की घोषणा है।

श्रेष्ठ कौन—वह मनुष्य श्रेष्ठ है जो अपने हृदय मे उच्चाभिलाषा या

महत्वाकाक्षा को स्थान देता है। महत्वाकांक्षा के अभाव मे व्यक्ति शुभ-कर्मों की ओर प्रवृत्ति नही कर सकता। महत्त्वाकाक्षा ही महान् लक्ष्य को निर्धारित करती है तथा उसकी प्राप्ति के लिये मनुष्य को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है। हमारे भारतीय योग का लक्ष्य आत्मा की मुक्ति है। मुक्ति का अर्थ है छूट जाना। यहाँ प्रश्न होता है किससे छूटना ? उत्तर स्पष्ट है कि दुख अर्थात् बन्धन से छूटना मुक्ति है। जहाँ बन्धन नही वहा मुक्ति भी नही। जीवात्मा बद्ध है, इसलिये इसको मुक्ति की आवश्यकता है।

तो मैं मनुष्य की श्रेष्ठता के बारे में आपको बता रही थी कि वह मनुष्य श्रेष्ठ है जो मुक्ति की तीव्र अभिलाषा रखने के कारण शुभ कर्म करता है तथा मन की चचलता अथवा प्रमादवश कभी पाप कर बैठे तो उसके लिये पश्चात्ताप एव प्रायश्चित्त करता है। किन्तु उससे भी श्रेष्ठ वह होता है जो स्वर्ग अथवा मोक्ष की कामना न रखते हुए तथा स्वयं के द्वारा पाप कर्म न किये जाने पर भी, विवशता के कारण अगर शुभ कृत्य नही कर पाए तो भारी पश्चात्ताप करता है। पश्चात्ताप दोनो ही व्यक्ति करते हैं, अन्तर इतना ही है कि एक अपने कृत पापो पर पश्चात्ताप करता है। और दूसरा शुभ कर्म न कर सकने पर पश्चात्ताप करता है। स्पष्ट हो जाता है कि पापो के लिये पश्चात्ताप करने वाले की अपेक्षा शुभ-कर्म न कर सकने वाले का पश्चात्ताप अधिक निर्माण का हेतु बनता है।

पश्चात्ताप करने से आत्म-रूपी क्षेत्र शुद्ध हो जाता है तथा उसमे वपन किए गए सिद्धि के बीज अपना सम्पूर्ण फल प्रदान करते हैं। इसीलिए सर्वज्ञो ने आत्म-आलोचना अथवा पश्चात्ताप करने वालो को आराधक कहा है। आराधक द्वारा किये गये पश्चात्ताप का उत्कृष्ट फल माना जाता है। शास्त्रो मे तो यहाँ तक कहा गया है कि आराधक अगर उज्ज्वल भावना सहित पश्चात्ताप करे तो वह देव के शुभ दीर्घ-आयुष्य का बन्ध कर लेता है। देवायुष्य बन्ध के दस प्रकार माने गए हैं। अर्थात् दस कारणो से अगर आराधक पश्चात्ताप करे तो उसे देवगति प्राप्त होती है।

(१) पश्चात्ताप का प्रथम कारण होता है, नगर अथवा गाँव मे साधु-संतो के होने पर भी उनके दर्शन न कर पाना —

साधु विराज्या हो मुनिवर शहर मे,
मैं दर्शन कीना नाय हो सुज्ञानी।
जाणे खेप गमाई मोटकी,
पछतावे मन मांय हो सुज्ञानी।

मुनि श्री आसकरणजी महाराज ने आगमानुसार देव-गति-बन्ध के दस प्रकारों को राजस्थानी भाषा मे लिखा है। उसी का यह पद है, जिसमे बताया है कि शहर मे मुनिराज के ठहरे हुए होने पर भी उनके दर्शन न कर पाने पर सच्चे आराधक के हृदय मे कैसे भाव उमडते हैं ? वह विचार करता है 'मेरा कैसा दुर्भाग्य है कि इतने समोप होते हुए भी मैं मुनि-दर्शन से वचित रहा हूँ।' जिस प्रकार व्यापारी अपना कमाया हुआ सारा धन रास्ते मे ही खो देता है और उसके लिये दुखी होता है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष सत्पथ-प्रदर्शक सन्तो के दर्शन न कर पाने के कारण अत्यन्त दुखी होता हुआ तीव्र पश्चात्ताप करता है। और उस स्थिति मे उसके देव-गति का बंध होता है।

भवसागर मे भटकते हुए प्राणियों को मुक्ति का मार्ग बताने वाले केवल संत ही होते हैं। सदैव परहित-साधना मे निरत रहने वाले साधु-पुरुष ही सन्मार्ग की ओर दिशा-निर्देश कर सकते है तथा उनके द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलकर मानव अपने शुद्ध आत्म-रूप का साक्षात्कार कर सकता है। यही कारण है कि निर्मल भावना रखने वाले सत्पुरुष को सतों के दर्शन और वंदन से आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है।

सत-दर्शन की महिमा का वर्णन जितना भी किया जाय, कम है। सत-दर्शन से ही उनके समागम का सुअवसर प्राप्त होता है और उनसे समागम होने के पश्चात् आत्मा उत्थान की ओर न जाय यह असम्भव है। देवर्षि नारद का मत है कि महान् संतो तथा महापुरुषों का सग दुर्लभ, अगम्य और कभी भी व्यर्थ न जाने वाला होता है—

'महत्सगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।'

—नारद भक्ति सूत्र।

महाराज श्रेणिक ने अनाथी मुनि के दर्शन और सम्पर्क से ही अन्त मे क्षायक सम्यक्त्व को प्राप्त किया था। संतो की सगति से मानव का बौद्धिक तथा आत्मिक विकास होता है, अज्ञानान्धकार नष्ट होता है, मन की उच्छृखलता मिटती है तथा सन्मार्ग का ज्ञान होता है। महात्मा कबीर ने अपनी सहज और सीधी भाषा मे यही भाव व्यक्त किये है :—

बहे-बहाये जात थे, लोक वेद के साथ।
रस्ते मे सतगुरु मिले, दीपक दीन्हा हाथ॥

कबीर का कथन सर्वथा सत्य है। सच्चे गुरु के अलावा सन्मार्ग का प्रदर्शन और कोई भी नही कर सकता। पुस्तकीय शिक्षा प्रदान करने वाले शिक्षक तो आज हमे स्थान-स्थान पर मिल जाएँगे किन्तु आत्म-स्वरूप की

पहचान कराने वाला दिव्य ज्ञान देने वाले मुनिजन विरले ही होगे। इसीलिये भव्य प्राणी सच्चे गुरु के दर्शन और उनके समागम के लिये विकल रहते हैं। मुमुक्षु प्राणी का अन्तस् यही कहता है :—

"कवधौं मिलैं मोहिं श्री गुरु मुनिवर, करिहैं भव-दधि पारा हो,
भोग उदास जोग जिन लीनो, छाडि परिग्रह भारा हो।
इन्द्रिय-दमन वमन मद कीनो, विषय-कषाय निवारा हो,
आरत रौद्र लेश नहिं जिनके, धरम शुक्ल चित धारा हो।
ध्यानारूढ़ गूढ़ निज आतम, शुभ उपयोग विचारा हो,
कवधौं मिलैं मोहिं श्री गुरु मुनिवर ।

अर्थात् – वे गुरु मुझे कब मिलेंगे, जो मुझे ससार-सागर से पार कर दें ? जो भोगो से विरक्त होकर योग-साधना मे लगे हुए हैं, जिन्होने आतरिक और वाह्य परिग्रहो को दूर कर दिया है, जो इन्द्रियो का दमन कर चुके है तथा क्रोध, मान, माया, लोभ और अहकार को जीतकर वासनातीत हो चुके हैं, ऐसे मुनिवर मुझे कब मिलेंगे ?

जिनकी आत्मा मे किंचित् भी आर्त और रौद्र परिणामों का उदय नहीं होता, जिनका चित्त सदैव धार्मिक और विशुद्ध भावा से परिपूर्ण रहता है, जो सदैव ध्यानास्थित अवस्था में रहकर आत्मा के निगूढ रहस्यो का साक्षात्कार करते हैं तथा ध्यान, ध्याता और ध्येय के विकल्प को भूलकर अखण्ड और विशुद्ध आत्मा मे अपने को विलीन कर देते हैं, ऐसे मुनिराज मुझे कब मिलेंगे ?

ऐसी विकलता जिस प्राणी के हृदय मे होती है वही संत समागम का पूर्ण लाभ उठा सकता है तथा उनके वताए हुए मार्ग पर चलकर सिद्धावस्था को प्राप्त कर सकता है। साथ ही किसी कारण वश, अगर वह सत-दर्शन से वंचित रह जाता है तव भी उसका तीव्र पश्चात्ताप उसे देवगति प्राप्त करने का अधिकारी वना देता है।

(२) निर्मल चित्त वाले व्यक्ति को सद्गुरु का उपदेश न सुन पाने पर भी घोर पश्चात्ताप होता है। सदुपदेश के द्वारा मनुष्य के मन की मलिनता नष्ट हो जाती है, मानस धुल जाता है। जीवन मे सद्वृत्तियो की स्थापना करने का एक मात्र उपाय सतो के द्वारा दिया हुआ उपदेश ही होता है। अत मुक्ति के अभिलाषी व्यक्ति को श्रद्धा से परिपूर्ण, पवित्र हृदय लेकर गुरु के समीप पहुचना चाहिये। क्योंकि जहाँ पर प्रभु का गुणगान होता है वह स्थान ही पवित्र माना जाता है तो जो गुरु सर्वज्ञ प्ररुपित धर्म-देशना करते हैं वे तो

और भी पवित्र और श्रद्धेय होते हैं। अत उनके समीप हमें कैसी निष्कपट भक्ति लेकर जाना चाहिये यह मानव को स्वय ही विचार करने की वात है।

यह सत्य है कि संसार में सच्चे धर्म गुरुओं की सख्या बहुत थोडी है, किन्तु यह भी बात नही है कि ससार ऐसे महापुरुषो से शून्य है। गुरु से हमारा तात्पर्य मोटी-मोटी पुस्तकें पढने वालो से नही है, वरन् उनसे है, जिन्हे सत्य की स्वानुभूति हुई हो, आत्मा के सच्चे स्वरूप को जिन्होंने जान लिया हो, जो ससार सागर से पार उतरने मे स्वय समर्थ हो तथा औरो को भी पार करने की क्षमता रखते हो। जो मनुष्य परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह, परमात्मा का ही स्वरूप माना जाता है और इस तरह सिद्ध हो जाता है कि गुरु के आसन पर मनुष्य नही, किन्तु परमात्मा स्वय आसीन रहते हैं। सत विनोबा भावे ने तो यहाँ तक कहा है :—

"गुरु को अगर हमने देह रूप माना तो हमने गुरु से ज्ञान नहीं अज्ञान पाया, यह समझना चाहिये।"

इसीलिये भव्य प्राणी गुरु के उपदेश मे किसी प्रकार की शका या सन्देह नही करते, कालिदास ने कहा है :—

"आज्ञा गुरूणा ह्यविचारणीया।"

अर्थात्—गुरुजनो की आज्ञा के प्रति तर्क-वितर्क, शंका सशय और वाद-विवाद जैसी अविनीत भावनाएँ उत्पन्न नही होने देना चाहिये।

सच्चे गुरु किसी भी स्थिति मे क्यो न हो, सदा आत्मा के लिये कल्याण-कारी मार्ग का निर्देशन करते है। कोई भी प्रलोभन अथवा भय उन्हे असत्य अथवा अहितकर वचनो का प्रयोग करने मे समर्थ नही हो सकता। क्योंकि वे भली भाँति समझते हैं कि उनके विचार और उपदेश उनकी मृत्यु के बाद भी वही काम करते रहेंगे जो वे स्वयं अपनी जीवितावस्था मे करना चाहते हैं। भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द को अन्तिम उपदेश देते हुए कहा था :—

"आनन्द! अब तुम स्वय अपने मार्ग-दर्शक बनो, स्वयं अपने पर आश्रित होओ, किसी दूसरे का आश्रय ढूँढने का प्रयत्न मत करो। सत्य ही तुम्हारा पथ-प्रदर्शक होना चाहिये! आनन्द! तुम सोच रहे होगे कि तुम्हारा आचार्य तुमसे विदा हो रहा है, पर ऐसा मत सोचो। जो सिद्धान्त और नियम मैंने तुम्हे बताए हैं, जिनका मैंने प्रचार किया है, वे ही तुम्हारे आचार्य होंगे और वे सदैव जीवित रहेंगे।"

एक छोटा-सा उदाहरण और है, जिससे स्पष्ट होता है कि संत-जन मृत्यु के भय से भी सदुपदेश देना नही छोडते।

एक बादशाह वन मे शिकार खेलने गया था किन्तु मार्ग भूल जाने के कारण अचानक ही किसी सत को कुटिया मे जा पहुँचा। सत ने कहा—'भाई! व्यर्थ मे जीव-हिंसा क्यो करते हो? जानते हो इस पाप के कारण तुम्हे नरक मे जाना पडेगा?'

सुलतान को संत की इस बात पर बडा क्रोध आया और उसने अगले दिन ही सत को पकडवा मँगाया तथा प्राण-दण्ड की आज्ञा दे दी।

सुनकर सत हँस पडे और बोले—'मित्र! देर मत करो। जल्दी से जल्दी मुझे परमात्मा के पास भेज दो। किन्तु मेरे जीवन का सिद्धान्त है, प्राणी मात्र के लिये हितकारी और सत्य वचन निर्भयता पूर्वक कहना। अत मैं पुनः यही कहूँगा कि 'तुम्हे हिंसा और अत्याचार से बचना चाहिये तथा ऐसी नीति के अनुसार सासारिक कार्य करना चाहिये, जिससे तुम्हारा नाम निरंकुश एव पापात्मा सम्राटो की श्रेणी में न आ जाय।

सत आगे बोले—"मैंने यह उपदेश देकर अपना कर्त्तव्य पूरा किया है, क्योकि साधु को जीवन के अन्तिम क्षण तक भी अन्य प्राणियो को पाप-कर्मों से बचाने का प्रयत्न करना चाहिये। मृत्यु से मुझे रंच-मात्र भी भय नही है अब तुम सहर्ष अपनी आज्ञा का पालन करवा सकते हो।"

सत के वचन सुनकर बादशाह को बोध हुआ और उसने प्राण-दड की आज्ञा वापस लेते हुए अपना मस्तक मुनि के चरणो पर झुका दिया।

सच्चे साधु के यही लक्षण होते हैं, इसीलिये शुद्ध-चित्त वाले प्राणियो का हृदय सत-दर्शन तथा उनके उपदेश-श्रवण के लिये व्याकुल रहता है। एक भक्त के उद्गार हैं :—

> तरस रहा दिल मेरा, गुरां दे दर्शन नूँ।
> सतगुरु मेरे पर उपकारी, आशा तृष्णा मनो विसारी।
> करदे धर्म प्रचार, गुरा दे दर्शन नूँ।
> अमृतवाणी कथा सुनावन, सत्य धर्म दी राह दिखावन।
> मैं जावाँ बलिहार, गुरा दे दर्शन नूँ।

अर्थात—मेरा हृदय गुरु के दर्शन के लिये तरस रहा है। ऐसे गुरु, जो समस्त इच्छाओ और आकाक्षाओ का त्याग करके परोपकार मे निरत रहते हैं तथा अपनी अमृतमय वाणी से संसार के प्राणियो को सच्चे धर्म का मार्ग बताते हैं। मेरा हृदय उन पर न्योछावर हो जाना चाहता है।

सदुपदेश अथवा सत-देशना के प्रति जिस व्यक्ति की अभिरुचि जागृत हो जाती है, उसी को उपदेश-श्रवण का सुयोग खो देने पर उत्कृष्ट पश्चात्ताप होता है, जो देव-गति के बध का हेतु बनता है। कहा भी है :—

दूजे बोले हो सतगुरु की देशना,
मैं सुण सकियो नहिं कोय, हो सुज्ञानी।
अंतरंग सोच करे मन मे घणो,
तो पिण देवता होय हो सुज्ञानी।

शायर शेख सादी ने भी सदुपदेश को ग्रहणीय बताते हुए कहा है :—

मर्द बायद कि गोरद अन्दर गोश,
गर ना विश्ताक्त पन्द वर दीवार।

अर्थात्—मनुष्य को चाहिये कि यदि दीवार पर भी उपदेश लिखा हुआ मिले तो उसे ग्रहण करे।

(३) देवगति के बंध का तीसरा कारण है, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि 'आवश्यक' न कर पाने पर अत्यन्त खेद-खिन्न होकर पश्चात्ताप करना।

'आवश्यक' शब्द का अर्थ आप मे से अधिकाश बधु सम्भवतः नही समझ पाए होगे। आवश्यक वे क्रियाएँ कहलाती हैं, जिन्हे करना अनिवार्य होता है। जीवन कायम रखने के लिये श्वास लेने की क्रिया आवश्यक होती है, उसी प्रकार आत्म-शुद्धि के लिये जो क्रियाएँ करना अनिवाय होता है उन्हे शास्त्र-कार 'आवश्यक' की संज्ञा देते हैं।

आत्म-शुद्धि के लिये वाह्य क्रियाओ की अपेक्षा आन्तरिक क्रियाएँ करना अधिक आवश्यक है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे 'पर' की ओर दृष्टिपात करना उतना महत्त्व नही रखता जितना 'स्व' को समझना। स्व को अर्थात् आत्मा को समझने, जाँचने तथा निरीक्षण करने की क्रियाओ को ही 'आवश्यक' कहा जाता है। आवश्यक सूत्र के छः अध्ययन हैं —

(१) सामायिक।
(२) चतुर्विंशतिस्तव।
(३) वंदना।
(४) प्रतिक्रमण।
(५) कायोत्सर्ग।
(६) प्रत्याख्यान।

(१) सामायिक—सम-भाव की साधना करना सामायिक कहलाती है। इसकी आधार-भूमि मन है। अत शरीर की सामायिक के साथ-साथ मन की सामायिक करना भी अनिवार्य है। समभाव का साधक सबके प्रति समत्त्व की भावना रखता है। उसके समक्ष दोस्त हो या दुश्मन, निन्दक हो या प्रशंसक

सभी समान हैं। न वह मित्र या प्रशमको के प्रति राग रखता है और नही निन्दको या दुश्मनो को द्वेष-दृष्टि से देखता है।

स्वामी उग्रानन्द जी वडे सहिष्णु और समभावी सत थे। एक वार वे किसी गाँव के वाहर एक पेड के नीचे व्रह्मानन्द मे लीन लेटे हुए थे। उसी रात गाँव के एक किसान के घर पर चोरी हो गई। चोर किसान के वैल ले गए।

लोग चोर की तलाश मे निकले और खोज करते हुए स्वामीजी के समीप पहुँच गए। स्वामीजी से उन्होंने कई प्रश्न पूछे किन्तु वे अपनी मस्ती मे ही पडे रहे, एक भी प्रश्न का उत्तर नही दिया। परिणाम स्वरूप लोगो ने उन्हे चोर समझ कर खूव पीटा। मार के कारण स्वामी जी के मुँह से खून वहने लग गया पर तव भी वे वैसे ही शात वने रहे। गाँव वालो ने उन्हें पकड कर एक कोठरी मे वन्द कर दिया और सुवह थाने मे ले आए।

थानेदार स्वामी जी को अच्छी तरह जानता था, उनका भक्त भी था। गुरु को इस अवस्था मे देखकर उसे गाँव वालो पर वडा क्रोध आया। अपने सिपाहियो को उसने आदेश दिया—'इन दुष्टो को पकड कर कडी सजा दो।'

गाँव वाले वहुत घवराए और थर-थर काँपने लगे। जव सिपाही उन लोगो को पकडने के लिये आगे वढे तो स्वामीजी ने उन्हे रोका और थानेदार से कहा—'वेटा! अगर तू मेरा सच्चा भक्त है तो इन्हे विल्कुल कष्ट मत दे और उन्हे मिठाई मँगाकर खिला। यह मत भूल कि मेरी ही जैसी आत्मा इनमे भी निवास करती है।'

थानेदार इस विचित्र आज्ञा को सुनकर दंग रह गया और स्वामीजी को वहुत कुछ समझाने का प्रयत्न करने लगा। किन्तु उग्रानन्दजी ने उसकी एक न सुनी और थानेदार से मिठाई मँगवाकर लोगो को खिलाई तथा उन्हे गाँव को सकुशल लौट जाने दिया।

समदर्शिता का यही लक्षण होता है। समदर्शी को सभी प्राणियो मे सर्व-भूतान्तरात्मा का दर्शन होता है। वह अनुभव करता है कि जो मुझ मे है, वही सवमे है। आत्मा मे दोस्त-दुश्मन, धनी-निर्धन, तथा सवल और निर्वल का कोई भेद-भाव नही है। महर्षि वशिष्ठ के शव्दो मे भी यही झलकता है —

सर्वा एव हि ते भूतजातयो राम! वान्धव.।
अत्यन्ता सयुक्ता एतास्तव राम! न कश्चन॥

—योगवाशिष्ठ

अर्थात्—हे राम, ससार के सभी प्राणी तेरे वन्धु हैं, क्योकि ऐसा कोई प्राणी नही है जो तुझसे विलकुल सम्वन्ध न रखता हो।

जिस साधक के जीवन में समभाव का अजस्र स्रोत प्रवाहित रहता है, वह प्रत्येक परिस्थिति में समान भाव रखता है। चाहे उसे व्यापार में लाखों का घाटा हो, या उतना ही नफा हो जाय, चाहे उसके समक्ष सुस्वादु व्यंजन रखे जायें, चाहे नीरस पदार्थ खाने को दिये जायें उसकी भावनाओं में कभी तब्दीली नहीं होगी।

एक साधु एक बार कालीजी के मन्दिर में पहुँचे जहाँ परमहंस रामकृष्ण रहते थे। उस दिन साधु को कहीं से भोजन प्राप्त नहीं हुआ, यद्यपि उन्हें बड़ी भूख लग रही थी। थोड़ी दूर पर एक कुत्ता जूठी रोटी के टुकड़े खा रहा था। साधु झटपट उसके पास पहुँचे और उसे हृदय से लगाकर बोले—"भैया! तुम मुझे खिलाए बिना ही खा रहे हो?" कहकर उसी के साथ खाने लगे। जूठी और घिनौनी रोटी के टुकड़ों को खाने के बाद वे फिर कालीजी के मन्दिर में जा पहुँचे और इतनी भक्ति से माता की स्तुति करने लगे कि सारे मन्दिर में सन्नाटा छा गया।

जब साधु वहाँ से रवाना हुए तो रामकृष्ण परमहंस ने अपने भतीजे हृदयकुमार से कहा—"बेटा! इस साधु के पीछे-पीछे जाओ और यह जो कुछ कहे मुझे आकर बताना।"

हृदय साधु के पीछे-पीछे चल दिया। साधु ने घूमकर देखा तो कहा—"मेरे पीछे क्यों आ रहा है?" हृदय बोला 'महात्मा जी! मुझे कुछ शिक्षा दीजिए।' साधु ने उत्तर दिया—'जब तू इस गंदे घड़े के पानी को गंगाजल के समान समझेगा और जब [illegible] की यह कर्कश आवाज तेरे कानों को [illegible] के समान मधुर लगेगी, तब तू सच्चा ज्ञानी बन सकेगा।'

हृदय ने [illegible] में साधु की बातें कहीं। सुनकर परमहंस बोले—'यह साधु सचमुच ही सच्चा ज्ञानी और समदर्शी है।'

[illegible] विचार यह है कि पूर्ण समभाव रखना ही सच्चे [illegible] में [illegible] रहता है। [illegible] सामायिक ग्रहण करते हैं, उसका अर्थ [illegible] सामायिक [illegible] जिस समभाव में रहने की प्रतिज्ञा करते हैं। [illegible] मन, [illegible] समान ही सामायिक में नहीं रहता तो [illegible] नहीं रहती। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से वह सामा-यिक [illegible] समभाव में न रहकर [illegible] है।

[illegible] यह है कि आपकी सामायिक मन [illegible] शरीर [illegible], [illegible]

तो एक स्थान पर अवस्थित कर लिया, किन्तु मन को सयत नही कर पाये और वह राग-द्वेष, विषय-कषाय, मोह-माया तथा हानि-लाभ आदि नाना प्रकार की भावनाओ से क्रीडा करता रहा तो वह सामायिक खोखली रहेगी, उससे आप कुछ भी लाभ ग्रहण नही कर सकेंगे।

किन्तु इसके विपरीत अगर आपका समभाव अशुभ वृत्तियो और विकारो पर विजय प्राप्त कर लेता है तथा आपका मन चिंतन, मनन, तथा स्वाध्याय आदि मे तन्मय हो जाता है तो आपकी सामायिक ससार के सम्पूर्ण वैभव से भी अधिक मूल्यवान सावित हो जाती है। महाराजा श्रेणिक ने अपने नरक का वंध तोडने के लिये पूणिया श्रावक की केवल एक सामायिक मोल लेनी चाही थी, किन्तु क्या श्रेणिक अपना समस्त ऐश्वर्य देकर भी एक सामायिक ले सका ? नही, शुद्ध भाव से की जाने वाली सामायिक अमूल्य होती है, उसकी तुलना मे धन का अम्वार भी लगा दिया जाय तो वह तुच्छ सावित होता है। सामायिक की साधना के विषय मे महामुनि गौतम भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं :—

'सामाइएण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?'

अर्थात्—भगवन् ! सामायिक करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

भगवान् उत्तर देते हैं —

'सामाइएण सावज्जजोगविरइ जणयइ।'

—उत्तराध्ययन सूत्र।

अर्थात्—सामायिक करने वाले जीव के सम्पूर्ण सावद्य (पापजनक) भोगो का त्याग होता है, अत नवीन कर्मों का वध नही होता तथा पूर्व कर्मो की निर्जरा होती है।

वस्तुत आत्मा की जो वृत्तियाँ अहर्निश अशुभ की ओर जाती हैं, सामायिक उन्हे अशुभ से मोड कर शुभ मे लाती है, और शुभ से शुद्ध मे पहुचाती है। तभी आत्मा निर्भय होकर स्व-स्वरूप मे रमण कर पाती है तथा अवर्णनीय आनन्द की अनुभूति करने मे सक्षम वनती है।

(२) **चतुर्विशतिस्तव**—यह आवश्यक का दूसरा अध्ययन है। आत्म-साधना करने वाले साधक को प्रतिदिन संध्या के समय अपने दैनिक जीवन पर दृष्टिपात करना चाहिये। देखना चाहिये कि वासना और कषाय की दुर्वृत्तियो ने आत्म-स्थिति मे कितना विक्षेप किया है, तथा आत्मा की शुद्ध स्थिति को अशुद्धता ने कितना मलिन वनाया है ? आत्म-निरीक्षण की यह प्रक्रिया ही प्रतिक्रमण कहलाती है। प्रतिक्रमण मे प्रथम सामायिक आवश्यक है और उसके वाद वीतराग की स्तुति। सामायिक अर्थात् समभाव मे स्थित होने के वाद

ही साधक एकाग्रता पूर्वक अरिहन्तो तथा वीतरागो की स्तुति कर सकता है। समभाव के अभाव मे की जाने वाली प्रार्थना मे केवल वाणी बोल पाती है, मन साथ नही देता, और मन के साथ न देने पर केवल वाणी के द्वारा की गई प्रार्थना का कोई महत्त्व नही होता उससे आत्म-शुद्धि नही हो सकती। इसीलिये महात्मा कबीर ने कहा है :—

सुमिरन सुरत लगाइके, मुख तें कछून न बोल।
बाहर के पट देइ के, अन्तर के पट खोल॥

अर्थात्—कबीर की सीख अत्यन्त मार्मिक और यथार्थ है। इन्होंने साधक को चेतावनी दी है कि तू मुँह से भले ही कुछ मत बोल, किन्तु मन को पूर्ण सयत करके तन्मयतापूर्वक ईश-स्मरण कर। बाह्य संसार से मन को खीचकर अन्तर्मानस की श्रद्धा को जगा और मानस-जाप कर, तभी तेरी प्रार्थना सच्ची प्रार्थना कहलाएगी।

आध्यात्मिक क्षेम में शब्दो का उतना महत्व नही होता जितना हृदय का होता है। इसलिये ईश-प्रार्थना अथवा स्तुति मे शब्दो के संगीत की अपेक्षा हृदय का सगीत होना आवश्यक है। जिस प्रार्थना मे हृदय के स्वर नही हैं वह चाहे कितने भी मधुर स्वर, लय, तान और आलाप सहित गाई जाए, उसका कोई मूल्य नही है। वह प्रार्थना प्राण-रहित प्रार्थना है। सम्पूर्ण मनोयोग पूर्वक की जाने वालो प्रार्थना हृदय मे श्रद्धा की अनुपम ज्योति जगाती है, जिसके दिव्य प्रकाश से अज्ञानान्धकार का नाश होता है। चतुर्विंशति-स्तव के विषय मे गौतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न किया :—

'चउव्वीसत्थएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?'

अर्थात्—भगवन् ! चौबीस अरिहन्तो की स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर था :—

'चउवीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।'

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्—चौबीस तीर्थंकरो के गुणो का कीर्तन करने से मिथ्यात्व मोहनीय का क्षय होता है तथा दर्शन (सम्यक्त्व) मे विशुद्धि आती है। तीर्थंकरो के गुणो मे अनुराग होने से जीव को उन गुणो की प्राप्ति होती है और वह अल्प-काल मे संसार-मुक्त हो जाता है।

मिथ्यात्व का अन्धकार दर्शन-गुण की ज्योति को मद कर देता है किन्तु प्रार्थना का उज्ज्वल प्रकाश सम्यक्त्व को निर्मल और तेजस्वी बनाता है।

वीतरागों की स्तुति मानव को मिथ्यात्व के क्षेत्र से निकालकर सम्यक्त्व के आलोकमय क्षेत्र में पहुचा देती है। प्रार्थना के द्वारा ही साधक प्रभु से मिलता है, उनके वीतराग-जीवन का साक्षात्कार करता है तथा उनके ज्योतिर्मय जीवन को आदर्श मानकर अपने जीवन की वासना और कलुषता को दूर करने का प्रयत्न करता है।

अथर्ववेद मे (८। १९) बताया गया है कि भक्त किस प्रकार भगवान् के गुणों को प्राप्त करने के लिए उन्ही से प्रार्थना करता है —

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
वीर्यमसि वीर्य मयि धेहि।
बलमसि बल मयि धेहि।
ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्यु मयि धेहि।
सहोऽसि सहो मयि धेहि।

अर्थात्—हे भगवन्! आप तेज-स्वरूप हैं मुझे तेजस्वी बनाइये। आप वीर्यमान हैं, मुझे वीर्यमान बनाइये। आप बलस्वरूप हैं, मुझे भी बलवान बनाइये। आप अनौचित्य का प्रतिकार करने मे समर्थ हैं, मुझे भी वह सामर्थ्य प्रदान कीजिये। तथा आप विरोधियो का दमन करने वाली जिस शक्ति के प्रतीक हैं वह शक्ति मुझे भी दीजिये।

प्रार्थना मे अपार शक्ति होती है। उसके द्वारा विचार शुद्ध एव सयत होते हैं,सात्विक गुणो की वृद्धि होती है तथा हृदय मे दैवी भावनाओ का सचार होता है। वीतरागो के दिव्य गुणो का स्मरण करने से आत्मा मे दिव्यता, निर्भयता और पवित्रता आती है। किन्तु यह सब तभी हो सकता है, जब कि प्रार्थना अन्त करण की सम्पूर्ण श्रद्धा, विश्वास एव तन्मयता के साथ की जाय, केवल जिह्वा के द्वारा नही। अगर प्रार्थना के समय मन ने जिह्वा का साथ नही दिया तो कबीर के विचारानुसार वह ईश-स्मरण कदापि नहीं होगा —

माला तो कर मे फिरै, जीभ फिरै मुख माँहि।
मनुवा तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाँहि॥

एक छोटा सा उदाहरण है, जिससे यह बात और भी स्पष्ट होती है—सुलतानपुर के बादशाह ने एक बार गुरु नानक से कहा—'तुम इस्लाम-धर्म सम्बन्धी लम्बी-चौडी बाते करते हो, इसलिये आज मेरे साथ नमाज पढो।'

गुरु नानक ने सहर्ष नमाज पढना स्वीकार कर लिया। किन्तु जब बादशाह नमाज पढने लगे तो नानक उठकर एक ओर खडे हो गए। बादशाह

ने नमाज पढ चुकने के बाद गुरु नानक से कहा—'तुमने मेरे साथ नमाज क्यों नही पढो ?'

गुरु नानक ने उत्तर दिया—"तुम यहाँ थे ही कब, जो मैं तुम्हारे साथ नमाज पढता। तुम्हारा मन काबुल मे घोडे खरीदने मे व्यस्त था और मौलवी साहब अपने बछडे की चिन्ता मे थे कि कही बछडा कुँए मे न गिर जाय।"

नानक जी की बात सुनकर बादशाह बडे शर्मिन्दा हुए और अपनी नमाज पढने की थोथी क्रिया पर पश्चात्ताप करने लगे।

वास्तव मे, ईश्वर की प्रार्थना या उपासना करते समय मन एकाग्र होना चाहिये। प्रार्थना के समय मे भी यदि मन सासारिक कार्यों मे भटकता रहे तो वह प्रार्थना फल-प्रद नही होती। सामायिक के द्वारा समभाव धारण करने के पश्चात् ही चतुर्विशति-स्तव के रूप मे साधक चिंतन करे तथा वीतरागो के महान् गुणो को अपनाने का शुभ सकल्प करे।

(३) **वंदना**—समभावपूर्वक तीर्थंकरो की स्तुति करने के पश्चात् साधक गुरु को वदन करे यह तीसरी आवश्यक क्रिया है। अपनी दिन भर की भूलो, तथा कृत-पापो की आलोचना सध्या के समय गुरु के समक्ष की जाती है, और जिनके समक्ष पापो की आलोचना करके आत्मा को शुद्ध किया जाता है, उनके प्रति अटूट श्रद्धा होना अनिवार्य है। अगर गुरु के प्रति पूर्ण विश्वास और श्रद्धा न हो तो उनके समक्ष मन की ग्रन्थियो को खोजना सभव नही है अत साधक के लिये आवश्यक है कि वह अपने हृदय को सरल, सहज और सच्चाई से आप्लावित करके गुरु के समीप जाए और उन्हे वदन करे। निष्कपट हृदय से किया हुआ वदन आत्मा को शुद्धता की ओर ले जाता है। उत्तराध्ययन सूत्र मे वदना के सबध मे भगवान् महावीर और गणधर गौतम के बीच मे हुए प्रश्नोत्तर का वर्णन है —

"वदणएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?"

अर्थात्—हे भन्ते ! गुरु को वदना करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर है —

"वदणएण नीयागोय कम्म खवेइ, उच्चागोयं निबंधइ, सोहग्गं च ण अप्पडिहय आणाफल निवत्तेइ, दाहिणभाव च ण जणेइ।"

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्—गुरु की भक्ति पूर्वक वदना करने से जीव नीचगोत्र का बध नही करता, यदि पहले नीच गोत्र का वंध हो गया हो तो उसका क्षय करता है,

उच्च कुल मे जन्म लेकर सुन्दर शरीर पाता है, सबके अनुकूल होने के कारण लोग उसकी आज्ञा मानते है और प्रशंसा करते है तथा अपने को लघु समझने वाला वह जीव कर्मों से हलका होकर सिद्धालय को प्राप्त करता है।

सम्राट श्रेणिक ने एक बार भगवान् महावीर तथा उपस्थित अन्य मुनियो को वदन किया। वदन करते समय उनकी भावनाएँ इतनी निर्मल और श्रद्धा-भक्ति मे ओत-प्रोत रही कि उनके सातवी नरक से लेकर छ नरको के बंध टूट गए, केवल एक नरक का बंध शेष रहा। क्षायिक सम्यक्त्व के धारी यही सम्राट श्रेणिक आगामी चौवीसी मे प्रथम तीर्थंकर बनेंगे।

यह उदाहरण वदन की अलौकिक शक्ति का है। उत्तम भावनाओ के साथ किया जाने वाला वदन आत्मा को अनेकानेक कर्म-बन्धनो से मुक्त करने की क्षमता रखता है। ऋग्वेद मे भी वदना अथवा नमस्कार को बडा भारी महत्व दिया गया है इसमे भक्त की भावना का चित्रण इस प्रकार है —

नम इन्दुदग्र नम आ विवासे, नमोदाधार पृथिवीमुतद्याम्।
नमो देवेभ्यो नम ईश एषा, कृत चिदेनो नमसा विवासे॥

—ऋग्वेद

अर्थात्—नमस्कार सबसे बडी वस्तु है, इसलिये मैं नमस्कार करता हूँ। नमस्कार ही स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है, इसलिये मैं देवो को नमस्कार करता हूँ। देवता लोग नमस्कार के वशीभूत हैं, इसलिये मैं किये हुए पापो का नमस्कार के द्वारा प्रायश्चित्त करता हूँ।

नम्रतापूर्वक किया गया नमस्कार करने वाले के हृदय की सरलता और पवित्रता का सूचक होता है। कहा भी है —

I believe the first test of truly great man is his humility

—रस्किन

अर्थात्—मेरा विश्वास है कि वास्तविक महान् पुरुष की पहली पहचान उसकी नम्रता है —

जब तक हृदय मे नम्रता नही आती, वदन करने का कोई महत्त्व नही होता। हाथ तो एक नौकर भी अपने मालिक के समक्ष जोडता है, किन्तु उस नमस्कार मे श्रद्धा का लेश भी नही होता और न ही कही नम्रता की झलक दिखाई देती है। ऐसा नमस्कार करना न करने के समान होता है। हाथ जोडने के साथ यदि मन न जुडे, और मस्तक झुकने के साथ अगर हृदय न झुके तो उस नमस्कार का एक कौडी के बराबर भी मूल्य नही आका जा सकता। वह केवल अहकार का परिचायक होता है। और अहंकार ... ...

मन मे स्थान किये रहता है, मानव कभी महामानव नही बन सकता। अहकार के गलने पर ही पुरुष, महापुरुषो की श्रेणी मे आ सकता है।

गुरु नानक एक बार देशाटन करते हुए मक्का शरीफ पहुँचे। बहुत थके हुए थे अत काबे के सामने ही विश्राम करने के लिए लेट गए। संयोग से उनके पैर काबे की ओर थे। उसी समय वहाँ कुछ अन्धभक्त लोग आए। उन्होने नानक को ठोकरे मार कर जगाया और कहा—'काफिर, तू खुदा के घर के सामने पैर फैलाकर पवित्र स्थान का अपमान करता है ?'

लोगो के दुर्व्यवहार से गुरु नानक तनिक भी अशान्त या क्रोधित नही हुए। उन्होने लेटे ही लेटे अत्यन्त नम्रतापूर्वक कहा—'बंधुओ ! नाराज मत होओ। तुम खुशी से मेरे पैर उधर कर दो जिधर खुदा न रहता हो।'

गुरु नानक की नम्रता और उनके वचनो की गूढता को समझते ही लोग पानी-पानी हो गए तथा हाथ जोडकर क्षमा माँगने लगे।

यह नम्रता का ही प्रभाव था जिसने अध श्रद्धालु भक्तो के गर्व को नष्ट करके गुरु नानक के महत्व को बढा दिया। मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि, गुणज्ञ पुरुषो और गुरुओ को पूर्ण नम्रता और श्रद्धापूर्वक नमस्कार करना चाहिये, तभी हम उनके गुणो को ग्रहण कर सकते है। नम्रता के अभाव मे शिष्य गुरु से न तो ज्ञान प्राप्त कर सकता है और न ही उनके स्नेह का अधिकारी बनने मे समर्थ हो सकता है। नम्रता और विनय का उपहार लेकर जाने पर ही गुरु के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार एक ग्वाला स्नेह का उपहार देकर गाय से दूध लेता है।

नमस्कार किसी लोभ या स्वार्थ को लेकर नही किया जाना चाहिये। आजकल ऊँची डिगरी, ऊँची सर्विस अथवा किसी ऐसे ही अन्य प्रकार के स्वार्थ साधन के लिये भी अपने से उच्च स्थिति वालो को नमस्कार, और उनके प्रति भक्ति का थोथा प्रदर्शन किया जाता है। ऐसा नमस्कार केवल क्रिया-मात्र होता है। स्वार्थ-साधन के लिये किया गया नमस्कार आत्मा को उन्नति की ओर न ले जाकर अवनति की ओर ढकेलता है।

इसलिये, आत्मोत्थान के आकाक्षी साधक को पूर्ण अनुराग, श्रद्धा और भक्तिपूर्वक गुरु को वदन करना चाहिये तथा सध्याकाल मे हृदय की सम्पूर्ण सरलता और सहजता के साथ उनके सम्मुख अपने पापो की आलोचना करते हुए अपनी आत्मा को दोष-भार से हलकी बनानी चाहिये। ऐसा करने पर ही आत्मा अशुभ मे शुभ की ओर मुडती है तथा अनेकानेक कर्म-बन्धनो को तोडती हुई ऊँचाई की ओर अग्रसर होती है।

(४) **प्रतिक्रमण**—साधक एकाग्र होकर अपने दैनिक जीवन पर दृष्टिपात करता है, तथा अपनी ली हुई प्रतिज्ञाओ को दोहरा कर उसमे लगे हुए अति-चारो का स्मरण करता है। उसके पश्चात् गुरु को वंदन करके उनके समक्ष अपने पापो की आलोचना करता है, यह आलोचना ही प्रतिक्रमण का मूल अथवा प्राण है। प्रतिक्रमण करते समय केवल पाठो का पढ लेना ही प्रति-क्रमण नही कहलाता, अपितु अपने पापो के प्रति पश्चात्ताप की भावना जगाना ही सही माने मे प्रतिक्रमण कहलाता है।

अनेक व्यक्ति सोचते हैं कि दिन भर मे चाहे जितने पाप किये जाएँ संध्या को "**मिच्छामि दुक्कड**" का उच्चारण करते ही वे सब समाप्त हो जाते हैं। इतना ही नही, वे तो वर्ष भर के पापो को भी सवत्सरी के दिन प्रतिक्रमण करके धो देना चाहते हैं। यह उनकी बडी भूल है। पाप इतने हलक नही होते कि "**मिच्छामि दुक्कड**" का उच्चारण करते ही उड जायें। पापो को अथवा वर्ष भर तक उन्हे छिपाए रखने से वे निष्क्रिय बने रहे। क्योंकि जब तक मनुष्य छिपाए रहेगा, वे काँटे बनकर हृदय मे चुभते रहेंगे मनुष्य दूसरो को धोखा दे सकता है, अपनी आत्मा को नही। इसीलिये कहा जाता है:—

"पापी पापेन पच्यते।"

अर्थात् पापी अपने पाप से ही व्यथित होता रहता है।

पापो की स्मृति पापो से भी अधिक भयानक होती है, तथा एक पाप दूसरे पापो के लिये भी मार्ग बना देता है। अर्थात्—मानव जब एक बार पाप के नागपाश मे फँसता है उसमे और भी लिपटता चला जाता है। और इस प्रकार वह पापी की शृंखला-सी बन जाती है।

इसलिये पाप रूप काँटे को अविलम्ब निकाल देने के लिये ही हमारे यहाँ प्रतिक्रमण का विधान है। दिन भर मे हुए पापो के लिये संध्या के समय प्रतिक्रमण तथा हृदय से पश्चात्ताप करने से ही मन का शल्य दूर हो सकता है। पाप की जो कालिमा गगा नदी के सैकडो मन पानी से भी नहीं धुलती, वही पश्चात्ताप के आँसुओ से सहज ही धुल जाती है। पश्चात्ताप का अर्थ है, पुन: पाप न करने की प्रतिज्ञा करना। अगर व्यक्ति पश्चात्ताप के साथ-साथ यह प्रतिज्ञा नही करता तो उसके पश्चात्ताप का कोई मूल्य नही रह जाता।

कुछ व्यक्ति सोचते है कि [illegible] मे अपनी भूल को सबके सामने प्रकट करूँगा तो लोग मेरा उपहास और अपमान करेंगे। उनका यह सोचना उचित नही है। पाप को प्रकट करके दूसरो का उपहास [illegible] करने की [illegible]

को छिपाकर अपनी आत्मा के द्वारा तिरस्कृत होना अधिक कष्टदायक होता है। इसके अलावा प्रगट किए गए पाप की अपेक्षा छिपाया हुआ पाप आत्मा का अधिक पतन करता है। कहा भी है :—

"कृत्वा पाप न गूहेत, गूहमानं विवर्धते।"

अर्थात्—पाप करके उसको मत छिपाओ, क्योंकि छिपाया हुआ पाप बढता ही रहता है।

एक पाप को दबाने का प्रयास करना ही अनेक पापो को प्रश्रय देना है। क्योकि एक पाप को छिपाने के लिये मानव को अनेक और पाप करने पडते हैं। इसलिये आत्म-शुद्धि के इच्छुक साधक को यह प्रयत्न करना चाहिये कि वह पाप को कदापि छिपाने का प्रयत्न न करे वरन् जो पाप हो चुका है उसके लिये हृदय से पश्चात्ताप करे। पश्चात्ताप की आग नए पापो के निर्माण को तो रोकेगी ही, साथ ही जो हो चुका है उस पाप को भी भस्म कर देगी। यही प्रतिक्रमण का फल है। प्रतिक्रमण क्या है और आत्मा पर उसका क्या प्रभाव पडता है, इस विषय मे गौतम ने श्री वीर प्रभु से प्रश्न किया :—

"पडिक्कमणेणं भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?"

अर्थात्—भगवन् ! प्रतिक्रमण से जीव को क्या लाभ होता है ? उत्तर दिया गया है :—

पडिक्कमणेण वयछिद्दाणि पिहेइ, पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबल चरित्ते अट्ठसु पवयण-मायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहिरइ।'

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्—प्रतिक्रमण के द्वारा साधक व्रत के छिद्रो को रोकता है। प्रमादाचरण के द्वारा व्रतो मे जो दोष लगते है, प्रतिक्रमण के द्वारा वे दूर किये जाते हैं। तथा पाँच समिति, तीन गुप्ति रूप सयम मे लवलीन हुआ मुनि निर्मल चरित्र से भूषित होकर निज स्वरूप को प्राप्त करता है।

बधुओ ! व्रतो के छिद्रो से क्या अभिप्राय है यह शायद आप न समझ पाए होगे। व्रतो के छिद्र का अर्थ है, ली हुई प्रतिज्ञाओ मे भूल रूपी दोष लगना। यह तो आप जानते ही है कि कभी-कभी छोटी सी भूल भी बडे अनर्थ का कारण बन जाती है। नाव मे अगर छोटा सा छिद्र हो जाय, और नाविक उसकी उपेक्षा कर दे तो क्या नाव समस्त यात्रियो को नही ले डूबेगी ? इसी प्रकार किए हुए व्रत मे भले ही प्रारम्भ मे छोटा सा ही दोष क्यो न लगा हो, कालान्तर मे क्या वही बडा बनकर सम्पूर्ण व्रत को ही खत्म नही करेगा ? अवश्य करेगा। इसलिये साधक को छिद्र रूपी दोष से पूर्ण सावधान रहना

चाहिये तथा उसके होते ही प्रतिक्रमण एव पश्चात्ताप के द्वारा भूल-सुधार करते हुए पुन वैसा न हो पाए इसका प्रयत्न करना चाहिये।

एक सेठ की लघु कथा आपने सुनी होगी। एक रात जब वह सो रहा था एक चूहा उसके शरीर पर से दौड गया। सेठ ने शोर गुल मचाकर घर भर को एकत्र कर दिया और बडी चिन्ता व्यक्त करने लगा। परेशानी का कारण जब उसने अपने परिवार को बताया तो सब हँसने लगे कि एक चूहा भी क्या इतनी चिन्ता का कारण होता है ?

किन्तु सेठ ने गम्भीरतापूर्वक कहा—तुम लोगो मे समझ का अभाव है। चिन्ता मुझे चूहे के आने से नही है वरन् चूहे के आजाने वाले मकान के उस छिद्र से है, जिसमे से कल सर्प भी आ सकता है।

सेठ की चिन्ता आपके भी उपहास का कारण हो सकती है, किन्तु थी वह यथार्थ। चूहे के आने के मार्ग मे साँप भी तो आ सकता था। हमे ऐसी ही चिन्ता अपनी छोटी सी भूल के लिये भी होनी चाहिये कि एक भूल हृदय की जिन अशुभ भावनाओं के कारण हुई है उन्हीं भावनाओ के द्वारा अन्य छोटी-बडी भूले भी हो सकती हैं।

इसलिए जिस प्रकार व्यवसायी व्यक्ति प्रतिदिन सध्या के समय अपनी आय-व्यय का लेखा-जोखा करता है उसी प्रकार आध्यात्म-साधना करने वाले साधक को भी सायकाल के समय अपनी अशुभ क्रियाओ का जोड-तोड करना आवश्यक है। उसे देखना चाहिये—आज मेरी आत्मा ने कितनी बार व्रत भग किया ? कषाय की ज्वालाएँ कितनी बार उठीं और उन्होंने दूसरो का कितना अहित किया ? क्रोधावेश मे मैंने कैसे-कैसे शब्दो का प्रयोग किया ? प्रमाद के कारण मेरी साधना मे कहाँ तक स्खलना आई ? अपनी साधना के अहकारवश मैंने दूसरो का उपहास तो नहीं किया ? राग ने कितनी बार मेरी आत्मा को छुआ ? और विकारो ने मेरी स्वभावदशा को कितनी बार विकृत किया ?

इस सबका लेखा-जोखा ही प्रतिक्रमण है। अगर यह सही तौर पर किया जाता है तो की हुई गलतियो के लिये पश्चात्ताप हुए बिना नहीं रह सकता। पश्चात्ताप आत्मा के कलुष को धो डालता है तथा साधक के जीवन को निखार कर सच्ची साधना के योग्य बनाता है। आवश्यक यही है कि वह अपने व्रत के एक-एक छिद्र को ढूँढने का संकल्प रखे। क्योंकि उन्हीं छिद्रो के द्वारा आश्रव को प्रवेश करने का मार्ग मिलता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार चूहे के आने वाले मार्ग से सर्प आ सकता है। लेकिन साधक अगर सत्यतापूर्वक

व्रतो के इन छिद्रो को वद कर दे, तो कर्मो के आश्रव का मार्ग वद हो जाता है। यही प्रतिक्रमण का सार है।

(५) **कायोत्सर्ग**—मुमुक्षु साधक अपने पापो की आलोचना करके पश्चात्ताप द्वारा अन्त करण के शल्यो का नाश करता हैं उसके बाद प्रायश्चित्त स्वरूप कायोत्सर्ग करता है। प्रायश्चित्त से पूर्व उसके मन मे सकल्प और विकल्प विद्यमान रहते है किन्तु प्रायश्चित्त के पश्चात् उसके मन की अस्थिरता और विकलता समाप्त हो जाती है तथा वह प्रशस्त ध्यान की ओर बढता है।

कायोत्सर्ग का अर्थ है—काया का उत्सर्ग करना, अर्थात् देह पर से ममत्व हटा लेना। जब तक देह के प्रति ममत्व का भाव रहता है तब तक साधक आत्म-साधना मे तन्मय नही हो सकता। अपनी अनादिकालीन मूढता के कारण यह जीवात्मा अपने चिर-प्रकाशमान, शाश्वत, चैतन्य और परम अतीन्द्रिय सुख को भूल चुका है तथा परकीय, अशुचि चैतन्य शून्य शरीर तथा पराधीन इन्द्रिय-सुख मे विचरण कर रहा है। विवेकी जन जीवात्मा की इस उन्मार्गगामिता एवं मूढता पर खेद करते हुए उसे आत्म-भान कराने का प्रयत्न करते है। वे कहते है :—

"जीव ! तू मूढपना कित पायो ?
अशुचि, अचेत, दुष्ट तन माहीं, कहा जान विसरायो ?
परम अतिन्द्री निज सुख हरि के, विषय रोग लपटायो।
जीव ! तू मूढ़पना कित पायो ?

कवि का अभिप्राय जीव को यही उद्बोधन देना है कि जब तक तू इस नश्वर शरीर को सुख पहुँचाने मे निमग्न रहेगा, तब तक अपने अतीन्द्रिय और निजी सुख को प्राप्त नही कर सकेगा। जब शरीर पर से तेरा मोह हट जाएगा तथा तू विषय-विकारो से सर्वथा मुक्त हो जाएगा, तभी शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकेगा।

जब तक इस क्षण भगुर देह पर से आसक्ति समाप्त नही होती, इसका मोह नही छूटता, तब तक साधक की आत्मा मुक्ति पथ पर नही चल सकती। इसका अर्थ यह कदापि नही है कि देह का विसर्जन कर दिया जाए। शरीर का छूट जाना ही मोक्ष नही है। इस प्रकार का मोक्ष तो अनन्त बार हो चुका है। वास्तविक मोक्ष तब होता है, जबकि अनन्त काल से आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्म दूर हो जाएँ, आत्मा विकारा से सर्वथा मुक्त हो जाए। शरीर आत्म-साधना के लिए आवश्यक है, आवश्यक ही नही अनिवार्य है। यह एक

ऐमा माध्यम है जिमके द्वारा साधक मोक्ष प्राप्ति के लिये साधना करता है। कहा भी है —

"धर्मार्थकाममोक्षाणाम् मूलमुक्त कलेवर।"

अर्थात्—धर्म का, धन का, विविध इच्छाओं का और मोक्ष का माधन यह शरीर ही है। —धर्म-कल्पद्रुम

एक व्यक्ति नदी पार करना चाहता है, इम किनारे मे उस किनारे पर पहुचने की उसकी यह उत्कट अभिलाषा है। किन्तु वह जाएगा कैमे ? नाव के द्वारा ही न ? इसी प्रकार माधक भवमागर को पार करके मुक्ति-रूप अगले किनारे पर पहुँचना चाहता है पर वहाँ तक पहुचे कैसे ? सीधा उपाय है, साधना-रूपी पतवारो से शरीर रूपी नाव को चलाते हुए। किमी कवि ने इम विषय मे सत्य कहा है —

भवसागर से पार उतरने को शरीर नौका है।
मानव-भव शाश्वत सुख पाने का अनुपम मौका है।

तो, शरीर के महत्व को आप समझ गए होंगे, किन्तु इसमे भी महत्वपूर्ण बात अब समझने की है। वह यही कि जिम प्रकार नदी पार करने वाला यात्री, अगले किनारे की ओर लेजाने वाली नाव को अपनी नही समझता, उसमे मोह नही रखता तथा किनारे पर पहुँचते ही उमे त्याग देने की भावना रखता है। ठीक उसी प्रकार भवमागर मे चलने वाली देह रूपी नाव को माधक अपनी न ममझे, उसमे आसक्ति न रखे तथा लक्ष्य प्राप्ति के साथ-साथ उसको त्याग देने की भावना रखे। अगर वह ऐसा नही करता है, अर्थात उसकी दृष्टि अपने मुक्ति-रूप लक्ष्य की ओर न रहकर देह-रूप नौका पर ही जमी रहती है, देह मे अत्यधिक गृद्धता के कारण उसके छूट जाने की कल्पना मात्र से ही वह काँपने लग जाता है तो प्रथम तो वह दिशा भूलकर इतस्तत भटक जाएगा, दूसरे अपनी आसक्ति के कारण इतने नवीन कर्म बाँध लेगा कि पुन पुन देह प्राप्त करके भी यह भवमागर पार नही कर पाएगा।

इसलिए आवश्यक है कि माधक शरीर से मोह-ममता न रखते हुए अन-वरत आत्म-भावना करे तथा जो भी उपसर्ग और परीषह आएँ उन्हे दृढ आत्म-शक्ति द्वारा सहन करे। सोमिल ब्राह्मण ने बाल-मुनि गज सुकुमाल के मस्तक पर धधकते हुए अगारे रख दिये थे। किन्तु गज सुकुमाल मुनि ने आत्म-शक्ति की दृढता तथा देह के प्रति निरासक्त भाव का ऐसा उज्ज्वल परिचय दिया कि अनन्त-अनन्त जन्मो मे भी पार न होने वाला भव मागर

कुछ मिनिटो मे ही पार हो गया। यह है देह के प्रति ममत्व-हीनता का अनूठा उदाहरण। एक उर्दू के कवि ने यही बात बडे सरल शब्दो मे कही है •—

फकीरो से सुना है हमने 'हातिम'।
मजा जीने का मर जाने मे देखा॥

देहाध्यास समाप्त हो जाने पर ही साधक की आत्मा मे परीषहो को सहन करने की शक्ति बढती है। शरीर के कष्ट उसे अपने कष्ट नही मालूम होते। यही कायोत्सर्ग की मूल भावना है। कायोत्सर्ग के विषय मे गणधर गौतम का प्रश्न था •—

"काउसग्गेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?"

अर्थात्—भगवन् ! कामोत्सर्ग के द्वारा आत्मा किस आनन्द की अनुभूति करता है ?

उत्तर दिया गया—

"काउसग्गेण तीय पडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ, विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरिय भरुव्व भारवहे पसत्थधम्मझाणोवगए सुहं-सुहेण विहरइ।"

अर्थात्—कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मा अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्त से विशुद्ध हो जाता है। जैसे बोझे से लदे हुए मनुष्य का बोझा उतर जाने पर वह सुखी होता है, उसी प्रकार अतिचार रूप बोझा उतर जाने पर उत्तम धर्मध्यान मे लीन हुई आत्मा इस लोक और परलोक मे सुखी होती है तथा क्रमश मोक्ष-सुख को प्राप्त करती है।

शरीर पर का बोझ उतर जाने से मन को जितनी प्रसन्नता होती है उसकी अपेक्षा अनेक गुनी अधिक प्रसन्नता अतिचारो का बोझ उतर जाने से आत्मा को होती है। मन की विकृत दशा एक ऐसा बोझ है जिसका कोई तोल नही होता, क्योकि वह आत्मा पर गुप्त बोझ है। किन्तु यही बोझ आत्मा को पतन के मार्ग पर अग्रसर करता है और नाना-प्रकार की दुर्गतियो का कारण बनता है। जिस क्षण यह बोझ आत्मा से अलग होता है, वह हलकापन महसूस करती है तथा प्रशस्त ध्यान को अपनाती है। धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान प्रशस्त ध्यान है, इन्हे ध्याने वाला साधक ही ससार से मुक्त हो सकता है।

(६) **प्रत्याख्यान**—अभी-अभी मैंने आपको बताया है कि कायोत्सर्ग के द्वारा साधक अपनी आत्मा को अतीत और वर्तमान के दोषो से मुक्त कर लेता है।

किन्तु भविष्य की समस्या उसके सामने बनी रहती है। अत वह भविष्य मे दोष न हो ऐसा प्रयत्न करता है। भविष्य मे दोष न हो इसके लिये प्रत्याख्यान का आश्रय लेना पडता है। प्रत्याख्यान भविष्य के दोषो को रोकता है। दूसरे शब्दो मे, वह इच्छाओ का निरोध करता है, क्योकि इच्छाओ का निरोध किये बिना प्रत्याख्यान नही होता।

प्रत्याख्यान के अभाव मे पर-पदार्थो पर आसक्ति बनी रहती है और यह आसक्ति कर्मो के आश्रव का जारी रखती है। स्वामी राधाकृष्ण का कथन है —

"जब तक इच्छा का लवलेश भी विद्यमान है, ईश्वर का दर्शन नही हो सकता, इसलिए अपनी छोटी-छोटी इच्छाओ एव सम्यक् विचार और विवेक द्वारा बडी-बडी इच्छाओ का त्याग कर दो।"

हमारी भारतीय सस्कृति के अनुसार जीवन की सफलता भोग मे नही, वरन् त्याग मे मानी जाती है। ससार मे अब तक, किसी जीव ने कर्म मे, धन से अथवा सन्तान से मोक्ष प्राप्त नही किया है, किया है तो एक मात्र त्याग से। साधना के क्षेत्र म ज्ञान का बडा भारी महत्त्व है। कहा भी है —

"न हि ज्ञानात्पर चक्षु।"

अर्थात्—भौतिक पदार्थो और आध्यात्मिक तत्त्वो के स्वरूप को समझने के लिये ज्ञान के अतिरिक्त दूसरी कोई आँख इतनी शक्तिशाली नही हो सकती है।

वास्तव म, बुद्धि की निर्मलता और पवित्रता ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होती है तथा आध्यात्मिक साधना मे ज्ञान ही प्रबल और प्रचड शक्ति है, किन्तु हमारी श्रमण सस्कृति ज्ञान की अपेक्षा भी त्याग को अधिक महत्त्व देती है। उदाहरण के लिये तीर्थङ्कर अपने जन्म काल से ही तीन ज्ञान लेकर आते है किन्तु जब तक वे त्याग-रूप चारित्र को ग्रहण नही करते, अर्थात् गृहस्थ दशा मे रहते है, मुनि उन्हे वदन नही करते। यह आगमोल्लेखित सिद्धान्त है। भले ही मुनि मे दो ज्ञान है और तीर्थङ्कर उनसे एक अधिक रखते है पर जब तक वे चारित्र धर्म के धारी नही हो जाते मुनियो के लिये वदनीय नहीं हो सकते। इसी प्रकार, एक देव भी ज्ञान के क्षेत्र मे मुनि से आगे होता है अर्थात् वह अवधि ज्ञान भी रखता है किन्तु प्रत्याख्यान का अभाव होने के कारण वह भी मति और श्रुत इन दो ज्ञानो के धारी मुनि को नमस्कार करता है। क्योकि मुनि त्यागी अर्थात् चारित्र-धर्म के धारक होते है।

त्याग के चमत्कार को एक और भी उदाहरण से आप जान सकते है— जैसे किसी विशाल साम्राज्य के अधिपति सम्राट के चारित्र ग्रहण करने मे कुछ घण्टे पूर्व ही उनका सेवक चारित्र धर्म को अगीकार कर लेता है तो जीवन भर गुलामी करने वाले गुलाम को कुछ घण्टे पश्चात् ही दीक्षा लेने वाले सम्राट वदन-नमस्कार करेंगे। कितनी महत्ता है त्याग-धर्म की, अथवा प्रत्याख्यान का ? प्रत्याख्यान के विषय मे भी गौतम प्रश्न करते हैं :—

"पच्चक्खाणेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?"

अर्थात्—हे भन्ते ! प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर मिलता है :—

"पच्चक्खाणेण आसवदाराइं निरुभइ, पच्चक्खाणेण इच्छानिरोहं जणयइ, इच्छानिरोह गए य ण जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीईभूए विहरइ।"

—उत्तराध्ययन सूत्र अ २६

अर्थात्—प्रत्याख्यान से आत्मा आश्रव द्वारो का अवरोध करता है, इससे पदार्थों मे राग-द्वेष नही होता तथा हिसा आदि पाप नही होते। प्रत्याख्यान इच्छा का निरोध करता है और इच्छाओ के रुक जाने से समस्त द्रव्यो की लालसा रूपी अग्नि का नाश होता है। इसलिये जीव शॉत-चित्त होकर सुखपूर्वक विहार करता है।

शास्त्र की इस गाथा से स्पष्ट हो जाता है कि जब तक आश्रव द्वारो को नहीं रोका जाता तब तक कर्मों का स्रोत आत्मा मे आता ही रहता है। अर्थात् जब तक किसी पदार्थ के लिये प्रत्याख्यान नही किया जाता, उस पर से आसक्ति नही हटाई जाती, तब तक कर्म-बधन होता ही रहता है।

प्रत्याख्यान की इच्छा का निरोध भी करता है, क्योकि इच्छा को सीमित किये बिना प्रत्याख्यान नही हो सकता। इसके द्वारा साधक अपनी इच्छाओ पर अकुश लगाता है और अकुश के परिणाम स्वरूप जिन पदार्थो को वह त्याग देता है, वे उसके मन मे मोह तथा लोभ पैदा नही करते। प्रत्याख्यान का सबसे बडा लाभ यह होता है कि मन को लालसा-जन्य चचलता समाप्त हो जाती है तथा साधक अपने आप मे सतुष्टि का अनुभव करता है। एक पाश्चात्य दार्शनिक ने भी कहा है :—

"In moderating, not in satisfying desires, lies peace."

—हेबर

अर्थात्—इच्छाओ को सतुष्ट करने से नही, अपितु उन्हे परिमित करने से शाति प्राप्त होती है।

इसलिये आवश्यक है कि साधक अपने अतीत तथा वर्तमान के दोषो की आलोचना करके कायोत्सर्ग करे तथा उसके पश्चात् भविष्य मे दोषो की सम्भावनाओ को रोकने के लिये प्रत्याख्यान करे। तभी वह पूर्ण ... होकर स्वभावदशा मे रह सकेगा तथा नि शल्य होकर ... कर सकेगा।

एक प्रश्न और उठता है, कि यदि मनुष्य किसी वस्तु का त्याग नही करता किन्तु उसका उपयोग भी नहीं करता, क्या तब भी उस वस्तु के लिये उसे दोष लगेगा? उत्तर हाँ मे दिया जाता है। उदाहरण स्वरूप, आपके पास अपने पहनने के अनेक जोडी वस्त्रो के अलावा आपके ... दादा के पुराने ढग से सिले हुए अनेक वस्त्र और भी है। यद्यपि आप इन्हे 'आउट ऑफ फैशन' होने के कारण पहनते नही है, किन्तु मानते उन्हे अपना ही है। वस्त्रो के प्रति यह अपनेपन की तथा मालिकी की भावना ही आध्यात्मिक क्षेत्र में आसक्ति कहलाती है, और जब तक इसका परित्याग नही किया जाता, आश्रव, अर्थात् कर्मों का आना जारी रहता है। इसीलिये प्रत्याख्यान के द्वारा आसक्ति को सीमित करने का विधान हमारे आगमो मे किया गया है।

बन्धुओ, एक बात और आपको भली-भाँति समझने व स्मरण रखने की है कि ये सामायिक, प्रतिक्रमण आदि छहो आवश्यक क्रियाएँ केवल मुनियो के लिये ही नहीं हैं। इनकी आवश्यकता जितनी मुनियो के लिये है, उतनी ही आप श्रावकों के लिये भी है। यह मत भूलिये कि आप भी राग-भाग से साधक हैं तथा साधु-मर्यादा से केवल एक कदम ही पीछे है। साधु अगर छठे गुणस्थान पर है तो श्रावक पाँचवे पर, साधु की सामायिक सर्व सामायिक है तो श्रावकों का देश सामयिक। उसमे सिर्फ मात्रा की कमी है न कि महत्व की कमी। भले ही सामायिक यावज्जीवन की हो या अल्पकालीन ... की, ... उसका एक ही है। समभाव की साधना साधु को जिस प्रकार ... प्रदान करती है, उसी प्रकार श्रावक को भी। अन्तर केवल ... और ... का ही है। जिस प्रकार मिश्री अधिक खाने पर भी मिठास प्रदान करती है और एक छोटा सा टुकडा खाने पर भी मीठी लगती है, उसी प्रकार ... आवश्यक जहाँ साधु को अपार शान्ति प्रदान करता है, श्रावक को भी ... करते है, भले ही अल्प-रूप मे ही क्यो न करें। इस प्रकार, स्पष्ट है कि साधु और श्रावक का लक्ष्य एक ही है। श्रावक भी साधना पथ का ही ... है, भले ही वह दुर्बल है और उसके कदम ... है।

त्याग के चमत्कार को एक और भी उदाहरण से आप जान सकते है—जैसे किसी विशाल साम्राज्य के अधिपति सम्राट के चारित्र ग्रहण करने से कुछ घण्टे पूर्व ही उनका सेवक चारित्र धर्म को अंगीकार कर लेता है तो जीवन भर गुलामी करने वाले गुलाम को कुछ घण्टे पश्चात् ही दीक्षा लेने वाले सम्राट वदन-नमस्कार करेंगे। कितनी महत्ता है त्याग-धर्म की, अथवा प्रत्याख्यान का ? प्रत्याख्यान के विषय मे भी गौतम प्रश्न करते हैं :—

"पच्चक्खाणेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?"

अर्थात्—हे भन्ते ! प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर मिलता है :—

"पच्चक्खाणेण आसवदाराइं निरुभइ, पच्चक्खाणेण इच्छानिरोहं जणयइ, इच्छानिरोह गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीईभूए विहरइ।"

—उत्तराध्ययन सूत्र अ २६

अर्थात्—प्रत्याख्यान से आत्मा आश्रव द्वारों का अवरोध करता है, इससे पदार्थों मे राग-द्वेष नही होना तथा हिसा आदि पाप नही होते। प्रत्याख्यान इच्छा का निरोध करता है और इच्छाओ के रुक जाने से समस्त द्रव्यो की लालसा रूपी अग्नि का नाश होता है। इसलिये जीव शांत-चित्त होकर सुखपूर्वक विहार करता है।

शास्त्र की इस गाथा से स्पष्ट हो जाता है कि जब तक आश्रव द्वारो को नहीं रोका जाता तब तक कर्मों का स्रोत आत्मा मे आता ही रहता है। अर्थात् जब तक किसी पदार्थ के लिये प्रत्याख्यान नही किया जाता, उस पर से आसक्ति नही हटाई जाती, तब तक कर्म-बधन होता ही रहता है।

प्रत्याख्यान की इच्छा का निरोध भी करता है, क्योकि इच्छा को सीमित किये बिना प्रत्याख्यान नही हो सकता। इसके द्वारा साधक अपनी इच्छाओ पर अकुश लगाता है और अकुश के परिणाम स्वरूप जिन पदार्थों को वह त्याग देता है, वे उसके मन मे मोह तथा लोभ पैदा नही करते। प्रत्याख्यान का सबसे बडा लाभ यह होता है कि मन की लालसा-जन्य चचलता समाप्त हो जाती है तथा साधक अपने आप मे संतुष्टि का अनुभव करता है। एक पाश्चात्य दार्शनिक ने भी कहा है :—

"In moderating, not in satisfying desires, lies peace"

—हेबर

अर्थात्—इच्छाओ को सतुष्ट करने से नही, अपितु उन्हे परिमित करने से शाति प्राप्त होती है।

इसलिये आवश्यक है कि साधक अपने अतीत तथा वर्तमान के दोषो की आलोचना करके कायोत्सर्ग करे तथा उसके पश्चात् भविष्य मे दोषो की सम्भावनाओ को रोकने के लिये प्रत्याख्यान करे। तभी वह पूर्ण आत्मस्थ होकर स्वभावदशा मे रह सकेगा तथा निःशल्य होकर आत्म-साधना कर सकेगा।

एक प्रश्न और उठता है, कि यदि मनुष्य किसी वस्तु का त्याग नही करता किन्तु उसका उपयोग भी नही करता, क्या तब भी उस वस्तु के लिये उसे दोष लगेगा? उत्तर हाँ मे दिया जाता है। उदाहरण स्वरूप, आपके पास अपने पहनने के अनेक जोडी वस्त्रो के अलावा आपके पिता या दादा के पुराने ढग से सिले हुए अनेक वस्त्र और भी हैं। यद्यपि आप उन्हे 'आउट ऑफ फैशन' होने के कारण पहनते नही है, किन्तु मानते उन्हें अपना ही हैं। वस्त्रो के प्रति यह अपनेपन की तथा मालिकी की भावना ही आध्यात्मिक क्षेत्र मे आसक्ति कहलाती है, और जब तक इसका परित्याग नही किया जाता, आश्रव, अर्थात् कर्मो का आना जारी रहता है। इसीलिये प्रत्याख्यान के द्वारा आसक्ति को सीमित करने का विधान हमारे आगमो मे किया गया है।

बधुओ, एक बात और आपको भली-भाँति समझने व स्मरण रखने की है कि ये सामायिक, प्रतिक्रमण आदि छहो आवश्यक क्रियाएँ केवल मुनियो के लिये ही नही हैं। इनकी आवश्यकता जितनी मुनियो के लिये है, उतनी ही आप श्रावको के लिये भी है। यह मत भूलिये कि आप भी सम-भाव से साधक हैं तथा साधु-मर्यादा से केवल एक कदम ही पीछे हैं। साधु अगर छठे गुण-स्थान पर है तो श्रावक पाँचवे पर, साधु को सामायिक सर्व सामायिक है तो श्रावको की देश सामयिक। उसमे सिर्फ मात्रा की कमी है न कि महत्व की कमी। भले ही सामायिक यावज्जीवन की हो या अडतालीस मिनिट की, लक्ष्य उसका एक ही है। समभाव की साधना साधु को जिस प्रकार समरस प्रदान करती है, उसी प्रकार श्रावक को भी। अन्तर केवल दीर्घ काल और अल्पकाल का ही है। जिस प्रकार मिश्री अधिक खाने पर भी मिठास प्रदान करती है और एक छोटा सा टुकडा खाने पर भी मीठी लगती है, उसी प्रकार ये छहो आवश्यक जहाँ साधु को अपार शांति प्रदान करते हैं, श्रावक को भी प्रसन्न करते हैं, भले ही अल्प-रूप मे ही क्यो न करे। इस प्रकार, स्पष्ट है कि साधु और श्रावक का लक्ष्य एक ही है। श्रावक भी साधना पथ का ही पथिक है भले ही वह दुर्बल है और उसके कदम लडखडा रहे हैं।

आशा है आप आध्यात्मिक क्षेत्र को विशुद्ध और नि शल्य बनाने वाले इन छहो आवश्यको के महत्त्व को समझ गए होगे। जो भव्य प्राणी सम्यक रूप से इन क्रियाओ का पालन करता है, वह शनैः शनै अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाता हुआ कर्म-बन्धनो से मुक्त होकर अव्याबाध सुख हासिल कर लेता है तथा अपनी मानव-पर्याय को सार्थक बनाता है। आवश्यकता है केवल दृढता और लगन की। ये दोनो बाते जहाँ होती है, वहाँ असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाता है, प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी अनुकूल बन जाती है। कहा भी है —

य भारं पुरुषो वोढु मनसा हि व्यवस्यति।
दैवमस्य ध्रुवं तत्र, साहाय्यायोपपद्यते॥

अर्थात्—जो पुरुष जिस भार को अपने ऊपर उठाने का मन से उत्साह करता है, उसकी उस कार्य म दैव अवश्य सहायता करता है।

समय हो चुका है, मेरे आज के कथन का साराश यही है कि साधक इन आवश्यक क्रियाओ को करने मे आत्मस्थ होकर विभाव दशा से स्वभाव दशा मे लौट आता है, तथा शुभ परिणामो की तीव्रता होने पर तीर्थङ्कर गोत्र का बँध भी कर सकता है, किन्तु जो प्राणी सासारिक कार्यों के झमेले मे उलझा रहने के कारण प्रतिक्रमणादि आवश्यको को नही कर पाता, पर उसके लिये आतरिक पश्चात्ताप करता है वह भी देवगति का अधिकारी बन जाता है। ऐसे भव्य प्राणी के चित्त की पश्चात्ताप-पूर्ण भावनाओ का चित्रण किया गया है —

"समाई परकूणो हो कर सकियो नही,
आज पडी अन्तराय, हो सुज्ञानी।
कारज लागो हो काचा जगत नो,
पछतावे मन माँय, हो सुज्ञानी।"

सच्चे हृदय से किया हुआ पश्चात्ताप समस्त पापो का नाश करके आत्मा को विशुद्ध बना देता है तथा उसे शुभ ध्यानो की ओर प्रवृत्त करता है। यही मुक्ति का मार्ग है जिस पर चलकर साधक जन्म-मरण को क्लेशो से मुक्त होता है।

****

२१

भावना और गतिबन्ध

[द्वितीय खण्ड]

बधुओ !

कल मैंने भावना और गतिबंध पर अपने विचार प्रकट किये थे। भावना का महत्त्व बताते हुए मैंने बताया था कि भव्य प्राणी किसी मजबूरी के कारण भले ही शुभ-कृत्य न कर सके, किन्तु अगर उसे इसका तीव्र पश्चात्ताप हो, तो वह देव-गति का बंध कर लेता है, अर्थात् देवगति का अधिकारी बन जाता है। भावनाओं की उत्कृष्टता के कारण देवगति का बंध दस प्रकार से माना गया है, जिनमें से तीन के विषय मे हम विचार कर चुके हैं।

देवगति बंध का चौथा कारण है, संत को निर्दोष आहार न दे पाने के कारण अत्यधिक पश्चात्ताप होना।

शुद्धाचारी संत उत्कृष्ट रूप से एक सौ छः तथा जघन्य रूप से बयालीस दोषों को बचाते हुए भिक्षा ग्रहण करते हैं। बयालीस में से सोलह उत्पादना के, सोलह उद्गमन के तथा दस एषणा के माने जाते हैं। उत्पादना के दोष गृहस्थ

की ओर से लगते हैं, उद्गमन के स्वयं साधु की ओर से तथा एषणा के दोष गृहस्थ तथा साधु दोनो की ओर से लगते है।

भव्यात्मा मुनि शुद्ध आहार की गवेषणा अर्थात् खोज करते हुए गृहस्थ के घर मे प्रवेश करते है, किन्तु यदि वहाँ उन्हे निर्दोष आहार प्राप्त नही होता तो उसी क्षण लौट जाते हैं क्योकि सदोष आहार उनके नियमानुसार अग्रहणीय होता है। साधु के भिक्षार्थ पहुँचने पर अगर गृहस्थ सचित्त जल, अग्नि, हरी वनस्पति तथा खनिज पदार्थ नमक आदि का स्पर्श करले, अथवा साधु को सदेह हो जाय कि आहार उनके निमित्त से बनाया गया है, अथवा उधार या क्रय करके लाया गया है तो उस सदोष आहार को वे ग्रहण नही करते और बिना लिये ही लौट जाते है।

मुनि को अपने घर से बिना भिक्षा लिये लौट पाता देखकर प्राणी को अपनी अज्ञानता अथवा भूल पर अत्यन्त पश्चात्ताप होता है और वह पश्चात्ताप देवगति के बध मे कारण बनता है। कहा भी है —

साध पधार्या हो म्हारे आँगणे,
नहि सूझतो आहार, हो सुज्ञानी।
अन्तरग सोच करे मन मे घणो,
तो पण लाभ अपार, हो सुज्ञानी।

अर्थात्—आहार का जीवन मे बडा भारी महत्त्व है, इसका वास्तविक प्रयोजन शरीर यात्रा का निर्वाह करना है। प्राणियो का शरीर नैसर्गिक रूप से ही इस प्रकार का बना है कि आहार के बिना वह अधिक काल तक नही चल सकता। यही कारण है कि शरीर के प्रति ममता त्याग देने पर भी अपनी साधना का निर्वाह करने के लिये मुनियो और तपस्वियो को भी आहार करना पडता है।

किन्तु खेद है कि विशुद्ध आचार-विचार वाले संत-पुरुषो के अलावा मनुष्य जाति ने आहार के मुख्य प्रयोजन को भुला दिया है। मनुष्य शरीर निर्वाह की दृष्टि को गौण और जिह्वातृप्ति को मुख्य प्रयोजन मान रहे है। अहिसा को परम धर्म मानने वाले और स्वयं को जैन कहने वाले व्यक्ति भी भक्ष्याभक्ष्य के अन्तर को भुलाकर अंडे, मास, मछली तथा अनेक प्रकार के उत्तेजनात्मक मादक पदार्थों को भोजन का अनिवार्य अंग बना बैठे हैं। यही कारण है कि आज का मनुष्य निरकुश, क्रूर, अत्याचारी और स्वार्थी बन गया है। कबीर ने कहा भी है :—

जैसा अन जल खाइये तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिये तैसी बानी होय॥

दूषित अन्न का कितना बुरा प्रभाव पड़ता है इसे महाभारत के एक उदाहरण से जाना जा सकता है। जिस समय महाभारत का युद्ध समाप्त हुआ था और शर-शय्या पर पड़े हुए भीष्म-पितामह उपदेश दे रहे थे, द्रौपदी को हँसी आ गई।

भीष्म ने उससे पूछा—"बेटी! तू हँसी क्यों ?"

द्रौपदी अत्यंत संकुचित होकर बोली—"मुझ से भूल हो गई पितामह! क्षमा करें।"

"नही, तेरी हँसी अकारण नही हो सकती। नि:संकोच बता क्या बात है ?" भीष्म ने पुन पूछा।

द्रौपदी नम्रतापूर्वक बोली—"पितामह! जिस समय आप उपदेश दे रहे थे, उस वक्त मुझे विचार आया कि 'आज तो आप धर्म की इतनी गूढ और उत्तम व्याख्या कर रहे हैं, लेकिन कौरवों की सभा मे जब दुःशासन मुझे नग्न करने का प्रयत्न कर रहा था, उस समय यह आपका यह धर्मज्ञान कहाँ चला गया था ? मन मे इस बात के आते ही मुझे हँसी आ गई, कृपया क्षमा करें।"

भीष्म पितामह मुस्कराए और सहज भाव से बोले—

"इसमे क्षमा करने की कोई बात नही है। धर्मज्ञान तो मुझे उस समय भी था, लेकिन दुर्योधन का अन्यायपूर्ण अन्न खाने से मेरी बुद्धि मलिन हो गई थी। पर अब अर्जुन के बाणों ने मेरे शरीर का दूषित अन्न से बना हुआ सारा रक्त निकाल दिया है। अत: अब बुद्धि के शुद्ध होने पर धर्म का विवेचन कर रहा हूँ।

महात्मा भीष्म का कथन सर्वथा सत्य है। अन्याय, अनीति और असत्य भाषण आदि से उपार्जित अन्न खानेवाले की चित्त-वृत्तियों को तो विकृत करता ही है, साथ ही वह अन्न और जिनको खिलाया जाय उनकी मनोवृत्तियों को भी मलिन बनाए बिना नही रहता। अत: सुश्रावक का कर्तव्य है कि वह स्वयं भी शुद्ध अन्न ग्रहण करे तथा साधु-मुनिराज को भी निर्दोष आहार प्रदान करे, जिससे वे, आलस्य, प्रमाद, उद्विग्नता तथा अस्थिरता आदि अवगुणों से रहित होकर अपने संयम का शुद्ध रूप से पालन कर सकें। यह सही है कि साधु के समान वह प्रत्येक दोष को टाल नहीं सकता तथा सचित्त वस्तु के स्पर्श मात्र से भी नहीं बच सकता, किन्तु भक्ष्य और अभक्ष्य के भेद को समझकर विवेकपूर्वक चलने से अनेक बड़े-बड़े दोषों से तो बच ही सकता

है। और तभी उसका साधु को निर्दोष आहार न देने के कारण होने वाला पश्चात्ताप उत्तम फल प्रदान कर सकता है।

(५) अगर कोई व्यक्ति ज्ञान के भडार-रूप गुरु को पाकर भी उद्यम के अभाव मे उनसे ज्ञान हासिल नही कर पाता, और घोर पश्चात्ताप करता हुआ विचार करता है —

बोल सुणीजे भवियण पाचमो,
गुरु मिलिया ज्ञान रा भण्डार हो, सुज्ञानी।
उद्यम न कीनो हो भणवा ज्ञान रो,
दियो जमारो हार हो, सुज्ञानी॥

तो, वह पुरुष देवगति का अधिकारी बनता है। वास्तव मे, जिस व्यक्ति ने शरीर, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि और इन सबसे बढकर महा गुणवान एव ज्ञान-वान गुरु को पाकर भी ज्ञान प्राप्ति के लिये प्रयास नही किया, आलस्य और प्रमाद मे समय व्यतीत कर दिया, तो यही मानना चाहिये कि उसने अपना अमूल्य मानव-जन्म निरर्थक कर दिया है। और ऐसे पुरुष के लिये कहा जाता है :—

कि जीवितेन पुरुषस्य निरक्षरेण ?

—तत्त्वामृत

अर्थात्—ज्ञान के अभाव मे मूर्ख रूप से ही जीवन व्यतीत करना, ऐसे मानवीय जीवन से क्या लाभ होने वाला है ?

क्योकि—

"ज्ञानेन कुरुते यत्नं यत्नेन प्राप्यते महत्।"

—मनुस्मृति

अर्थात्—ज्ञान की प्रेरणा से ही आत्मा विकास के मार्ग पर चलने का प्रयत्न करता है और उसके परिणाम स्वरूप ईश्वरत्व रूप महान् फल की प्राप्ति होती है।

वस्तुत' अज्ञानी पुरुष की वही गति होती है जो अधेरे मे मनुष्य की होती हैं, उसे सम्यक् मार्ग नही सूझता और पद-पद पर ठोकरे खानी पडती हैं। अज्ञानाधकार के कारण मनुष्य के मन मे दुर्भावनाएँ जागृत होती हैं और उसकी प्रवृत्ति तामसिक कार्यो की ओर होती है। विष्णुपुराण मे कहा भी गया है '—

"अज्ञानं तामसो भावः कार्यारम्भप्रवृत्तयः।"

इसलिये मुमुक्षु प्राणी को अज्ञान से निकल कर ज्ञान की ओर बढना

चाहिये। ज्ञान के प्रकाश से ही आत्मा की भ्रान्ति, जड़ता और अकर्मण्यता नष्ट होती है, सात्त्विक वृत्तियाँ जगती हैं और यथार्थता का बोध होता है। सजगता ही जीवन की जागृति है। जागने का अर्थ है ज्ञानयुक्त होना और सोने का अर्थ है ज्ञान हीनता।

लोक-यात्रा में कर्मयोगी पुरुष के लिये ज्ञान कितना उपयोगी है, इसे कृष्ण के इस कथन से समझा जा सकता है :—

यथा च दीर्घमध्वानं पद्भ्यामेव प्रपद्यते।
अदृष्टं पूर्वं सहसा तत्त्वदर्शनवर्जितः ॥
तमेव च यथाध्वानं रथेनेहाशुगामिना।
गच्छत्यश्वप्रयुक्तेन तथा बुद्धिमतां गतिः ॥

—अनुगीता

अर्थात् - जिस प्रकार लम्बे मार्ग पर कोई मनुष्य बिना विचारे हठपूर्वक पैदल चले, उसी प्रकार उसकी गति होती है जो बिना विचारे कर्म में प्रवृत्त होता है। उसी मार्ग पर यदि शीघ्रगामी अश्वयुक्त रथ में बैठकर चले तो सुख से पहुंच जाता है। इसी प्रकार ज्ञानवान की गति है।

ज्ञान की महिमा अवर्णनीय है, कहा भी जाता है —

"ज्ञानं जगल्लोचनम्।"

अर्थात्—जगत की तीनों काल की घटनाओं को देखने वाला ऐसा ज्ञान ही वास्तविक नेत्र है।

जो व्यक्ति सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेता है उसकी आत्मा अजर-अमर शान्ति को शीघ्र ही प्राप्त कर लेती है —

"ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।"

इसलिये, प्राणी को सद्गुरु का संयोग प्राप्त होते ही प्रमाद का त्याग करके, पूर्ण तन्मयता तथा लगनपूर्वक ज्ञान-प्राप्ति में जुट जाना चाहिये। उसके अन्तर्मानस में प्रतिपल यह विचार बना रहना चाहिये कि ज्ञान के अभाव में मिथ्यात्व का नाश नहीं हो सकेगा और मिथ्यात्व का नाश हुए बिना आत्मा अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को नहीं समझ सकेगी।

यह सत्य है कि कभी-कभी ज्ञानावरणीयकर्म के तीव्र उदय से प्राणी चाहकर भी ज्ञान हासिल नहीं कर पाता, किन्तु उस अवस्था में भी उसे निराश होकर अपने उद्यम का त्याग नहीं करना चाहिए वरन् प्रयत्न करते रहना चाहिये—

'करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।'

जिस प्रकार जलकणो का अविच्छिन्न प्रपात पत्थर मे छिद्र बना देता है और एक-एक प्रहार विशाल वटवृक्ष को धराशायी कर देता है, उसी प्रकार सतत अभ्यास मनुष्य को शनै शनै ज्ञानवान् बना देता है। आवश्यकता है केवल सतत प्रयास की। प्रयास-रत रहने वाला व्यक्ति ही सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके अपने समस्त कर्मो का क्षय करता है, किन्तु शारीरिक व्याधि अथवा अन्य किसी अकाट्य कारण से ऐसा नही कर पाता है तो उत्कट पश्चात्ताप के द्वारा देवगति को प्राप्त कर लेता है।

(६) उदारचित्त सज्जन पुरुषो का उसूल होता है—'पेट भरो पेटी नही।' ऐसे पुरुष सग्रहवृत्ति को घृणापूर्ण दृष्टि से देखते है तथा अपनी आवश्यकता से अधिक द्रव्य को अपने समाज के अभावग्रस्त प्राणियो की आवश्यकताओ को पूरा करने मे खर्च करते हैं। कदाचित् ऐसे साधर्मी व्यक्ति उनकी जानकारी मे नही आ पाते है, और वे उनकी सार-सभाल से वचित रह जाते हैं तो उन्हे इसका उत्कट पश्चात्ताप होता है और पश्चात्ताप की तीव्र भावनाओ के कारण उसी समय उनके देवगति का वध हो जाता है। कहा भी है :—

साधर्मो री सम्भाल कीनी नहीं,
आज पड्यो है कुसूर हो, सुज्ञानी।
सगपण मोटो हो जग मे स्वामीतणो,
कर्म करे चकचूर हो, सुज्ञानी।

निस्सदेह, जैसा कि इस पद्य मे कहा गया है, स्वधर्मी बन्धु का नाता अन्य समस्त स्वजनो और परिजनो के नातो से श्रेष्ठ है। तथा उसकी सेवा-सुश्रूषा करने से अनेक कर्मों का नाश होता है। यद्यपि स्वधर्मी जनो के प्रति अटूट स्नेह और सद्भावना रखने वाले महान् व्यक्ति विरले ही होते है किन्तु जो होते हैं उन्हे देखकर हृदय गद्गद् हो जाता है। किसी कवि ने स्वधर्मी बन्धुओ के मिलन का बडा सरस और सजीव चित्र खीचा है :—

"धन धन साधर्मी जन मिलन की घरी।
रसत भ्रम-ताप हरन ज्ञान-घन-झरी॥"

साधर्मी जनो के मिलन की यह घडी कितनी मधुर और सुहावनी है। इस समय ज्ञान की अविराम वृष्टि हो रही है और भ्रम-ताप न जाने कहाँ विलीन हो रहा है।

स्वधर्मी जनो के समागम का अत्यधिक महत्त्व बताते हुए आगे कहा है —

"सम्यक तरु धरनि येह करन-करि हरी।
भव-जल को तरनि समर-भुजग-विष जरी।
पूरव भव या प्रसाद रमनि शिव वरी।
सेवो अब 'शील' याहि बात यह खरी।
धन-धन साधर्मीजन मिलन की घरी।"

कवि का कथन है, स्वधर्मी जन का समागम सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी वृक्ष के लिये पृथ्वी के समान है। और पंचेन्द्रिय रूपी हाथी के दर्प-दलन के लिये सिंह के समान है। संसार-सागर को पार करने के लिये जहाज है। और कामदेव रूपी सर्प का विष दूर करने के लिये विषनाशक जड़ी है।

इस साधर्मी-समागम के प्रसाद से ही प्राणियों ने पहले मुक्ति रूप रमा का वरण किया है, तथा हमारा भी यही कर्त्तव्य है कि मुक्ति की प्राप्ति के लिये साधर्मी समागम करें। यह वेला कितनी मनमोहक और सुहावनी है।

कवि स्वधर्मी व्यक्तियों का महत्त्व बताकर ही चुप नहीं रह जाता, उसका हृदय उनसे मिलने के लिये छटपटाता है और कहता है —

"जाके बिन पाये भव-विपति अति भरी।
निज परहित अहित की कछु न सुध परी।
जाके परभाव चित्त सुथिरता करी।
संशय भ्रम मोह की सुवासना टरी।
धन-धन साधर्मी जन मिलन की घरी।

अर्थात्—जब तक स्वधर्मियों का समागम प्राप्त नहीं होता है, संसार की विपत्तियाँ पीछा नहीं छोड़तीं और मुझे अपने हित-अहित का भी भान नहीं होता।

स्वधर्मी-समागम से चित्त वृत्ति स्थिर हो जाती है तथा उनकी स्थिर और प्रशान्त मुद्रा का दर्शन मेरे मन की मलीनता को धोकर उसे निर्मल बना देता है। इतना ही नहीं, उनका दर्शन करते ही मेरे मन का संशय, भ्रम और विमोह की भावनाएँ पलायन कर जाती हैं। साधर्मीजनों के मिलन की यह घड़ी धन्य है।

कितनी उत्तम और पवित्र भावनाएँ हैं ये। अगर संघ के प्रत्येक सदस्य के हृदय में ऐसे विचार घर कर लें तो समाज में कोई भूखा और प्यासा न रहे। क्योंकि सम्पन्न और समृद्ध स्वधर्मी भाई के स्वागत-सत्कार और सेवा की

अपेक्षा समाज के दीन-हीन व्यक्ति और अनेकानेक बाल-विधवाओं के अभाव-ग्रस्त जीवन को सहायता की अधिक आवश्यकता है।

संघ एक सरोवर के सदृश है, इसके शीतल जल से विचरण करने वाले साधु-साध्वी रूपी हंसो को तथा इसमें रहने वाली अनेक असहाय नारी-रूपी मछलियो को जीवन मिलता है। अत इसका जल कभी सूखना नहीं चाहिये। क्योंकि इसके सूखने पर हंस तो अन्य सरोवर पर चले जाएँगे किन्तु इसमें रही हुई मछलियाँ कहाँ जाएँगी ? अर्थात् आपका स्नेह-जल न मिलने पर साधु-संत तो विचरण करते हुए अन्यत्र चल देंगे किन्तु आपके बीच मे रहने वाली दुखी बहनें कहाँ जाएँगी ?

इसलिये, मेरा आप लोगो से बारम्बार अनुरोध है कि आप श्रेष्ठि-जन, जो समाज के कर्णधार कहलाते हैं, अपने इस गौरवमय विशेषण को सार्थक करें तथा प्रतिज्ञा करें कि कम से कम हमारे समाज मे तो एक भी व्यक्ति भूखा नहीं सोयगा। भले ही आप सामायिकें कम करे, त्याग तपस्या मे कमी करदे, किन्तु अभाव और आपद्ग्रस्तों की सार-संभाल करना न भूलें। धर्म-पालन का इससे सुन्दर तरीका और कोई नहीं है।

कहते हैं कि एक बार श्री हेमचन्द्राचार्य अपने शिष्यों सहित राजा कुमारपाल के नगर 'पाटन' मे चातुर्मास करने के लिये जा रहे थे। रास्ते मे घनघोर वर्षा हुई और रास्ता बन्द हो जाने के कारण उन्हे एक छोटे से गाँव मे ही चातुर्मास करना पड़ा।

गाँव मे एक ही जैन धर्मावलम्बी का घर था। और उस घर मे भी सिर्फ दो ही प्राणी, पति-पत्नी रहते थे, परिस्थिति उनकी इतनी नाजुक थी कि दोनों जून भोजन करना भी कठिन था। किन्तु दंपति के हृदय मे भक्ति और स्नेह का सागर लहरा रहा था। आचार्य हेमचन्द्र के चातुर्मास का निर्णय जानकर वे हर्ष-विभोर हो गए और अपने भाग्य की सराहना करने लगे। किन्तु विचक्षण बुद्धि के धनी हेमचन्द्राचार्य ने श्रावक की स्थिति को भाँप लिया और पूरे वर्षावास तक एकान्तर तपस्या करने का निश्चय किया।

वर्षावास व्यतीत होता रहा। संत और श्रावक दोनो का समय असीम शांति से कटता चला गया। चातुर्मास की समाप्ति पर जैन-दंपति ने हृदय मे भक्ति और आँखो मे स्नेहाश्रु लिये हुए गद्गद् होकर अपने हाथ से करते हुए सूत की एक चद्दर आचार्य को भेंट की।

आचार्य ने भी अपार श्रद्धा और प्रेम से आप्लावित उस मोटी चद्दर को

उसी समय अपने शरीर पर डाली और पाटन के लिये प्रस्थान किया। वृद्ध श्रावक साथ ही था।

जब नगर कुछ ही दूरी पर था, गुर्जर-सम्राट और आचार्य हेमचन्द्राचार्य के प्रिय शिष्य कुमारपाल, दल-बल सहित गुरुदेव के दर्शनार्थ आए। वे आते ही गुरु की ओढ़ी हुई चद्दर देखकर दंग रह गए। बोले—भगवन्! यह क्या? पाटन के राजा कुमारपाल के गुरु ऐसी चद्दर ओढ़े हुए हैं? कृपया इसे इसी क्षण अपने शरीर से अलग कर दीजिये। क्या आपके पास चद्दरों का अभाव है?

गुरुदेव ने शिष्य की आन्तरिक भावनाओं को परखते हुए उत्तर दिया—वत्स! इस चादर को ओढ़कर मुझे जितनी प्रसन्नता हुई है, उतनी जीवन में कभी नहीं हुई। यह इन महापुरुष की भेंट है, जिन्होंने इसका एक-एक तार अपने गाढ़े स्नेह से बुना है। इनसे मिलो!

राजा कुमारपाल ने गुरु के इंगित को समझा और उसी क्षण उठकर, इस वार्तालाप से संकुचित होते हुए अपने जैन बंधु को हृदय से लगाया। जितने दिन वह पाटन में रहा, सम्राट ने उसका निष्कपट रूप से स्वागत-सत्कार किया और विदा होते समय इतना धन-धान्य भेंट किया कि वृद्ध श्रावक के अभाव की समस्या जीवन भर के लिये हल हो गई।

इसी प्रकार, अगर समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी हैसियत के अनुसार स्वधर्मी बन्धुओं की सहायता के लिये कटिबद्ध हो जाय तो समाज और धर्म का गौरव अपने सही स्वरूप को प्राप्त हो जाय। यद्यपि हमारी संस्कृति के अनुसार तो मनुष्य को, प्राणी मात्र के लिए दया और दान की भावना रखनी चाहिये किन्तु विवशता के कारण अगर वह ऐसा न कर सके, तब भी साधर्मीजनों की सार-संभाल तो जीवन के अन्य अनिवार्य कार्यों के समान ही करनी चाहिये। कहा भी है—

मिथ्यादृष्टिसहस्रेभ्यो, वरमेको जिनाश्रयी।
जिनाश्रयिसहस्रेभ्यो वरमेको अणुव्रती॥

अर्थात् हजार मिथ्या दृष्टियों की अपेक्षा जिन भगवान के वचनों पर विश्वास रखने वाला एक व्यक्ति उत्तम है, और जिनधर्म में आस्था रखने वाले हजार व्यक्तियों की अपेक्षा अणुव्रतों का पालन करने वाला एक मनुष्य श्रेष्ठ है।

ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य की सेवा तो उत्तम फल प्रदान करती ही है, किन्तु अज्ञान और प्रमादवश अगर मनुष्य उसकी सेवा न कर पाए, तो उसके कारण होने वाली पश्चात्ताप की भावना भी देवगति के बंध का हेतु बन जाती है।

अपेक्षा समाज के दीन-हीन व्यक्ति और अनेकानेक बाल-विधवाओं के अभाव-ग्रस्त जीवन को सहायता की अधिक आवश्यकता है ।

सघ एक सरोवर के सदृश है, इसके शीतल जल से विचरण करने वाले साधु-साध्वी रूपी हसो को तथा इसमे रहने वाली अनेक असहाय नारी-रूपी मछलियो को जीवन मिलता है । अत इसका जल कभी सूखना नहीं चाहिये । क्योंकि इसके सूखने पर हंस तो अन्य सरोवर पर चले जाएँगे किन्तु इसमे रही हुई मछलियाँ कहाँ जाएँगी ? अर्थात् आपका स्नेह-जल न मिलने पर साधु-सत तो विचरण करते हुए अन्यत्र चल देंगे किन्तु आपके बीच मे रहने वाली दुखी बहने कहाँ जाएँगी ?

इसलिये, मेरा आप लोगो से बारम्बार अनुरोध है कि आप श्रेष्ठि-जन, जो समाज के कर्णधार कहलाते हैं, अपने इस गौरवमय विशेषण को सार्थक करे तथा प्रतिज्ञा करे कि कम से कम हमारे समाज मे तो एक भी व्यक्ति भूखा नही सोयगा । भले ही आप सामायिके कम करे, त्याग तपस्या मे कमी करदे, किन्तु अभाव और आपदग्रस्तो की सार-सभाल करना न भूले । धर्म-पालन का इससे सुन्दर तरीका और कोई नही है ।

कहते है कि एक बार श्री हेमचन्द्राचार्य अपने शिष्यों सहित राजा कुमारपाल के नगर 'पाटन' मे चातुर्मास करने के लिये जा रहे थे । रास्ते में घनघोर वर्षा हुई और रास्ता बन्द हो जाने के कारण उन्हे एक छोटे से गाँव मे ही चातुर्मास करना पडा ।

गाँव मे एक ही जैन धर्मावलम्बी का घर था । और उस घर मे भी सिर्फ दो ही प्राणी, पति-पत्नी रहते थे, परिस्थिति उनकी इतनी नाजुक थी कि दोनो जून भोजन करना भी कठिन था । किन्तु दपति के हृदय मे भक्ति और स्नेह का सागर लहरा रहा था । आचार्य हेमचन्द्र के चातुर्मास का निर्णय जानकर वे हर्ष-विभोर हो गए और अपने भाग्य की सराहना करने लगे । किन्तु विचक्षण बुद्धि के धनी हेमचन्द्राचार्य ने श्रावक की स्थिति को भाँप लिया और पूरे वर्षावास तक एकान्तर तपस्या करने का निश्चय किया ।

वर्षावास व्यतीत होता रहा । सत और श्रावक दोनो का समय असीम शाति से कटता चला गया । चातुर्मास की समाप्ति पर जैन-दपति ने हृदय मे भक्ति और आँखो मे स्नेहाश्रु लिये हुए गद्गद होकर अपने हाथ से करते हुए सूत की एक चद्दर आचार्य को भेट की ।

आचार्य ने भी अपार श्रद्धा और प्रेम से आप्लावित उस मोटी चद्दर को

उसी समय अपने शरीर पर डाली और पाटन के लिये प्रस्थान किया। वृद्ध श्रावक साथ ही था।

जब नगर कुछ ही दूरी पर था, गुर्जर-सम्राट और आचार्य हेमचन्द्राचार्य के प्रिय शिष्य कुमारपाल, दल-बल सहित गुरुदेव के दर्शनार्थ आए। वे आते ही गुरु क ओढी हुई चद्दर देखकर दग रह गए। बोले—भगवन् ! यह क्या ? पाटन के राजा कुमारपाल के गुरु ऐसी चद्दर ओढे हुए हैं ? कृपया इसे इसी क्षण अपने शरीर से अलग कर दीजिये। क्या आपके पास चद्दरो का अभाव है ?

गुरुदेव ने शिष्य की आतरिक भावनाओ को परखते हुए उत्तर दिया—वत्स ! इस चादर को ओढकर मुझे जितनी प्रसन्नता हुई है, उतनी जीवन मे कभी नही हुई। यह इन महापुरुष की भेट हैं, जिन्होने इसका एक एक तार अपने गाढे स्नेह से बुना है। इनसे मिलो !

राजा कुमारपाल ने गुरु के इगित को समझा और उसी क्षण उठकर, इस वार्तालाप से सकुचित होते हुए अपने जैन बधु को हृदय से लगाया। जितने दिन वह पाटन मे रहा, सम्राट ने उसका निष्कपट रूप से स्वागत-सत्कार किया और विदा होते समय इतना धन-धान्य भेंट किया कि वृद्ध श्रावक के अभाव की समस्या जीवन भर के लिये हल हो गई।

इसी प्रकार, अगर समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी हैसियत के अनुसार स्वधर्मी बन्धुओं की सहायता के लिये कटिबद्ध हो जाय तो समाज और धर्म का गौरव अपने सही स्वरूप को प्राप्त हो जाय। यद्यपि हमारी सस्कृति के अनुसार तो मनुष्य को, प्राणी मात्र के लिये दया और दान की भावना रखनी चाहिये किन्तु विवशता क कारण अगर वह ऐसा न कर सके, तब भी साधर्मी-जनो की सार-सभाल तो जीवन के अन्य अनिवार्य कार्यों के समान ही करनी चाहिये। कहा भी है —

मिथ्यादृष्टिसहस्रेभ्यो, वरमेको जिनाश्रयी।
जिनाश्रयिसहस्रेभ्यो वरमेको अणुव्रती ॥

अर्थात् - हजार मिथ्या दृष्टियो की अपेक्षा जिन भगवान के वचनो पर विश्वास रखने वाला एक व्यक्ति उत्तम है, और जिनधर्म मे आस्था रखने वाले हजार व्यक्तियो की अपेक्षा अणुव्रतो का पालन करने वाला एक मनुष्य श्रेष्ठ है।

ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य की सेवा तो उत्तम फल प्रदान करती ही है, किन्तु अज्ञान और भूलवश अगर मनुष्य उसकी सेवा न कर पाए तो उससे उत्पन्न होने वाली पश्चात्ताप की भावना भी देवगति के बंध का हेतु बन जाती है।

(७) गृहस्थ के घर मे आहार तो निर्दोष हो, किन्तु किसी कारणवश मुनि के वह आहार काम न आता हो और इसी कारण वे घर मे आकर भी विना आहार लिये लौट जाएँ तो सद्गृहस्थ को भारी पश्चात्ताप और दुख होता है तथा अन्तर्मन से किया हुआ वह पश्चात्ताप देवगति का बंध कराता है। कहा भी है :—

बोल सुणीजे हो भवियण सातमो,
घरमे सूझ तो आहार हो, सुज्ञानी।
मुनिवर जी रे आहार खपे नहीं,
पछतावे अनपार हो, सुज्ञानी।

अपनी साधना को समुचित रूप से चलाने मात्र के लिये ही शरीर को आहार देने की इच्छा रखने वाले संत मुनिराज, अत्यन्त परिमित आहार करते हैं। उनके आहार करने का उद्देश्य शरीर को चलाना होता है, जिह्वा-तृप्ति की भावना नही। इसलिये, गृहस्थ के यहाँ स चाहे पकवान मिले या रूखे-सूखे नीरस पदार्थ, वे बिना उनको सराहना अथवा निन्दा किये सम-भावना सहित उन्हे ग्रहण करते है। कहा भी गया है :—

"अपवित्रोऽतिगार्द्ध्यश्च न भुंजीत विचक्षणः।"

—विवेक विलास

अर्थात्—प्रतिभा सम्पन्न पुरुष अपवित्र अवस्था में और अति लोलुपता से भोजन नही करे।

किन्तु बुद्धिहीन प्राणी इन वातो को नही समझते। उनके लिये सुस्वादु भोजन प्राप्त कर लेना ही जीवन का चरम लक्ष्य होता है। और ऐसा न मानने वाले अन्य व्यक्ति को वे सीख देते है —

परान्न प्राप्य दुर्बुद्धे मा प्राणेषु दया कुरु।
दुर्लभानि परान्नानि प्राणा जन्मनि-जन्मनि॥

अर्थात्—हे मूर्ख! पराये अन्न को प्राप्त करके, अपने शरीर की चिन्ता छोड दे। शरीर तो बार-बार मिलेगा। पराया भोजन मिलना दुर्लभ है।

इस प्रकार के अन्न-लोलुपी मनुष्यो के विषय मे एक पाश्चात्य विद्वान् ने व्यंगात्मक शब्दो मे कहा है —

"Their kitchen is their shrine, the cook their priest, the table their alter, and their belly their God." —वर्क

अर्थात्—उन (पेटू मनुष्यो) की पाकशाला उनका तीर्थ-स्थान, रसोइया उनका पुरोहित, मेज उनकी वेदी और पेट उनका ईश्वर है। अर्थात्—पेट-

पूजा को ही अपना चरम-लक्ष्य मानने वाले महापुरुषो को न तीर्थ-यात्रा करने की आवश्यकता है, न यज्ञ और हवन करने की और न ही किसी अन्य ईश्वर की पूजा उपासना करने की जरूरत है। जिस समय वे रसोईघर मे विराजमान हो जाते हैं, साधन, साधना, साध्य और सिद्धि सभी कुछ उन्हें वही उपलब्ध हो जाता है।

किन्तु ऐसे पेटू व्यक्तियो के जीवन मे क्या शाति रहती है ? नही, एक उर्दू भाषा के कवि ने उनकी स्थिति का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है —

असीर बन्द शिकमरा दीशव नगीरद ख्वाब।
शबे जे मेदये संगी शबे जे दिलतगी।

—शेखसादी

अर्थात्—पेटू व्यक्ति को दो रातो तक नीद नही आती। एक रात तो पेट के बोझ के कारण और दूसरी रात भूख की चिन्ता मे।

कहने का अभिप्राय यही है कि अधिक आहार ग्रहण करने से प्रथम तो शारीरिक कष्ट बढ़ता है, दूसरे आलस्य और निद्रा आदि के आ घेरने से पठन-पाठन आदि मे व्याघात पडता है। इसीलिये, सत अत्यन्त परिमित आहार लेते हैं जिससे शरीर और मन मे स्फूर्ति रहने के कारण उनकी साधना निर्विघ्न चलती रहे साथ ही भूख से कम आहार ग्रहण करने से उनोदरी तप भी हो सके।

इन्ही कारणो से साधु, आवश्यकता से अधिक अन्न का एक कण भी लेने की इच्छा नही रखते और निर्दोष आहार उपलब्ध होने पर भी लौट जाते हैं। इसके अलावा किन्ही रुग्ण सत के लिये उपयुक्त पथ्य न मिलने पर अथवा अपने अभिग्रह की पूर्ति न होने पर भी सत बिना आहार लिये लौटते है। कुमारी चन्दन बाला के पास उडद के बाकले निर्दोष थे किन्तु आँखो मे आँसू नही थे अत भगवान् महावीर लौट पडे थे। इस प्रकार अनेक कारणो से सत गृहस्थ के यहाँ आकर भी लौट जाते हैं और उनका लौटना सद्गृहस्थ के लिये महा-पश्चात्ताप का कारण बनकर देवगति का बध कराता है।

(८) देवगति के बध का आठवाँ कारण है, आचारनिष्ठ एव गुणज्ञ सतो की सार-सभाल न कर पाने के कारण आन्तरिक पश्चात्ताप का होना। सार-सभाल से तात्पर्य है उनके लिये निर्दोष औषधि, आहार अथवा जल का ध्यान रखना।

प्राय देखा जाता है कि लोग सत-महात्माओ का प्रवचन सुनने का शौक रखते हैं किन्तु उसके पश्चात् उनकी क्या स्थिति है ? उन्हे किस वस्तु

की आवश्यकता है ? इसकी तनिक भी चिन्ता नही रखते। वे भूल जाते हैं कि संत का जीवन समाज पर निर्भर है तथा उनकी समस्त आवश्यकताएँ समाज के सदस्यो के द्वारा ही पूर्ण होती है। आज हम देखते हैं कि घर-घर मे पंखे, बिजली, रेडियो, नाना प्रकार के फर्नीचर तथा जिनके नाम गिनाना भी संभव नही है ऐसे भोगोपभोग के समस्त पदार्थ उपलब्ध होते है। किन्तु कितने घर ऐसे हैं जिनमे साधु के उपयोग मे आने वाले वस्त्र, पात्र, ओघे, माला अथवा शास्त्र आदि रखे जाते है ? प्राय: एक भी नही। क्या यह साधु-समाज के प्रति उपेक्षा का परिचायक नही है ?

एक ग्वाला भी अगर अपनी गाय से दूध प्राप्त करना चाहता है, तो वह उसके चारे और दाने की, तथा उसे शीत और घाम से बचाने की पूरी फिक्र रखता है। स्वयं दो घडी भूखा रहकर भी मूक जानवर की जरूरतें पूरी करता है।

तो आप, संघ के गणमान्य सदस्य, जोकि उस अपढ और असभ्य माने जाने वाले ग्वाले की अपेक्षा अनेक गुना अधिक बुद्धिमान और संस्कारो के धनी है, क्या विचार करते है कि हमे जिन वाणी रूपी दुग्ध प्राप्त करने के लिये संत-रूप गौ की पूरी सार-संभाल करनी चाहिए ? तथा उनकी जरूरतो का पूरा ख्याल रखना चाहिये।

मेरे कथन से आप केवल यही अभिप्राय न लें कि हमे प्रवचन देने वाले संतो का ही ख्याल रखना है क्योकि उन्ही से उपदेश सुनने को मिलता है। नहीं, पंच महाव्रतधारी प्रत्येक साधु-साध्वी का जीवन आपको उपदेश देता है, उनका आचरण आपकी क्रियाओ को शुद्ध बनाने मे सहायक होता है। गीता में कहा गया है :—

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥" —श्रीकृष्ण

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो करता है अन्य पुरुष भी उसके अनुसार व्यवहार करते हैं। वह जो आदर्श स्थापित कर देता है, लोग उसके अनुसार चलते है।

'मौलाना रूमी' ने भी कहा है :—

"एक सदाचारी मनुष्य बिना जबान हिलाए सैकडो मनुष्यो का सुधार कर सकता है। पर जिसका आचरण ठीक नही है उसके लाखो उपदेशो का भी कुछ फल नहीं होता।"

उपदेश के विषय मे एक अंग्रेज का कथन भी स्मरणीय है :—

"None preaches better than the ant, and she says nothing." —फ्रेन्कलिन

अर्थात्—चींटी से अच्छा कोई उपदेश नही देता, जबकि वह कहती कुछ नही, मौन रहती है।

बधुओ, मेरे कथन का साराश यही है कि प्रत्येक धर्म-प्रेमी भाई को कम से कम अपने नगर मे ठहरे हुए सत-मुनिराजो का तो पूरा ध्यान रखना ही चाहिये। न तो उन्हे सम्प्रदायवाद के कारण किसी सत की उपेक्षा करनी चाहिये और न ही किसी के प्रवचन देने मे समर्थ न होने के कारण उनका महत्त्व कम मानना चाहिये। हमारा जैन-धर्म त्यागमय धर्म है। इसके अनुसार वही प्राणी अपने कर्मो का क्षय कर सकता है, जो इन्द्रियो के समस्त विषयो पर से आसक्ति हटा लेता है तथा क्रोध, मान, माया एव लोभादि कपायो का त्याग करता है।

यह सही है कि प्रभावोत्पादक प्रवचन देने वाले सत, धर्म का सच्चा स्वरूप समझाकर भटके हुए अज्ञानियो को सन्मार्ग पर लाते है, किन्तु त्यागी और तपस्वी मुनियो का उत्कृष्ट जीवन भी ससार के समक्ष एक अनूठा ही आदर्श उपस्थित करता है। अत सुश्रावक को समान भाव से समस्त साधु-साध्वियो की सार-सभाल करते हुए उनकी आवश्यकताओ को पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिये। तथा किसी प्रतिकूल परिस्थिति के कारण अगर वे अपना कर्त्तव्य-पालन न कर सके तो उसके लिये भी आतरिक पश्चात्ताप की भावना उनके हृदय मे आनी चाहिये —

साध विराज्या हो म्हारे शहर में,
मोटा गुणा री माल हो, सुज्ञानी।
औषधि, भेषज अन्न पाणी तणो,
मैं नही कीन्ही सार-सभाल हो, सुज्ञानी।

(९) अगर मुमुक्ष प्राणी अपनी सम्पूर्ण रात्रि निद्रा मे व्यतीत कर देता है, धर्म जागरण नही करता, तो उसके पश्चात्ताप स्वरूप भी देवगति का बध होता है।

जागरण तीन प्रकार के माने जाते है —

(१) धर्म-जागरण
(२) अधर्म-जागरण
(३) सुदक्खु-जागरण।

(१) **धर्म-जागरण**—धर्म जागरण तब किया जा सकता है जबकि अपने चर्म-चक्षुओ के साथ-साथ साधक विवेक और ज्ञान रूपी अन्तर्चक्षु भी खुले रखे। जिस प्रकार सासारिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिये सूर्य व दीपक की रोशनी के साथ-साथ मानव के अपने नेत्रो मे रोशनी होना आवश्यक है,

उसी प्रकार साधना पथ पर अग्रसर होने वाले साधक के लिये वीतराग-वाणी रूपी सूर्य की रोशनी के साथ-साथ उसके आत्म-चक्षुओ मे भी रोशनी होना अनिवार्य है। तभी उसके साध्य की सिद्धि हो सकती है। कवीर ने कहा है :—

सुमिरन सुरत लगाइके, मुखतें कछू न बोल।
बाहर के पट देइ के, अन्तर के पट खोल॥

इन सरल और सीधे शब्दो मे कितना बडा रहस्य है? कवि ने कहा है—बाहर के पट देइ के, अर्थात् बाह्य जगत् के समस्त प्रपचो और संकल्प-विकल्पो को त्याग कर, आत्मिक नेत्रो को खोल! यानी आत्म-चिंतन कर, आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझने का प्रयत्न कर।

रात्रि के पिछले प्रहर मे जिसे ब्राह्ममुहूर्त कहा जाता है, सतोगुण की अधिकता होती है। अत मानव का मन अत्यन्त शाति और सुस्थिरता का अनुभव करता है। कोलाहल रहित शात वातावरण मन को एकाग्र करने मे सहायक बनता है तथा ऐसे समय मे ही साधक निर्विघ्न होकर आत्म-चिंतन अथवा धर्म-जागरण कर सकता है।

हम देखते हैं कि ससारी मनुष्य का जीवन कितना व्यस्त, व्याकुल एव अशात रहता है? अपनी सासारिक प्रवृत्तियो मे उलझा रहने के कारण वह सोच ही नही पाता कि ये प्रवृत्तियाँ कितनी अनात्मीय, परकीय, अवास्तविक तथा अशाश्वत हैं। उसका दिवस दैनिक व्यापार और गार्हस्थिक कार्यों मे, तथा रात्रि निद्रा लेने मे व्यतीत हो जाती है। आत्म-कल्याण के लिये समय नही मिलता। इसका कारण यही है कि उसमे आत्म-बोध का अभाव है। बिना आत्म-बोध अथवा आत्म-दृष्टि के इन अनात्मीय प्रवृत्तियो और क्रिया-कलापो को वह किस तरह हेय और परकीय मान सकता है? और किस प्रकार इनसे विरत होने का प्रयत्न कर सकता है? यही विचार कर आत्म-प्रबुद्ध महापुरुष अत्यन्त सहृदयता के साथ अज्ञानी मनुष्य के मन को प्रबुद्ध करते है

"भोर भयो उठ जागो मनुवा, साहब नाम संभारो!
सूता सूता रैन विहानी, अब तुम नींद निवारो,
मगलकारी अमृत वेला, थिरचित काज सुधारो।
खिन भर जो तू याद करैगो, सुख निपजैगो सारो।
वेला बीत्या है, पछतावै, क्यू कर काज सुधारो?
घर व्यापारे दिवस गमायो, राते नींद बितायो।
इन वेला निधि चारित आदर, ज्ञानानन्द रमायो।
भोर भयो उठ जागो मनुवा" !"

मन को कितना सुन्दर उद्बोधन दिया है ? कहा है—"हे मन ! प्रभात की किरणे फूट पडी हैं, उठो, और परमात्मा का स्मरण करो—विशुद्ध आत्म-स्वरूप का चितन करो !"

"सोते-सोते तो सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत हो गई, अब इस मगल कारिणी अमृतमयी वेला मे स्थिर-चित्त होकर आत्म-हित साधन करो ।"

"इस समय अगर तू क्षण भर के लिये भी परमात्मा रूप आत्म-स्वरूप का चिंतन कर लेगा तो तुझे वास्तविक और अनुपम सुख की उपलब्धि होगी। समय बीत जाने पर तो पश्चात्ताप ही हाथ आएगा, तब फिर किस प्रकार आत्म-हित साधन किया जा सकेगा ?"

"तूने दिन तो सासारिक व्यापार और घर के क्रिया-कलापो मे बिताया तथा रात नीद मे गँवादी। समय का तनिक भी सदुपयोग नही किया। अब तो इस मांगलिक वेला मे चारित्र निधि एव ज्ञानानन्दमय आत्म-स्वरूप का चिंतन करो। उठो ! प्रात काल हो गया।"

वास्तव मे प्रभात के प्रेरणाप्रद काल मे ही धर्म जागरण किया जा सकता है। उस समय साधक को एकाग्रचित्त होकर आचार, क्रिया, दया और स्वभाव जो कि धर्म-जागरण के चार प्रकार हैं, उन पर चिंतन और मनन करना चाहिये। अपने आचरण, कर्म और दया-भाव को दोषरहित करके ही साधक विभाव दशा से स्वभाव दशा मे आ सकता है।

(१) **अधर्म जागरण**—अधर्म जागरण वे मनुष्य करते हैं, जिन्हे आत्म-बोध नही होता, अपनी आत्म-शक्ति पर विश्वास नही होता तथा ससार के क्षण-भगुर पदार्थों पर से जिनकी आसक्ति कम नही होती। ऐसे पुरुष दिन भर तो धन कमाने की फिक्र मे रहते ही हैं रात्रि को भी नाना प्रकार के सकल्प-विकल्पो मे पडे रहते हैं। धन-लिप्सा के कारण न उन्हे अन्याय से भय लगता है और न अनीति से। सग्रह वृत्ति की लालसा उन्हे अवगुणो की खान बना देती है। अगर दो पैसे भी वे लोक-लज्जा के कारण किसी को दान देते है तो उससे क्या लाभ उठाया जाय, इसी की चिन्ता मे पड जाते हैं।

किन्तु महापुरुषो के लक्षण इसके विपरीत होते हैं। वे देना जानते हैं लेना नही। कहा जाता है कि राम जब लका मे गए तो एक स्वर्ण-शिला की सुन्दरता और काति को देखकर उनका मन उसे उठाकर अयोध्या मे ले आने का हो गया।

किन्तु वृद्ध जाम्ववन्त ने उनकी इच्छा को ताड लिया और इस डर से कि

कही राम के निष्कलक जीवन मे दिए हुए को पुन ले लेने का कलक न लग जाय, वे राम को सावधान करने के लिये बोले :—

"शिवकण्ठ सदा न कलक मयक रु,
　　खीर से साजल समुद्र मै पेख्यो।
असुरेश गुरु दोउ चक्षु उजाशन,
　　वो भगवान् को आसन देख्यो।
और तो छिद्र अनेक विलोक्यो,
　　मै विधि के मुख पच्च विशेख्यो।
प्रतिभाल कहै सुन राम नरेश मै,
　　देकर पीछो लेत न देख्यो।

अर्थात्—मैंने शिवजी के कठ और चन्द्रमा को निष्कलक देखा है तथा समुद्र के जल को क्षीर-सागर के समान निर्मल और मधुर देखा है। मैंने शुक्राचार्य के दोनो नेत्रो को ज्योतिर्मय देखा। और तो अनेक छिद्र देखे, पर ब्रह्मा के पाँच मुँह भी देखे है। किन्तु महाराजा राम ! किसी को देकर के पुन लेते हुए नही देखा।

महाज्ञानी जाम्बवन्त का कथन चातुर्य से परिपूर्ण था। उन्होने सिद्ध कर दिया कि मेरी उम्र और अनुभव ससार को चमत्कृत करने वाली इन समस्त घटनाओ से भी पुराना है। मेरी आँखो के सामने ही यह सब घटा है और मैंने सभी कुछ देखा है किन्तु आज तक भी किसी को दिया हुआ दान पुन: लेते हुए नही देखा।

जाम्बवन्त का कथन सुनकर रामचन्द्रजी सतर्क हो गए तथा विभीषण को दी हुई लका मे से स्वर्ण शिला ले आने की अपनी निकृष्ट इच्छा का उन्होने परित्याग कर दिया।

कहने का अभिप्राय यही है कि महापुरुष प्रथम तो अधर्म के मार्ग पर कदम रखते ही नही है और कदाचित भूल हो जाने के कारण मन उस ओर चला जाय तो सकेत मात्र से ही सावधान हो जाते हैं। भव्य पुरुषो के यही लक्षण हैं।

हाँ, तो हमारा विषय अधर्म जागरण पर चल रहा है। अधर्म जागरण जगाने वाले अज्ञानी मनुष्य सकेत मे तो क्या, बार-बार समझाने पर भी सावधान नही होते। वह जानते हुए भी कि प्रत्येक जन्मे हुए को मरना है, कुटुम्ब और परिवार के व्यक्तियो मे उनकी प्रगाढ ममता कम नही होती। यह समझते हुए भी कि ससार मे समस्त पदार्थ नष्ट हो जाने वाले है, अथवा

हमारी हटलीला ममाप्त होते ही स्वय छूट जाने वाले हैं, उन पर से आसक्ति नही हटती। परिणाम यह होता है कि उनका समस्त जीवन ससार के झमेलो मे ही बीत जाता है और मिला हुआ मानव जन्म निरर्थक हो जाता है। इसलिये पतन की ओर ले जाने वाले अधर्म जागरण से मनुष्य को बचना चाहिये तथा धर्म जागरण जगाने का प्रयत्न करना चाहिये।

(३) **सुदक्खु जागरण** ऐसा जागरण सुश्रावक करते हैं। यद्यपि वे अपने समस्त सामारिक कर्त्तव्यो को पूरा करते हैं, किन्तु उदासीन भाव रखते हैं। द्रव्योपार्जन और उसका उपभोग भी उन्हे करना पडता है पर उसमे गृद्धता नही होती। जागरण के समय आत्म-चिंतन करते समय वे अपने मन को उद्‌बोधन देते हैं :—

केती तेरी जान, किता तेरा जीवना ?
जैसा स्वप्न विलास तृषा जल पीवना।
ऐसे सुख के काज अकाज कमावना, पण हा बाजिन्द।
बार-बार जमद्वार मार बहु खावना।
नहि है तेरा कोय, नहीं तू कोय का।
स्वारथ का संसार बना दिन दोय का।
मेरी-मेरी मान फिरत अभिमान मे, पण हाँ बाजिन्द।
इतराते नर मूढ एहि अज्ञान मे।

कवि बाजिन्द का कथन यथार्थ है। क्षण-भगुर जीवन के लिये अनीति-पूर्वक धन का उपार्जन करने पर पुन पुन यम-द्वार पर जाना ही पडेगा। और वहाँ मिलने वाले असह्य कष्टो को जीव अकेला ही भोगेगा। पिता, पुत्र, पत्नी और अन्य नातेदार, जिनके कारण अनेकानेक पाप प्राणी को करने पडते हैं, कोई भी उस दु ख मे हिस्सा नही बटाएँगे। अन्य लोक की तो बात ही क्या है, वे तो इस लोक मे भी साथ नही देते। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है —

किसी महात्मा ने एक युवक को समझाया—'केवल परमात्मा ही अपना है, दुनिया मे और कोई किसी का नही। इसलिये माता-पिता, पत्नी और बच्चो का पालन-पोषण कर्त्तव्य समझकर करो। मोहवश उनमे आसक्ति रखना ठीक नही।"

युवक बोला—"परन्तु भगवन् ! मेरे माता-पिता मुझे इतना स्नेह करते हैं कि एक दिन भी घर न जाऊं तो उनकी भूख-प्यास उड जाती है, नीद हराम हो जाती है। और मेरी पत्नी तो मुझसे इतना स्नेह करती है कि वह मेरे बगैर जिन्दा ही नही रह सकती।"

महात्मा युवक की बात सुनकर मुस्कराये और उसे परीक्षा करने के लिये कहा। परीक्षा की युक्ति भी उन्होने बतादी।

युवक घर गया और प्राणवायु को मस्तक मे चढाकर निश्चेष्ट होकर पड गया। घर वाले उसे मृतक समझ कर रोने-धोने लगे। तथा वाहर के भी अनेक व्यक्ति वहाँ जमा हो गए।

उसी समय महात्माजी वहाँ आ पहुचे। उन्होने कहा—मैं इसे जीवित कर दूँगा एक वर्तन मे पानी लाओ।

सुनकर माता-पिता महात्माजी के पैरो पर गिर पडे। लोग दौडकर पानी लाए। महात्माजी ने पानी का वर्तन युवक के शरीर पर कुछ मन्त्र पढते हुए घुमाया और कहा—"अव इस पानी को कोई पीले। पीने वाला मर जाएगा और युवक जीवित हो जाएगा।"

महात्मा जी की बात सुनकर सब एक दूसरे की ओर टुकुर-टुकुर देखने लगे। मरता कौन ? मुहल्ले पडोस के लोग धीरे-धीरे खिसक गए और माता-पिता-पत्नी आदि ने भी नाना प्रकार के बहाने वनाकर जल पीने से इन्कार कर दिया।"

यह देखकर महात्माजी ने कहा तो यह पानी मैं ही पी लूँ क्या ?

इससे अच्छा और क्या होता ? सब एक स्वर से वोले—"आप धन्य हैं महाराज ! साधु-जनो का तो जीवन ही परोपकार के लिये होता है। आप मुक्तात्मा है। जीवन-मरण आपके लिये समान है। कृपया आप ही यह जल पी लीजिये।"

परिवार वालो की यह लीला देखते ही युवक ने प्राणायाम समाप्त कर दिया और उठकर वैठ गया। बोला—"भगवन् ! आपने जल पिये बिना ही मुझे जीवन दान दे दिया है। इसे नीचे रख दीजिये। इस प्रबुद्ध-जीवन को पाकर मैं धन्य हो गया।

तो सुदक्खु जागरण करने वाले का जीवन इसी प्रकार का प्रबुद्ध-जीवन होता है वे जल मे कमलवत् संसार मे रहकर भी उससे अलग रहते है, सासारिक कार्यों को करते हुए भी आत्म-स्वरूप को नही भूलते। उनका लक्ष्य भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त करना नही, वरन् कर्मों का क्षय करके अनन्त सुख तथा अनन्त शाति रूपी ऐश्वर्य प्राप्त करना होता है। उनके हृदय मे प्रतिपल यह कामना रहती है।

परिग्रह समता तजि करी, पंच महाव्रत धार।
अन्त समय आलोयणा, करूँ संथारो सार।

अर्थात्—किसी भी प्रकार के परिग्रह और ससार के नातेदारो से अपनी मोह-ममता हटाकर पचमहाव्रत धारण कर निर्ग्रन्थ मुनि बनू और अन्तिम समय मे अपने समस्त पापो की आलोचना करके समाधि-मरण प्राप्त करू ।

ऐसे भव्य प्राणी ही पिछली रात्रि मे धर्म-जागरण' करते हैं तथा किसी कारणवश न करने पर गहरा पश्चात्ताप करते हुए विचार करते हैं :—

पाछली रात जागरणा हुई नहीं,
निद्रा पापणी आय हो, सुज्ञानी ।
धर्म न ध्यान मोसू सजियो नहीं,
दुख पावे मन माय हो, सुज्ञानी ।

धर्म-जागरण करने मे बाधा डालने वाली सबसे बडी शक्ति निद्रा है । निद्रा के वशीभूत हुआ प्राणी जीवन की अनेकानेक फल-प्रद घडियो को व्यर्थ गँवा देता है । इसलिये मुनि मिश्रीमलजी, इसे मीठी झिडकी देते हुए कहते हैं —

पधार्या कीकर निद्रा बाई ? थे आया कठा सूं चलाई ?
हिंगलू वरणी हुई रे आँखडल्या, माथो दियो टिकाई,
लोग सारा भूल्या मस्ताई, छाया तुझ पड़ताई ।
विणज, व्योपार, लेखा, रमत, मे आप पधारो नाहीं,
धर्म-ध्यान व्याख्यान श्रवण मे, दो क्यो आसन जमाई ?
नहिं जपवादो, नहिं तपवा दो, आडा फिर जाओ आई,
'मिश्री' मुनि बिन मौके, 'लाडी' प्यारा लागो नाही ।

कहने का अभिप्राय यही है कि धर्म-जागरण करने की भावना रखने वाले साधक को सर्वप्रथम अति-निद्रा का परित्याग कर देना चाहिये तथा पिछली रात्रि के शात और सतोगुण-युक्त काल मे, बाह्य जगत से मन को मोडकर आतरिक अथवा आध्यात्मिक जगत मे प्रवेश करना चाहिये । तभी साधक आत्म-स्वरूप की पहचान कर सकेगा तथा उसमे छिपी हुई दिव्य शक्तियो को विकसित करके सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी मोक्ष-मार्ग पर चल सकेगा । कबीर का कथन भी है —

सोता साध जगाइये, करै नाम का जाप ।
यह तीनो सोते भले, साकत, सिह औ साँप ।।

अर्थात्—दुराचारी व्यक्ति तथा सिह और सर्प आदि खूनी जानवर जिनके जागते ही प्राणियो की जान सकट मे पड जाती है, सोये रहे तो अच्छा, किन्तु साधक को जागना अनिवार्य है, वह परमात्मरूप आत्मा का चिंतन करता है ।

(१०) देवगति के बंध होने मे दसवाँ कारण होता है, संत मुनिराज को विहार करते समय पहुचाने के लिये न जाने पर पश्चात्ताप का होना। अपने गाँव या शहर मे साधु-साध्वी के आगमन पर उन्हे जितनी दूर तक सम्भव हो लेने जाने और उनके पुनः लौटने पर कुछ दूर तक पहुँचाने के लिये जाने से अनेकानेक कर्मों की निर्जरा होती है।

हमारी भारतीय सस्कृति मे तो अतिथि-सत्कार को बडा भारी महत्व दिया गया है तथा अतिथि को देव-स्वरूप माना गया है। कहते भी हैं :—

"अतिथि देवो भव।"

एक उदाहरण के द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाती है। भूदेव महोपाध्याय कट्टर ब्राह्मण थे। एक दिन वे घर से भ्रमणार्थ निकले। मार्ग मे उन्हे अपने परिचित मौलवी साहब मिल गए। भूदेव मौलवीजी से बात करते हुए अपने घर तक आ गए।

मौलवी साहब प्यासे थे अत' भूदेव का पुत्र उनके लिये जल का गिलास लाया। पानी पीने के पश्चात् मौलवी साहब ने गिलास बच्चे को देना चाहा, किन्तु बच्चा झिझका कि मुसलमान फकीर का झूठा गिलास मैं कैसे स्पर्श करूँ। फिर उसी क्षण भूदेव का सकेत पाकर उसने गिलास ले लिया।

मौलवी साहब के जाने के पश्चात् भूदेव ने पुत्र को समझाया और कहा—

'बेटा! हिन्दू धर्म के नाते तुम्हे झूठा गिलास लेने मे संकोच हुआ होगा, किन्तु याद रखो, घर पर आए हुए अतिथि को साक्षात ब्रह्मा और विष्णु समझकर स्वागत करना चाहिये, चाहे वह किसी भी जाति अथवा धर्म का क्यो न हो। चाणक्यनीति कहती है—'**सर्वस्य अभ्यागतो गुरुः।**' अर्थात्—अतिथि सभी वर्णों का गुरु होता है।"

पिता की बात सुनकर पुत्र अत्यन्त शरमिन्दा हुआ और अपनी भूल पर पश्चात्ताप करने लगा।

हमारे धर्म ग्रन्थो मे भी अतिथि सत्कार के विषय मे बताया है :—

"**अतिथि पूजयेत् यस्तु स याति परमाम् गतिम्।**"

—जैन पंचतंत्र

अर्थात्—जो अतिथि का सत्कार करता है वह पुरुष श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है।

भील कन्या शबरी ने तो अतिथि राम को झूठे बेर खिलाकर भी अपने जीवन को सार्थक कर लिया था। राम के आने की उसे कितनी खुशी हुई थी यह उसी के शब्दो से जाना जा सकता है —

साडी झोपडी दे भाग आज खुल जानगे, राम आनगे।
जो मैं बना बिच आई नाम सुनके,
जो मैं खट्टे मिट्ठे बेर लाई चुनके,
बेर खादियाई राम मेरे रज्ज जानगे, राम आनगे।
मैनू नित्य नियम दा कोई बल नहीं,
मेरे बिच गुण वाली कोई गल नहीं,
दयावान् मैनूँ चरणां दे नाल लानगे, राम आनगे।

अर्थात्—आज राम के आने से मेरी झोपडी के भाग्य खुल जायेंगे। राम के आगमन की सूचना पाकर मैं मीठे-मीठे वेर लाई हूँ, जिन्हें खाते ही वे प्रसन्न हो जाएँगे। दुख की बात है कि न तो मेरे पास नित्य, नियम या ज्ञान-ध्यान की कोई शक्ति है और न ही कोई अन्य विशेषता है, किन्तु मुझे विश्वास है कि राम दयालु हैं अत अपने चरणो मे स्थान दे देंगे।

अतिथि सत्कार की कितनी सुन्दर भावना है! न तो शबरी के पास राम को खिलाने के लिये मेवे-मिष्टान्न ही थे और न दूध शरबत आदि मधुर पेय पदार्थ। सिर्फ जगली वेर थे और वे भी उसने चख-चख कर झूठे कर दिए थे। किन्तु रामचन्द्रजी ने उन्हे ही परम तृप्ति के साथ ग्रहण किये। इससे ज्ञात होता है कि अतिथि के सच्चे और हार्दिक स्वागत मे वह शक्ति है जो साधारण से साधारण वस्तु को भी अमृत तुल्य बना देती है।

साधु-साध्वी भी गृहस्थ के लिये अतिथि के समान हैं, बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि उनसे उत्तम एव श्रेष्ठ अतिथि और कौन हो सकते हैं? सामान्य अतिथि तो कुछ समय हँसी-खुशी मे व्यतीत करके चले जाते हैं, किन्तु सत मुनिराज अपने आतिथ्य के बदले मे आत्मोत्थान का मार्ग सुझाते है। तथा बताते हैं कि आत्मा को सच्चा सुख कैसे प्राप्त होता है? वे ही बताते हैं कि भोग किस प्रकार आत्मा को पतन की ओर ले जाता हैं तथा त्याग किस प्रकार आत्मा को परमात्मा बनाता है?

यही कारण है कि सतो के आगमन पर नर-नारियो का हृदय खुशी से नाच उठता है। उस खुशी की झलक एक बहन की भावनाओ मे आपको मिलेगी। वह कहती है :—

सखी री, मेरे जगे पुरबले भाग,
आज गुरु दरश दिखाय दियोरी!
सब जग त्यागी भये वैरागी,
सखी री, ज्यारो सुर सुन्दर सूं राग—आज।

घन ज्यूं बरसे, भव्य जन हरषे,
सखी री ज्यांसू कम्प रह्यो अघ बाघ—आज।
मधुर गिरा, मनमोहिनि मुद्रा,
सखीरी ज्यांरो सुयश रह्यो जग छाय—आज।

किन्तु यह खुशी स्थायी नही रहती, क्योकि साधु-साध्वी एक ही स्थान पर नही रहते। ग्राम-ग्राम और नगर-नगर मे विचरण करते हुए वे भूले-भटको के मार्ग-दर्शन कराते है, तथा धर्म का मर्म समझाते है। इसलिये उनके आगमन के बाद ही गमन की घडियाँ आते देर नही लगती और मन कह उठता है :—

आए सी गुरुवर प्यारे दरश दिखाके चल्ले।
वाणी मनोहर अपनी सब नूं सुना के चल्ले।
नारी, जमीन, जर दे, त्यागी हैं डेरे दरदे,
सच्चा उपदेश करदे जग नूं जगा के चल्ले।
हर पासे पिंडी शहरो टुर-टुर के जांदे पैरो,
सर्दी गर्मी के दुखदा ख्याल भुला के चल्ले।
साडी है किस्मत जागी, पाये गुरुवर त्यागी,
पाठ अहिंसा चन्दन सब नूं पढ़ा के चल्ले।

तो ऐसे परोपकारी और ससार के समस्त प्राणियो के हित-चिन्तक संतो के प्रस्थान करने पर किसका मन दुखी नही होता? सभी चाहते हैं कि हम अधिक से अधिक साथ रहकर कुछ और काल तक सत-दर्शन और उनके संग का लाभ उठा सके। इसी भावना को लेकर सद्गृहस्थ उनके विहार करन पर कम या अधिक, जितना सभव होता है उनके साथ चलने अथवा उन्हे पहुँचाने का प्रयत्न करता है। किन्तु अनिवार्य कार्य, दुर्बलता, रुग्णता आदि के कारण जो प्राणी ऐसे अवसर पर नही पहुँच पाता उसे भारी पश्चात्ताप होता है, और तीव्र पश्चात्ताप की भावना उनक देवगति का बध कराने मे कारण बनती है। कहा भी है :—

दसवे बोले हो भवियण साभलो, मुनिवर कीनो विहार हो, सुज्ञानी।
पोचावण री हो फेम रही नही, दिल बसिया अणगार हो, सुज्ञानी।

बधुओ, आप समझ गए होगे कि उत्कृष्ट भावनाए किस प्रकार श्रेष्ठ गति की प्राप्ति के कारण बनती है? वास्तव मे ही अशुद्ध भावनाओ के साथ की गई समस्त धार्मिक क्रियाएँ निरर्थक हो जाती है, और मन मे शुद्ध भावनाएँ रहने पर धार्मिक क्रियाएँ न करवाने पर भी केवल उनके लिये सच्चा पश्चात्ताप हो तो देवगति का वध हो जाता है।

—★—